धारणा और प्रगति।

सुधारणा और प्रगति.



अनुवादक,

श्री सूरजमल जैन.



प्रकाशक,

श्री राजपूताना हिन्दी साहित्य-सभा

झालरापाटन शहर.



प्रथमावृत्तिः
१०००



१९७९ विक्रम.



मूल्य
सजिल्द ३)
सादी २॥)

प्रिंटर—एम. एन कुलकर्णी कर्नाटक प्रेस, ४३४ ठाकुरद्वार, मुंबई
प्रकाशक—वाणिज्यभूषण लालचंद सेठी, सेक्रेटरी, राजपुताना हिन्दी
साहित्य सभा, झालरापाटन.

श्री.

विज्ञप्ति.

अपने देशी साहित्यकी अभिवृद्धि करनेके सदुद्देशसे पतितपावन श्रीमंत महाराजासाहब श्रीसयाजीराव गायकवाड सेनाखासखेल समशेर बहादुर, जी. सी. एस. आई., जी. सी. आई. ई. ने कृपा कर दो लाख रुपए की रकम सुरक्षित रखी है उसके ब्याजमेंसे "श्री सयाजी साहित्यमाळा" के रूपमें विविध विषय विभूषित ग्रन्थ तय्यार किए जाते हैं,

यह पुस्तक "सुधारणा व प्रगति" नामक मराठी पुस्तकका जो श्री सयाजी साहित्यमालाके १५ वें पुष्प रूपमे प्रकाशित हुई है हिन्दी अनुवादहै। जिसे हमारी आज्ञानुसार श्रीयुत सूरजमल जैनने किया है।

विद्याधिकारी,
भाषांतर शाखा,
बडोदा.
१०. ६. २२.

मा. नि. मेहता.
मा. मा.

नन्दनाथ केदारनाथ दीक्षित,
विद्याधिकारी,
बडोदा राज्य.

अनुवादकका वक्तव्य ।



हिन्दी साहित्य क्षेत्रमें एक ऐसा ग्रंथ अवतीर्ण हो रहाहै जो विचारकों और विद्वानों के मनन करने योग्य है । यों तो आज कल हिन्दीमें अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं पर उनमें ऐसे ग्रंथों की सख्या बहुत ही कम है जो अपना अस्तित्व और प्रभाव स्थायी रखने में समर्थ हों । मेरी समझसे यह ग्रन्थ अल्पतम सख्यावाले ग्रन्थोंमेंसे एक होगा । यद्यपि यह ग्रन्थ अनुवादित है, परतु अपने गंभीर और शास्त्रीय विचारोंके कारण मुझे आशा है कि हिन्दी साहित्यमें इसका स्थान और आदर उच्च प्रतिका ही होगा । इसके रचयिताने जिन विचारोंको अपनी प्रतिभा शाली बुद्धि द्वारा इसमें सकलित किया है, उनपर आज बहुत कुछ ऊहापोह होनेकी आवश्यकता है । क्योंकि जिस सुधार और उन्नतिके लिये आज संसारभरमें आवाज उठ रही है, मनुष्यसमाज जिसके लिये दौड लगा रही है और जिस पर सुधारकों, समाजसेवियों, देशभक्तों, धर्म-प्रचारकोंमें वादानुवाद और तू तू मैं मैं चल रही हैं, उसी विषयका इस ग्रन्थमें शास्त्रीय रीतिसे विशद ववेचन किया गया है । अतएव जो महाशय देश, धर्म समाज, जाति आदिकी उन्नतिके लिये प्रयत्न कर रहे हैं, अथवा विचार कर रहे हों वे यदि सबसे पहले इस ग्रन्थको पढकर अपनी दिशा निश्चित करेंगे तो मेरी समझसे उन्हें अपने कार्य्यमें बहुत कुछ यश प्राप्त होगा ।

मूल ग्रन्थकार एक पाश्चात्य विद्वान् हैं । इनका विशेष परिचय 'विषय—परिचय' शीर्षक प्रारंभिक वक्तव्यमें आगे दिया गया है । मूल ग्रन्थका अनुवाद मराठीमें हुआ है । अनुवादक हैं श्रीयुक्त दाजी नागेश आपटे बी ए. एल. एल. बी. वकील । आप बडोदा निवासी हैं । मराठी अनुवादको बडोदा महाराजकी अनुकरणीय उदारतासे स्थापित श्रीसयाजीसाहित्यमालाने प्रकाशित किया है । मराठीके अनुवादक महाशयने आगेके 'विषय-परिचय'में बतलाया है कि उन्होंने मूल ग्रन्थके भावोंमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। केवल प्रकरणोंमें कुछ अधिकता कर दी है और कुछ उनके सकलनमें परिवर्तन कर दिया है । अधिकता जो की है वह भी मूल ग्रन्थके भावोंको अधिक स्पष्ट और पुष्ट

करनेके लिये ही की गई है। यद्यपि मराठी ग्रन्थकार महाशयने विषय-परिचय में लिखा है कि 'कोझीयर (मूल ग्रन्थकार) अपनी विचारसरणीको पूर्ण मानता है तो भी कितनेही स्थानोंपर मतभेद हो सकता है।' साथमे जिन जिन बातोंमे मतभेद हो सकता है उनमेंसे कुछ बातोंका नाम मात्र उल्लेख भी आपने किया है, परन्तु वह मतभेद क्या है? अनुवादक महाशयका उन मतभेदसे सम्बन्ध रखनेवाली बातोंपर क्या मत है इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। अच्छा होता यदि पृथक् रूपसे वह मतभेद दे दिया जाता। क्योंकि उससे पाठकोंको विचार-करनेकी कुछ और अधिक सामग्री प्राप्त हो जाती।

प्रस्तुत पुस्तक उक्त मराठी अनुवादका अनुवाद है। अनुवाद कैसा हुवा है यह कहनेका मुझे अधिकार नहीं। हाँ मै यह कह सकता हूँ कि ग्रंथका विषय जैसा कि पाठक स्वयंभी अनुभव करेंगे बहुत कठिन और गंभीर है। ऐसे कठिन विषयको प्रयत्न करने परभी मै अधिक सरल न कर सका। अत भाषामें कुछक-ठिन शब्दोंका प्रयोग होगया है। आशा है कि पाठकगण इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

मैं अपने लिये यह गौरवकी बात समझता हूँ कि मेरे द्वारा एक ऐसे ग्रंथका अनुवाद हुआ जो विचारकों और विद्वानोंके आदर के योग्य है। और इसके लिए मैं श्रीमान प गिरिधर शर्माजी नवरत्न झालरापाटनका कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थका अनुवाद करनेका मुझे परामर्श दिया। साथ ही मै श्री राजपूताना हिन्दी साहित्यसभा झालरापाटनका भी आभारी हूँ जो इस ग्रंथको प्रकाशित कर रही है।

मैं यहाँ यह बतला देना उचित समझता हूँ कि मराठी अनुवादकके समान मेरा भी इस ग्रंथके कुछ विचारोंसे बहुत थोडा मत भेद है और उस मत भेदको मै अपने इस वक्तव्यमे इसलिये प्रगट कर देना उचित समझता हूँ कि उस-से पाठकोंको विचार करनेमें कुछ सहायता प्राप्त होगी।

(१) बडी खुबि—युक्तियोंसे यह सिद्ध किया गया है कि सृष्टिका कारण कोई अवश्य है। जिसे कोई सृष्टि, कोई प्रकृति और कोई अज्ञात शक्ति मानते हैं। ग्रंथकार इसका ईश्वरके नामसे उल्लेख करता है। हम सृष्टि या प्रकृति और ईश्वर सबको मानते हैं पर इन्हें आदि कारण नहीं मानते। आदिकारणसे ग्रंथ-कारका यह प्रयोजन है कि सृष्टिके आरम्भमें कोई शक्ति थी जिसकी इच्छाके कारण सृष्टिका निर्माण हुआ। हमारा मत है कि तर्ककी दृष्टिसे यह मानना ठीक

नहीं। क्योंकि जब कोई वस्तु विनाकारणके उत्पन्न नहीं हो सकती यह सिद्धान्त मान लेते हो तब आदिकारणको स्वतः उत्पन्न या अनादि मानना अपने सिद्धान्त और नियमका घात करना है। संसारमें सबसे बड़ी, सबसे अनूठी सबसे अधिक शक्तिवाली (जिसे ग्रंथकार ' ईश्वर 'के नामसे उल्लेख करता है) वस्तु अनादि हो सकती है तब उससे कम शक्ति रखनेवाली वस्तुओंको ही विनाकारणके उत्पन्न हुए माननेमें क्या हानि होती है ? जिस रास्तेसे हाथी, मोटर, रेल, ट्राम आदि जा सकते हों उसपरसे एक दुबला पतला मनुष्य नहीं जा सकेगा उसके लिये वह रास्ता सकड़ा या छोटा पड़ेगा यह माना नहीं जा सकता।

(२) उक्त युक्तिमें ईश्वरको कारण माना था दूसरी युक्तिद्वारा यह सिद्ध किया गया है कि "कर्तृकारण, उपादान कारण और निमित्त कारण इन तीन कारणोंमेंसे ईश्वर सृष्टिका कर्तृकारण है। उपादान कारण तो वह इस लिये नहीं है कि सृष्टि जड़ और चैतन्यरूप दो भेदोंसे युक्त है। यदि ईश्वर उपादान कारण होता तो सम्पूर्ण सृष्टि चैतन्यही होती क्योंकि ईश्वर स्वयं चेतन्य है और उपादान कारण जैसा होता है वैसाही कार्य होता है। अतः ईश्वर उपादान कारण नहीं। और न निमित्तकारणही है। क्योंकि निमित्तकारण आवश्यक नहीं होता। घड़े बनानेके लिये मिट्टीकी आवश्यकता होती है और मिट्टी लानेके लिये गाड़ीकी। पर यदि गाड़ी न हो तो भी काम चल सकता है। दूसरे साधनोंसे भी मिट्टी इकट्ठी की जा सकती है। अतः ऐसा अनावश्यक कारण भी ईश्वर नहीं हो सकता। तब क्या हो सकता है ? हो सकता है, कर्तृकारण। क्योंकि उसने अपनी इच्छामात्रसे सृष्टिकी रचना की है।" ईश्वरके सम्बन्धमें यह युक्ति भी अधिक महत्त्व नहीं रखती। पहले तो जब आदिकारणही ईश्वर नहीं माना जा सकता जैसा कि ऊपर सिद्धकर चुके हैं तो फिर वह कौनसा कारण है इसके ऊहापोहकी आवश्यकताही नहीं रहती। दूसरे कर्तृकारण कोई कारण नहीं है। इसकी गिन्ती निमित्तकारणमें ही हो सकती है। जिस प्रकार घड़ा बनानेवाला कुम्हार उसकी इच्छाके सहितही निमित्त कारण माना जा सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी सृष्टि बनानेकी इच्छाके सहित सृष्टिका निमित्त कारण माना जाना चाहिए। और ईश्वरके निमित्त कारण माननेसे बाधा आती है जिसे ग्रंथकार मान चुके हैं और जिसके भयसे उन्हें या उनके समान अन्य विद्वानोंको कर्तृकारण नामक एक तीसरे कारणकी सृष्टि करना पड़ी है। वास्तवमें कारण दोही हैं। उपादान और निमित्त। ग्रंथकारने यह सिद्ध कर दिया है कि

ईश्वर इन दोनोंमेंसे एक भी प्रकारका कारण नहीं हो सकता। इसके सम्बन्धमें उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं —

यदि उसे निमित्तकारण मानलेंगे तो उसकी अपरिहार्य अवश्यकता न रहेगी। और उसके बिना भी काम चल सकेगा। घड़ा बनानेके लिये एकाध गाड़ीमें मिट्टी लानेसे उस गाड़ीकी गिन्ती निमित्त कारणमें हो सकती है परन्तु गाड़ी नहीं हो तो भी काम चल सकता है। अतएव परमेश्वर इस प्रकारका कारण नहीं होसकता। यदि उपादान मानें तो मिट्टीके स्वभावानुरूपही घड़ा तैयार होता है उसी प्रकार परमेश्वरके गुण समान ही सम्पूर्ण जगत् चैतन्य मय होना चाहिए। क्यों कि उपादान कारण जिस प्रकारका होता है उसी प्रकारकी वस्तु उससे बनती है। (पृ १६०–१६१)

जब इन दोनों कारणोंसे अर्थ नहीं सजा तब ग्रंथकार और उनसे सहमत होनेवालोंने कर्तृकारणकी सृष्टि की। कर्तृकारणकी आवश्यकताके सम्बन्धमें आपका मत है कि 'जगतमें जड़ और चैतन्य दोनों प्रकारके पदार्थ होनेसे तथा उनके लिये किसी कर्ता विशेषकी आवश्यकता होनेसे कर्तृकारणकी जरूरत होती है। इसप्रकार कारण ढूंढते ढूंढते अंतिम कारणतक पहुंचना पड़ता है। और सबसे प्राचीन, सबके आदिस्वरूप एक दूसरे कारणकी अपेक्षा न रखनेवाले कारणकी चिकित्सा करनेमें दूसरे एकाध नवीन कारणका मानना ठीक नहीं हो सकता। अतएव अंतका कर्तृकारण परमेश्वर ही होना चाहिये, यह सिद्धान्त तर्कशास्त्रके अयुक्तसिद्धिके मार्गसे निकलता है।" (१६१) इस युक्तिमें जो यह गृहीत किया गया है कि जगत्के पदार्थोंके लिये किसी कर्ताकी आवश्यकता है सो इस प्रकारका सिद्धान्त गृहीत करना ही भूल है। क्योंकि घास, वनवेलि, जीवजन्तु आदि बिना किसी कर्ताके उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। अतएव यह कोई नियम नहीं कि जगतकी अखिल वस्तुओंके लिये कर्ताकी आवश्यकताही हो। और यदि यही बात है तो फिर जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कर्ताके कर्ता की भी आवश्यकता मानना पड़ेगी और न्यायशास्त्रके अनुसार अनवस्थादोषका सामना भी करना होगा। क्योंकि नियम सबके लिये सामान होता है। वह यह नहीं देखता कि मेरा शासन किस पर चलाया जाय। चाहे ईश्वर हो चाहे तुच्छ कीट। सृष्टिका नियम सबके लिये समान है और सृष्टिकी स्थिरताके लिये उसका समान होनाही आवश्यक है।

कर्तृकारणकी आवश्यकतामें बतलाया गया है कि कर्ताकी इच्छाके विना किसी कार्यको मूर्त स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता। उदाहरण दिये गये हैं कि सतान जो उत्पन्न होती है उसमे माता पिता यद्यपि कारणरूप हैं पर लड़के या लड़कीही क्यों होती है? उत्तर केवल निमित्त आदि कारण मानलेनेसे नहीं प्राप्त हो सकता। इसके लिये मातापिताकी तीव्र इच्छारूप कर्तृकारण मानना पड़ेगा। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है कि एक सुतार लकड़ीके टुकड़ेसे पेटी बनाता है। यद्यपि लकड़ी, लोहेके खीले आदिके द्वारा पेटी तो बन गयी, पर पेटीही क्यों बनी दूसरी वस्तु क्यों नहीं बनी इसका उत्तर क्या? । इसका उत्तर वही उसकी इच्छा जो कि वस्तु बनानेमें कर्तृकारणरूप है। लेखकने इस युक्ति-प्रणालीसे यह सिद्ध किया है कि वस्तु निर्माणमें इच्छाशक्ति भी एक कारण है। और जब कि छोटी छोटी वस्तुओंके लिये इच्छाशक्तिकी आवश्यकता होती है तब सृष्टि जैसे महत्कार्यके लिये ईश्वरकी विशाल इच्छाशक्तिको कारण माने न विना काम नहीं चल सकता। पर केवल यह भूलता है कि मनुष्य प्राणी इच्छा कुछ करता है और कार्य कुछ निष्पन्न होता है। लड़केके लिये तीव्र इच्छा रखनेवाले मातापिताके यहाँ लड़कियाँ पैदा होती है और कुर्सी बनानेकी इच्छा रखनेवालेको लाचार होकर (परिस्थिति, दबाव, आवश्यकताके कारण) पेटी बनाना पड़ती है। इस प्रकारके उदाहरण एक दो नही असख्य है। फिर मानवीय कृतियोंके उदाहरणसे अखिल सृष्टिके लिये नियम कैसे बनाये जा सकते है? इसके सिवाय एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि 'जब कि आप कहते है कि अमुककार्य होनेमें उसके कर्ताकी इच्छा प्रधान है। तो हम पूछते है कि उस कर्तामें वही कार्य करनेकी क्यों हुई? दूसरा कार्य करनेकी क्यों नही हुई? इसका क्या कारण। उदाहरणार्थ एक सुतारने पेटी बनाई। आप कहते है कि सुतारके पास जो सामिग्री थी उससे तो चारपाई भी बन सकती थी फिर पेटीरूप कार्य ही क्यों हुआ? इसका आपही उत्तर देते हैं कि उसमे कर्ताकी—सुतारकी—इच्छा प्रधान है। पर हम यह पूछते है कि उसमें पेटी बनाने हीकी इच्छा क्यो हुई? चारपाई कुर्सी या अन्य वस्तु जो उस सामिग्रीसे बन सकती थीं, बनानेकी इच्छा उसे क्यों नहीं हुई? यदि कहा जाय कि इच्छा करनेमें वह स्वाधीन है तो फिर 'कारणके विना कार्य नहीं होता' यह सिद्धान्त असत्य ठहरता है। अत इच्छारूपी कार्यके लिये कोई कारण अवश्य होना ही चाहिए। और जब इच्छा होनेमें भी कोई कारण है तो फिर इच्छाकोही वस्तु निर्माणका कर्तृकारण न मान कर उस कार-

णको मानना चाहिए जिससे इच्छा उत्पन्न हुई है। पर बात यहीं नहीं रुकती उस इच्छा उत्पन्न करनेवाले कारणका भी कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार कारणकी परंपरा कभी नहीं टूटेगी और कर्तृकारणका गोरख धंधा कभी न सुलझ सकेगा। अतएव परमेश्वरको सृष्टिका कर्तृकारण मानना उचित नहीं है।

(२) ग्रंथकारने परमेश्वरको सर्वव्यापी और प्राणियोंको अथवा जीवात्माको उसका अंश माना है। और इस सिद्धान्तको वह दर्शनशास्त्रका अन्तिम सिद्धान्त समझता है। पर हमारी सम्मतिसे परमेश्वर न तो सर्वव्यापी है और न जीवात्मा उसका अंश है। परमेश्वरके सर्वव्यापी होनेसे सृष्टिकी क्रिया अथवा गतिमें बाधा आवेगी। और उसे एक रूपमें मानना होगी। परन्तु प्रत्यक्षमें यह देखा जाता है कि सृष्टिकी गति अनेक रूपसे और स्वतंत्रतापूर्वक होती है। एक तत्त्व एक ओर जाता है तो दूसरा तत्त्व दूसरी ओर और तीसरा तीसरी ओरका रास्ता नापता है। ऐसी अवस्थामें इन सब तत्त्वोंमें किसी एक पदार्थको व्याप्त मानना समझनीय नहीं दिखलाई पड़ता। इसी तरह परमात्माका जीवात्माको अंश मानना भी सयुक्तिक नहीं जँचता। यदि जीवात्मा परमात्माका अंश है तो उसे कर्मविक्रमोंके झगड़े और बन्धनोंसे बद्ध नहीं होना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि पदार्थका एक अंश एक रूपमें हो और दूसरा दूसरे रूपमें। एक एक पदार्थ एकही रूपमें रहसकेगा। इसके सिवाय ग्रंथकारके सिद्धान्तसे भी यह बात विरोधी दिखलायी पड़ती है। ग्रंथकारने सुधारणाका लक्षण पूर्ण वैय्यक्तिक—का-स्वातंत्र्य माना है। जब वैय्यक्तिक—स्वातंत्र्यही पूर्णतरकी सुधारणा है तब परमात्माके रूपमें जीवात्मा रूप अंशका बंधनोंको तोड़कर समरस होजाना—वैय्यक्तिक स्वातंत्र्य नहीं कहलाया जासकता। यह तो वैय्यक्तिक—नाश है। वैयक्तिक—स्वातंत्र्य तो तभी होगा जबप्रत्येक जीवात्मा अपनी वैय्यक्तिकस्वाधीनता रखे हुए परमात्मा जैसे स्वरूपवाला हो सकेगी। अतएव जीवात्माकी परमात्माका अंशमानना ग्रंथकारके सिद्धान्तसे विरुद्ध है।

इस विवेचनसे यह तो सिद्ध हो गया कि हमारे मतसे ईश्वर है, सृष्टि है जीवात्मा है, लोक है और परलोक है परन्तु ईश्वर और सृष्टि दोनों अनादि हैं। परमात्मा इनका कर्ता नहीं है और जीवात्मा परमात्मामें स्वरूपैक्य है, परंतु जीवात्मा परमात्माका अंश नहीं है और न परमात्मा सर्वव्यापी है। और ऐसा माननेसे ग्रंथकारमें सुधारणा और प्रगति सम्बन्धी लक्षण, प्रमाण, साध्य, मार्ग और सुधारणाके नियामक तत्त्व तथा इन सबकी दृष्टिसे समाज-रचना, जनता-धर्म-

धर्म-साधन और राजकीय अनुशासनका जो वर्णन किया है उसमें कोई बाधा नहीं आती प्रत्युत बलही प्राप्त होता है। क्योंकि परमात्माको सृष्टिकर्ता न मान-नेसे ग्रंथकारने जो स्थान स्थान पर भौतिक शास्त्रवादियोंके इन प्रश्नोंका कि सृष्टिके चमत्कार विज्ञानद्वारा हल होते जाते हैं और ज्यों ज्यों ये हल होते जाते हैं त्यों त्यों किसी अदृश्यशक्तिको उन सृष्टपदार्थोंका कर्ता मानने रूप विश्वास भीकम होता जाता है, उत्तर देनेका जो प्रयत्न किया है उस प्रयत्नकी आव-श्यकताही नहीं रहेगी और सब सृष्ट पदार्थोंका अनादि निधनत्व तथा प्राकृ-तिक कर्तृत्व माननेसे काम चल जायगा। और फिर धर्मके नष्ट हो जानेका भी भय नहीं रहेगा। क्योंकि आज तो यह बात है कि यदि कालान्तरमें सम्पूर्ण सृष्टिके रहस्यका उद्घाटन हो गया फिर आदिकारणके माननेकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और आदिकारणका अभाव नष्ट हो जानेपर ग्रंथकारके मतसे धर्मकी ऐसी कोई आवश्यकताही नहीं रहती। क्योंकि ग्रंथकार धर्मके उस आदि-कारणको पहचाननेका ही एक जरिया समझता है। पर हमारी दृष्टिसे धर्म उस परमेश्वरको पहिचाननेका साधन है जो जीवात्माका चरम लक्ष्य है। और भविष्यमें जिसके समान उसे होना है। अतएव आदिकारणके झगडेसे धर्मका पाया खोखला हो जाता है। तीसरे परमात्माका जीवात्माको अंश मान लेनेसे वैय्यक्तिक स्वातंत्र्यका घात होता है और उससे सुधारणाके लक्षणमें बाधा आती है। इन सब दृष्टिबिंदुओंसे हमे यही ठीक जँचता है, जो ऊपर दिखलाया जा चुका है।

इनके सिवाय अन्य मतभेद बहुत छोटे और बहुत कम महत्त्वके हैं उनका उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अन्तमें 'श्री सयाजी साहित्यमाला बडोदा' के सचालकोंका मैं आभारी हूं कि उन्होंने ग्रंथके अनुवाद करनेकी आज्ञा देनेकी उदारता प्रगट की है।

सूरजमल जैन,

(अनुवादक)

आवश्यक निवेदन ।



राजपूतानेकी इस एक मात्र हिन्दी साहित्य सभाको श्रीमान् झालावाड़नरेश की सरक्षतामें स्थापित हुये ६ वर्ष होगये । इसका प्रधान उद्देश्य है कि हिन्दीमें उच्च कोटिकी किन्तु आवश्यक पुस्तकें प्रकाशित कर स्वल्प मूल्यमें बेची जायं । इसी उद्देश्यको सामने रखकर अभीतक हमने जो पुस्तकें—प्रकाशित की हैं, उनकी प्रशंसा हम अपने मुंहसे नहीं करना चाहते। हिन्दी संसार स्वयम् उनकी उपयोगिता जानता है । अब कमी है तो सिर्फ इसके प्रचार की । सभा चाहती है कि इसको कमसे कम ५०० स्थाई ग्राहक मिल जावें । इसके लिये यह प्रयत्न भी कर रही है, और इसके इस प्रयत्नको राजपूताना निवासियोंको सफल बनाना चाहिये था, मगर शर्मकी बात है, अबतक इसे राजपूतानेके सिर्फ ४–५ स्थाई ग्राहक मिले हैं । अफसोस ! इस समय तक सभामें स्थाई ग्राहकोंकी संख्या ५० के लगभग है । इतने थोड़े स्थाई ग्राहकोंको लेकर हम कैसे आगे बढ़ सकते हैं, और कैसे "स्वल्प—साहित्य" का प्रचार कर सकते हैं ? अतएव हिन्दी रसिकोंसे हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे ॥) प्रवेश फीस भेजकर इसके स्थाई ग्राहक बन जावें । स्थाई ग्राहकोंको पौने मूल्यमें पुस्तकें दी जाती हैं । अवसर अच्छा है । आपका घर उत्तमोत्तम पुस्तकोंसे सुशोभित होगा, और आप उनसे ज्ञान संपादन करके सुखी होंगे । हमें हिंदी प्रेमियोंसे आशा और दृढ़ विश्वास है कि उनके निकट हमारा यह नम्रनिवेदन कदापि काननक्रन्दन नहीं होगा । सभाका पूरा "पता——" —— मिलता है, आज ही कार्ड लिखकर मगा लीजियेगा ।



विस्तृत अनुक्रमणिका.



प्रथम परिच्छेद—प्रमाण चिकित्सा।

प्रकरण पहला—इतिहास।

सुधारणाके तत्व जाननेके प्रमाण की आवश्यकता–प्रमाण शब्दका अर्थ–इतिहास प्रमाण–इतिहासका उदाहरण दृष्टिसे महत्व–गतकालका विहंगदृष्टिसे अवलोकन–इतिहासवादके दो पक्ष–पहिला वर्णनात्मक, दूसरा विवेचनात्मक–दोनोंमेंही ध्येयको चुननेकी सामर्थ्य नहीं है–ध्येय दो प्रकार के होते हैं, व्यक्तिके व समाजके–तत्कालीन परिस्थितिके ज्ञानकी आवश्यकता–क्या विवेचनात्मक पक्ष परिस्थिति का पृथक्करण करके ऐतिहासिक सिद्धान्त स्थापित करता है ?–नहीं परिस्थितिके विग्रहको वर्तमानकालका ज्ञान आवश्यक है–स्पेन्सरका उत्क्रान्तितत्व–इतिहासका मुख्य कार्य वर्तमानकालके सिद्धान्तोंके संबंधमें उदाहरण उपस्थित करना है।

प्रकरण दूसरा—आधिभौतिकशास्त्र।

आधिभौतिक प्रमाणपक्ष–आक्षेपकथन–पंचभौतिक सृष्टि परका स्वामित्व ही सुधारणा है—इस विचारपद्धतिका इतिहास—लार्ड बेकन—भूतोदयकी उपपत्ति—उत्क्रान्तिवाद—इस प्रमाणका परीक्षण—उससे मन, बुद्धिका खोज लगाने की अशक्यता—यह प्रमाण प्राणोंका उद्गम समझनेमें असमर्थ है—सर ओलिव्हर लाजका मत—ल्युडविग बुक्नेर— प्रकृतिके विषयमें एक नई कल्पना—न्युटकी उपपत्ति—इस विषय पर आर्यविचारपरंपरा—सृष्टिकी घटना—परमाणु—आरंभवाद—परिणामवाद—विवर्तवाद—समारोप।

प्रकरण तीसरा—अतिभौतिक प्रमाण।

भौतिक प्रमाणकी परिमित शक्ति—अतिभौतिकका उद्गम—मानसशास्त्र—उसका शरीरशास्त्रसे संबंध—प्राणिशास्त्रका उदय—मस्तिष्ककी रचना—मानसशास्त्रकी कमी—उससे मनके कर्तृत्वकी दिशा समझमें नहीं आती—मन और मस्तिष्कका कार्यकारणसंबंध नहीं है—इससे नवीन उपपत्तिकी आवश्यकता

प्रकरण दूसरा—जनताधर्म।

जगतके अत्यन्त फैलावका वर्गीकरण—धर्मशब्दका अर्थ—उसके भिन्न भिन्न विवेचकों द्वारा किये हुए लक्षण—इम्मानुएल कैंट, धर्म अर्थात् नीतिशास्त्र—फिक्टे, धर्मका विषय ज्ञान है—श्लायर मेकर, सृष्टिके आद्य तत्त्वपर अवलंबित रहना ही धर्म है—हेगेल, पूर्ण, स्वात्माको ही धर्म कहते हैं—ऑगस्ट कॅांट, धर्म अर्थात् समाजसेवा—फ़ॉयर बेक, स्वसुख को धर्म कहते हैं—धर्मके उक्त सब लक्षणोंके जड़में रही हुई आद्यतत्त्वकी कल्पना—उसका लक्षण—कॅांटकी मीमांसा—मानसशास्त्रका एक नियम—मनुष्य, अज्ञेय सृष्टचमत्कारोंका कर्तृत्व देवताकी कल्पनाको देता है—कॅांटके मत से इस नियममें भूल है—उसके मतानुसार धर्मकल्पनाकी उत्क्रान्ति—धार्मिक चतुष्पदी—कॅांटके मतका खंडन व उसके दोष—पहिला, भूमिका भ्रम; स्थूल और सूक्ष्मकी भिन्न भूमिका, दूसरा, जनतामें ईश्वरसम्बन्धी गुणोंका अभाव—तीसरा, जनता, कोई एकात्मक वस्तु नहीं है—प्रत्यक्ष प्रमाणवादकी अयथार्थता—श्रद्धासे मानी हुई अप्रत्यक्ष वस्तुओंकी कल्पनाके उदाहरण—आस्तिक पक्षमें परमेश्वरकी सिद्धि—कारणवाद—कर्तृवाद—स्वरूपवाद—इन वादोंकी पारस्परिक पोषकता—ईश्वर सम्बन्धी तत्त्वोंकी कल्पना—हॅनिनी—विष्णुपुराण।

प्रकरण तीसरा—धर्मसाधन।

धर्मसम्बन्धी तीन भिन्न भिन्न उपपत्तियाँ—भयवाद, मेक्समूलर—बुद्धिवाद, डाइवनिदस्—भावनावाद, टिलाक—उत्क्रांतिवाद—धर्मकल्पनाओंको दो तत्त्वोंका आधार रहता है—पहिला प्रतिबिंब तत्त्व, मनुष्यकी ईश्वरविषयक कल्पनाएँ तत्कालीन परिस्थितिकी निदर्शक होती हैं—प्रतिबिंब तत्त्वके तीन भाग देवोंकी संख्या, स्वरूप और उपास्य उपासक सम्बन्ध—उदाहरण—धर्मकल्पनाओंके आधारभूत दूसरे तत्त्व—समीकरण तत्त्व—उत्क्रांतिवाद और समीकरणका परस्पर संबंध—समीकरणके उदाहरण—तत्त्वज्ञान—खिस्तीधर्म हिंदुधर्म—वेद कालीन भौतिक अवस्था, अविनाशी वस्तुके कल्पनाकी आवश्यकता—तत्त्वज्ञानकी चार सीढ़ियाँ—सलोकता—समीपता, माध्वसम्प्रदाय—सरूपता, रामानुज—सायुज्यता,—शंकराचार्य—बुद्धधर्मका ऊपर से दिखलाई पड़नेवाला अपवादत्व—उसका निराकरण—हीनयान व महायान पंथ—धर्मके

कार्य—मानवी बुद्धिका समाधान—मानवीय मनोभावनाओंका समाधान—नैतिक नियमोंकी शाश्वता—धर्ममार्गकी ओर प्रवृत्ति—धर्मकार्यके सम्बंध में कुछ शंकाऐं और उनका उत्तर।

प्रकरण चौथा—राजकीय अनुशासन।

प्रास्ताविक—राजकारणका दूसरे शास्त्रोंसे सम्बन्ध—मनुष्यकी समाजप्रियता—समाजको राष्ट्रत्व प्राप्त होनेमें आवश्यक छह गुण—पहिला, लोकसंख्या—दूसरा, विशिष्ट भूमि—तीसरा उसमें बसनेवाले लोगोंका सामान्य हितमूलक ऐक्य—चौथा शासित और शास्तारूप भेद और उसके भिन्न भिन्न प्रकार—पाँचवाँ, राष्ट्रकी प्राणितता—छठवाँ, राष्ट्रका नैतिक शील—राजकीय अनुशासनकी कल्पनाका हिन्दुस्थानमें अवस्थान्तर—वेदकालीन राजाकी कल्पना बलसामर्थ्यपर अवलंबित थी—उदाहरण—स्मृतिकालमें उचित अनुशासनके प्रश्न और उसकी योजना—प्रजापालन ही सर्वश्रेष्ठ राजधर्म है—प्रजाको उस समय सार्वभौमिक अनुशासनमें अधिकार न रहनेका अनुमान—पाश्चात्य राजकीय कल्पनाका इतिहास—ग्रीस और रोमके प्रजासत्ताक राज्य—इसके बादका मध्ययुग—मेकिआव्हेलीकी कल्पना, अनियंत्रित राजसत्ता—जीनबोदींकी उपपत्ति, अभिजन सत्ता—ग्रोशिअस—राजकारण, प्रजाहितके अनुरोधसे करनेकी कल्पना—होब्स, राजकारण सम्बंधी प्रजाका कबूल और बिना शर्तके करारकी कल्पना—लोक,—शर्तबंद करारकी उपपत्ति—रूसो, राजाको प्रजाका नोकर माननेकी कल्पना—मेनका लक्षण—निष्कर्ष।

अभिजन सत्ताका स्वरूप व सपरदृष्टिसे उसका स्थायी उद्देश—व्यक्ति और संघकी नैतिक कल्पना सम्बंधी भेद—अभिजनसत्ताका समाज पर नैतिक और सामाजिक स्थायी परिणाम—पहिला, विषमताके तत्त्वका प्रसार—दूसरा, सार्वजनिक अज्ञान—तीसरा, आलस्यकी वृद्धि—इसकी लोकसत्तासे तुलना।

लोकसत्ता—लोकसत्ताके सम्बन्धमें एक सूचना—इसके पूर्वकालीन इतिहासमें मिलनेवाले क्रम निर्दोष नहीं थे—उदाहरण—ग्रीसकी पद्धति—उसका दोष, अल्प लोकसंख्या—रोमकी पद्धति—उसका दोष, गुलामीकी संस्था—फ्रान्सकी पद्धति उसका दोष, अधिकारोंका केन्द्रीकरण—लोकसत्ता पर राजकीय आक्षेप—पहिला, इसका पर्यवसान अत्याचारी राज्यपद्धतिके रूपमें होता है—उत्तर—दूसरा, इस पद्धतिमें दुष्ट मनुष्यको बहुत अवकाश मिलता है—उत्तर तीसरा,—लोक सत्तामें पराक्रमी शास्ताके अभावसे राष्ट्र हीनस्थितिको प्राप्त होता है

उत्तर—चौथा, इसमें बुरे लोगोंकी बन आती है—लोकसत्ता पर अर्थशास्त्र सम्बन्धी आक्षेप—इस पद्धतिसे कालान्तरमें समाजमें उत्पत्तिकी विषम बँटनी होती है—उत्तर—लोकसत्ता पर नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे दो आक्षेप—पहिला, इसमें बहुसंख्यक लोगोंका जुल्म होता है—उत्तर—दूसरा, समाजकी नीति हीनावस्थाको प्राप्त होती है—उत्तर—लोकसत्तापर सामाजिक दृष्टिसे दो आक्षेप—पहिला, इसमें विविधता नहीं होती—उत्तर—दूसरा, इसमें संस्कृति (Culture) नहीं होती—उत्तर—निष्कर्ष।

चतुर्थ परिच्छेद—उपसंहार।

प्रकरण पहिला—पूर्ववृत्त।

संस्कृतिशास्त्रकी आजतक की हुई विवेचकों द्वारा चिकित्सा और उसका परीक्षण—आगस्ट कैंट—इसका दोष, सूक्ष्मवस्तुके शोधका अभाव—मिलकी उपपत्ति—इसका दोष, इसने अपनी चिकित्सामें तत्त्व निर्णय नहीं किया—बकल—इसका दोष, इसने केवल आधिभौतिकको ही महत्त्व दिया—कार्लाइलकी मीमांसा—इसका वैगुण्य, इसने नीतिशास्त्रको सर्वथा बिसारा—हर्बर्ट स्पेन्सर—उत्क्रान्तिवाद—इसके दो दोष, इसकी चिकित्सा निरर्थक व्यापक हो गयी है—दूसरे, यह चिकित्सा केवल भूतसृष्टिके ही सम्बन्धमें है—हेगेलका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तका वैगुण्य, इसने केवल विचारसृष्टिको ही प्राधान्य दिया है—संस्कृतिके यथार्थ विवेचनकी आवश्यकता—इस ग्रंथके द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्तिका प्रयत्न।

प्रकरण दूसरा—सुधारणाका अचल स्वरूप।

सुधारणाके चार घटक अवयव—परिस्थिति, आधिभौतिकशास्त्र, धर्म और तत्त्वज्ञान—इनका स्वतंत्र स्वरूप वर्णन।

प्रकरण तीसरा—सुधारणाका चल स्वरूप।

गतप्रकरणमें बतलाये हुए चार घटकावयवोंकी परस्परमें एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया—समाजके अशिक्षित भाग पर पहले तीन अवयवोंका परिणाम होता है और शिक्षित भाग पर चौथेका परिणाम होता है।

प्रकरण चौथा—सिंहावलोकन।

प्रथम जिन प्रकरणों और मुद्दोंका क्रमशः वर्णन हुआ है उनका निर्देश और उनकी संगति।

ग्रंथकी संक्षिप्त अनुक्रमणिका

॥ श्री ॥

विषय परिचय।



अखिल विश्वके अस्तित्व और चैतन्यका मुख्य लक्षण गति है। इस गति शक्तिके कारण सम्पूर्ण विश्व निरंतर चल स्थितिमें रहता है। विश्व और गतिका संबंध अभेद्य होनेके कारण विश्वका चलन होना अपरिहार्य है। यह विश्व सजीव और निर्जीव, ऐसे दो प्रकारके पदार्थोंसे भरा है। इन दोनोंमेंसे सजीव सृष्टि स्वप्रेरित और निर्जीव सृष्टि परप्रेरित—पर विकार्य होती है। सजीव सृष्टिमें मनुष्यप्राणीके सिवाय इतर प्राणी बुद्धिकी दृष्टिसे न्यूनाधिक प्रमाणमें हीनबल होते हैं। केवल मनुष्यप्राणीकी ही बुद्धिमान् कोटिके जीवधारियोंमें गणना है। इस बुद्धिमत्ताके कारण इतर सृष्टिके समान मनुष्यप्राणीका भी अपरिहार्य गतिकी जड़में कुछ न कुछ हेतु रहताही है, उस हेतु तथा गतिके कार्यकारणभावसे कुछ सिद्धान्त निश्चित होते हैं, जिन सिद्धान्तोंपरसे व्यक्तिगत आचरणोंकी दिशा ठहराई जाती है*। प्रत्येक मनुष्यके प्रयत्न सुखमूलक होनेके कारण जिन कृत्योंसे सुख हो सकता है उन्हीं कृत्योंको करनेकी बुद्धि उक्त परंपराके द्वारा मनुष्यको होती है। और इसी लिये हेतुमूलक कृतिके द्वारा सुखकी अवस्थाके प्रति जानेकी पद्धतिको सुधारणा अथवा संस्कृति कहते हैं। अँग्रेज ग्रंथकार बकलने भी अपने

---

१ * When we perform an action we perform it in consequence of some motive or motives That these motives are the results of certain antecedents, and that therefore if we are acquainted with the whole of those antecedents and with all the laws of their movements, we could with unerring certainty predict the whole of their immediate results

Buckle's History of Civilization.

' संस्कृतिके इतिहास ' नामक ग्रंथमें यही चिकित्सा स्वीकार की है। मुख्य मनुष्य समाजशील प्राणी है और इस कारण प्रत्येक व्यक्तिके प्रयत्नों पर समाजकी इतर व्यक्तियोंके प्रयत्नोंका असर हुए विना नहीं रहता। और यह असर कभी सहायक रूप होता है और कभी बाधक रूप। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उत्पन्न होते है कि सम्पूर्ण मनुष्योंकी कृतियोंका परस्परमें मेल किस प्रकार हो ? किस प्रकार उनका सामान्य हितमूलक ऐक्य हो ? और समाजके अंतिम सुखस्थिति तक पहुँचनेके लिये सामाजिक व्यक्तियोंकी कार्यपद्धति किस प्रकार हो ? इन प्रश्नोंके उत्तर देनेके लिये किये हुए भिन्न भिन्न प्रयत्नोंको ' संस्कृतिकी उपपत्ति ' कहते हैं।

व्यवहारमें कितनेही वार यह कहा जाता है कि " अमुक समाज सुसंस्कृत है और अमुक असंस्कृत। आफ्रिकन लोगोंकी अपेक्षा एशियाटिक सुधरे हुए हैं और एशियाकी कितनीही समाजोंकी अपेक्षा यूरोपकी कितनीही समाजें सुधरी हुई हैं। " परंतु इस कथनमें जो अनेक तत्व भरे हुए हैं उनकी यथार्थ कल्पना भी बहुतोंको नहीं है। और वे नहीं जानते कि सुधारणा क्या है ? उसका लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है ? उन मार्गोंमें कौन कौनसी अड़चनें आनेकी संभावना है ? उन अड़चनोंका निराकरण किस प्रकार किया जासकता है ? और सुधारणाके तत्वोंके अनुसार व्यवहारमें किस प्रकारका आचरण होना उचित है।

इन सब प्रश्नोंका सवाङ्ग अभ्यास करनाही संस्कृतिशास्त्रका अभ्यास है। इस प्रकारका अभ्यास हुए विना किसी भी समाजकी गतिस्थितिका सम्यग्ज्ञान कभी नही हो सकता। और विना इस प्रकारके ज्ञानके समाजको इष्ट साध्यकी दिशा भी नहीं दिखलाई पड़ती।

इस महद्विद्याके अभ्यासमें समाजकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियोंका पृथक्करण करना पड़ता है और तत्कालीन परिस्थिति, पूर्वपरंपरा, समाजके परंपरावैशिष्ट्य तथा स्वरूपका पृथक् पृथक् विचारकर इन सबका परस्परमें साहचर्य भावसे किस प्रकार मेल हो सकेगा ? यह निश्चय करना पड़ता है।

व्यक्ति और समाजका अवयव अवयवी संबंध होनेके कारण उनका एक दूसरेसे नित्य संबंध है। अत प्रत्येक व्यक्तिका समाजकी इतर व्यक्तियोंसे होने योग्य संबंधका विचार कर समाज रचनाके तत्व निश्चित करना पड़ते हैं और समाजके

सब व्यवहारों व व्यक्तिगत अधिकारोंका किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अतिक्रमण न होने देनेके लिये राजनीतिका विचार करना पड़ता है। तथा सृष्टिके जिस आदि कारणसे व्यक्ति और समाज उत्पन्न हुई है उस आदि कारणसे इन दोनोंके रहे हुए संबंधको धर्मशास्त्र निश्चित करता है।

इन सब अंगोका भिन्नभिन्न विचार करनेसे काम नहीं चलता। क्योंकि ये सब अंग एक दूसरेसे संबद्ध है। और इस लिये इनके अंतरंगमें रहे हुए सूत्रोंका विचार अवश्य करना पड़ता हैं। जिस प्रकार सम और विषम प्रवाह-वाहक तारोंके जोड़नेसे विद्युत् शक्ति कार्यकारक हो सकती है उसी प्रकार संस्कृतिके अंगोंका परस्परमें मेल कर देनेवाले तत्वोके द्वाराही संस्कृतिकी मीमांसा कार्यकर हो सकती है। इस लिये कुछ निश्चित तत्त्वोंपर यह मीमांसा करना आवश्यक होता है।

इस प्रकारकी संस्कृतिकी चिकित्सा यूरोपमें की गई है। और प्रत्येक तत्त्व-ज्ञने अपने मतानुसार संस्कृतिके कुछ तत्त्व निश्चित कर अपना तन्मूलक सिद्धान्त निश्चित करनेका प्रयत्न किया है। किसीने आधिभौतिक शास्त्रोंकी प्रगतिको ही समाजका साध्य माना और किसीने केवल आध्यात्मिक तत्त्वका ही अवलंबन किया। किसीने उत्क्रांतिवादका आश्रय लिया और किसीने नैतिक उन्नतिकोही श्रेष्ठ माना, परंतु इन सब दृष्टिकोणोंको एकत्रित कर समा-जकी सर्वांगीन चिकित्सा करने और संस्कृतिका अभ्यास करनेका जो काम पहिले किसीके द्वारा नहीं हुआ वह " जॉन बीपँटी कोलियर " नामक इस ग्रंथकारने करनेका प्रयत्न किया।

इस विद्वान्का जन्म कनाडा देशमें सन् १८४९ ई० में हुआ था। यह देश बृटिश साम्राज्यके अंतर्गत है और वर्तमानमें यहाँकी शासनपद्धति लोक-सत्तात्मक है। परंतु जिस समय इस विद्वानका जन्म हुआ था उस समय कनाडादेशकी स्थिति ऐसी कुछ व्यवस्थित नहीं थी। इंग्लेण्ड वगैरह देशोंसे लोग जाकर वहाँ बसते थे और अपनी व्यवस्था करते थे। कोलियरकी गृहस्थिति भी अच्छी नहीं थी। वह घरका गरीब था। अत. उसे अधिक शिक्षाका लाभ न मिल सका। तो भी उसने पहिले कुछ वर्षों तक चार पाँच धंदोंकी शिक्षा यूनिव्हर्सिटीमें प्राप्त करनेका अधूरा प्रयत्न किया और अंतमें जीवननिर्वाहके लिए किसी धंदेकी शिक्षा आवश्यक समझ कर यूनिव-

सिटीकी वैद्यकीय अन्तिम परीक्षा पास की। परंतु उसकी बुद्धिका झुकाव शुरूसेही तत्वविवेचनकी ओर था। वह दूसरे विषयोंके अभ्यासके साथ साथ समाजशास्त्रका भी चिंतन करता था। जब वह अन्तिम परीक्षामें पास होगया तब उसे अपने तत्वविचारोंके लिए कनाडादेश संकुचित प्रतीत होने लगा। अतः वह स्थलांतर करनेका निश्चय कर इंग्लैण्डको गया।

वहां जाने पर समाज-संस्कृतिकी चिकित्सा करनेवाले अनेक ग्रन्थोंका परिशीलन किया। और कार्लाइल जैसे तत्वज्ञोंसे प्रत्यक्ष परिचय कर लिया। अतमें अपने मतानुसार संस्कृतिकी सर्वांगपरिपूर्ण मीमांसा " सुधारणा और प्रगति " नामक ग्रन्थमें कर उसे प्रकाशित किया।

इस ग्रन्थमें क्रोझियरने पहिलेही सुधारणाके मूलतत्व जाननेकी पद्धति और साधनोंका विवेचन किया है। भिन्न भिन्न तत्वज्ञोंके मतानुसार माने हुए इतिहास, आधिभौतिकशास्त्र, मानसशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र आदि सुधारणाके प्रमाणोंका विग्रह कर क्रोझियरने यह सिद्ध किया है कि ये सब भिन्न भिन्न रूपसे प्रमाणशोधनके लिए अपूर्ण हैं। समाजके अनेक प्रकारके व्यवहार मानवीय अन्तःकरणके सर्वांगीन व्यापारोंपर अवलंबित होनेसे उस अन्तःकरणका संपूर्ण आकलन किये सिवाय सुधारणाकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। इस लिये पूर्वोक्त संपूर्ण प्रमाणोंको मानवीय अन्तःकरणके विभाग समझ कर उनका संग्रह करनाही संस्कृतिके नियमोंको जाननेका वास्तविक मार्ग है।

प्रमाणचिकित्सा करनेके बादका कार्य उन प्रमाणोंकी सहायतासे निकलने वाले तत्वोंका विवेचन करना है। उनमें मुख्य तत्व संस्कृतिका अन्तिम ध्येय है। जहाँ तक अन्तिम साध्यका स्वरूप मालूम नहीं होता वहां तक मनुष्यका कार्य करना जंगलमें मार्ग भूले हुए पथिकके भटकनेके समान है। क्रोझियरने भी इसी पद्धतिको ध्यानमें रखकर साध्यका विवेचन किया है। और सूक्ष्म अवलोकन तथा दीर्घ मनन करनेके पश्चात् अपनेसे पहिलेके समाज चिकित्सकों द्वारा निकाली हुई सुधारणाकी उपपत्तियोंको संस्कृतिके ध्येयकी दृष्टिसे दो मुख्य विभागोंमें विभाजित किया है। और बतलाया है कि एक वर्गकी मान्यताके अनुसार समाजका अंतिम ध्येय " सुव्यवस्था " है। समाजपर आघात प्रत्याघात करनेवाली भिन्न भिन्न शक्तियोंका समीकरण (Equalization.) करके सुव्यवस्थाकी स्थिति प्राप्त करलेना ही साध्यकी

अवस्था है। और इसी अवस्था तक पहुंचनेके लिये समाजके प्रयत्न होने चाहिये।

दूसरे वर्गका कहना है कि समाजका साध्य प्रगति (Progress) है। यदि सुव्यवस्थाको हीसाध्य माना जाय तो समाजके स्थिर होजानेसे उसके गतिरहित जलाशयके समान अस्वच्छ होजानेकी संभावना है। सम्पूर्ण पदार्थ गति-शील हैं। इस लिये अपनी अपनी गतिसे गमन करते समय उनका परस्परमें घर्षण बिना हुए नहीं रहता। और इस प्रकार परस्परमें घर्षण करते हुए आगे बढ़नेकी स्थितिमें पूर्ण शांतता और सुव्यवस्था होना शक्य अथवा इष्ट नहीं है। इसलिये शरियतके घोड़ेके समान सदा आगे बढ़नेका प्रयत्न करना और उसके आवश्यकता पड़ने पर सुव्यवस्थाका भंग करनाही साध्यका लक्षण है।

इन दोनों पक्षोंके कथनका विचार कर कोन्डिसरने दूसरे मतका अवलम्बन किया है। कोन्डिसर कहता है कि " मेरे मतानुसार संस्कृतिकी उक्त दोनों उपपत्तियोंमेंसे प्रगतिवादियोंका पक्षही जगत्की रचना और मानवीय स्वभावसे अधिक मिलता है। संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि व्यक्तिकी और पर्यायसे समाजकी प्रगति और इन दोनोका उत्कर्ष सृष्टिका भी साध्य है "

इस प्रकार साध्य निश्चित करके उसी साध्यको लक्ष्यमें रखते हुए कोन्डि-सरने समाजकी चिकित्सा करना प्रारंभ की है। और समाजरचना, राजकारण तथा धर्मसाधन आदि सम्पूर्ण मानवीय व्यवसायोंका उसने पृथक्करण किया है। वह अपने आत्मवृत्तांतमें लिखता है कि " यह चिकित्सा करनेके लिये मुझे बहुत अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई थी। मेरे जन्मदेशकी शालाओं, क्रीड़ा-क्षेत्रों, विद्यार्थी समाजों तथा अन्य स्थानोंमें मेरी योग्यता और मेरे गुणोंके अनुसार मेरी प्रतिष्ठा होती थी। मेरे देशकी इस स्वतंत्र समाजरचनामेंसे जब मैं अभिजनसत्तात्मक पद्धतिके मूलतत्वोंपर रची हुई इंग्लैंडकी समाजमें जहां कि व्यक्तिकी योग्यता कुल और जन्मपरसे ठहराई जाती है, आया तब मुझे मालूम हुआ कि समाजके कृत्रिम बंधन, व्यक्तिकी उन्नतिके मार्गमें किस प्रकार आड़े आते हैं। और मैं इसका तुलनात्मक रीतिसे अवलोकन कर सका। कनाडाकी अप्रतिबंध लोकसत्ताका अनुभव मुझे होनेसे इंग्लेण्डके सरदारोंके अस्तित्वके कारण होनेवाले राजकीय कृत्रिम बंधनोंका

ज्ञान मुझे हो सका और मेरे देशमें इच्छानुसार पंथोंके द्वारा ईश्वर सेवा करनेकी स्वतन्त्रता होनेके कारण इंग्लेण्डके राष्ट्र निर्दिष्ट धर्म (State Religion)की मैं तुलना कर सका। इस प्रकार यद्यपि इंग्लेण्डमें तत्त्वदृष्टिसे सब बातोंमें भेद है परन्तु यह भेद शुद्ध स्वरूपका नहीं है। अतः वहांकी समाजरचना इस भेदके अनुसार इतनी दृढ़बद्ध नहीं थी कि व्यक्तियोंको उत्कर्षके लिये मौकाही न हो। और न राजकारण इतने उपमर्दकही थे जिससे मध्यम अथवा कनिष्ठ वर्गकी व्यक्तियाँ आविष्कार सपक्ष न हो सकें। तथा राष्ट्रधर्म भी इतना दुराग्रही नहीं था जिसके कि कारण दूसरे पंथोंको अवसर न हो। इन कारणोंसे इंग्लेण्डमें मुझे अभिजनसत्ताक व्यवस्था, शुद्ध स्वरूप और दुराग्रहरहित अवस्थामें देखनेको मिली। जिसके कारण उच्छृंखलतारहित व्यक्तिस्वातंत्र्य और संकुचिततारहित समाजनियमन, इन दोनोंके वास्तविकभेदोंका मैं अच्छी तरह अवलोकन कर सका।"

इस अवलोकनके द्वारा ब्लोक्षियरने संस्कृतिका यह सिद्धान्त निश्चित किया कि जिस समाजमें व्यक्तिको अपना पूर्ण उत्कर्ष करनेका अवसर मिलता है वह समाज सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण सुसंस्कृत है। यह सिद्धान्त निश्चित कर लेने पर ब्लोक्षियरने साध्य सिद्धिके मार्गका विवेचन किया है। ब्लोक्षियरका मत है कि व्यक्तिके कार्यमें सामाजिक बंधनोंका आड़े आना इष्ट नहीं है, पर समाजकी कल्पनाओंका मनुष्य पर परिणाम होना अवश्यंभावी होनेके कारण मनुष्यके स्वाभाविक स्वार्थपूर्ण आचरणों पर समाजकी श्रेष्ठ नैतिक कल्पनाओंका दबाव रहना आवश्यक है ताकि व्यक्ति योग्य मार्गकाही अवलम्बन कर सके।

इस मार्गकी गतिका नियमन करनेवाला तत्त्व वह वर्तमान परिस्थितिको मानता है। मनुष्य और समाज परिस्थितिसे सदा बद्ध हैं। आकांक्षायें कितनीही श्रेष्ठ हुई तो भी वे परिस्थितिसे नियंत्रित रहतीही हैं। और इन दोनोंके बीचका अन्तर दूर करनेका मार्ग निकाले बिना प्रगति नहीं होती। यह मार्ग समीकरण है। परिस्थितिका सुधार करनेके लिये दुर्बलोंको कृत्रिम उपायों द्वारा सबल करना समीकरण है। इस प्रकार समीकरणसे परिस्थिति बदल जाती है और समाजकी नैतिक कल्पनाओंके प्रभावके नीचे व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करती है। यही संस्कृतिकी प्रक्रिया है, यह ब्लोक्षियरने मीमांसाद्वारा निश्चित किया है।

इसी मीमांसाके अनुसार मानवीय व्यवसायके समाजरचना, राजकारण और धर्मसाधन रूप तीन उपांगोंका कोम्तियरने विवेचन किया है। और यह निष्कर्ष निकाला है कि समाजरचनाकी दृष्टिसे व्यक्ति स्वतन्त्र होनेके लिये जातिभेद नही होना चाहिये, राजकीय क्षेत्रमे पूर्ण उत्कर्ष होनेके लिये लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुसार पूर्ण अधिकार मिलना चाहिये और धर्मसाधनमे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेके लिये धार्मिक स्वातंत्र्य होना चाहिये।

कोम्तियरने अपने निकाले हुए सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये जिस विचारपद्धतिका अनुसरण किया है उस पर हो सकनेवाले आक्षेपोंका वह स्थान स्थान पर निरसन भी करता गया है और इस अनुवादमे भी वह ज्योंका त्यों रखा गया है। कोम्तियर अपनी विचारसरणीको पूर्ण मानता है तो भी कितनेही स्थानोंपर मतभेद हो सकता है।

जातिभेद दुष्ट है या नहीं? मनुष्यके प्रत्येक कार्यकी जडमें कोम्तियरका माना हुआ कर्तृकारणवाद (Law of Wills and Causes) है या नहीं? धर्म कोम्तियरके मतानुसार केवल मानवीय समाधानकी ही औषधि है या प्राच्यमतानुसार शाश्वत, त्रिकालाबाधित और सत्यमय है? आधि-भौतिक शास्त्रोंके द्वारा सृष्टि रहस्यका उद्घाटन होनेपर भी केवल आध्यात्मिक शक्तिसंपन्न सिद्धकोटिके व्यक्ति जगत्के शाश्वत तत्व जाननेमें समर्थ हैं या नहीं? तथा राजकीय क्षेत्रमे लोकसत्तात्मक पद्धति ही श्रेष्ठ है अथवा दूसरी कोई पद्धति इत्यादि अनेक प्रश्नोंके संबंधमे मतभेद हो सकता है।

परन्तु अनुवादकोंका यही कार्य है कि ग्रंथकर्ताओंके तत्त्वोंका और विचारसरणीका यथाभूत प्रकाशन करे। इसी लिये स्वतंत्र विवेचन करनेका उसे अधिकार नहीं। अतएव कोम्तियरके सिद्धान्त और उसकी विचारप्रणाली इस अनुवादमे सम्पूर्णतया रक्षित रखी गई है।

इसमें केवल ऐसे जो अधिकार जो मूल ग्रंथकारके विचारोंके परिपोषक है और अधिक बढ़ाये गये हैं। कोम्तियरने आधिभौतिक शास्त्रको परिमित माना है और इस लिये इसके सम्बन्धमें उसने अधिक विवेचन नहीं किया है। हिंदुस्थानमें पहिलेसेही आधि-भौतिक अथवा नश्वर वस्तुओंका महत्व उपेक्षणीय माना है। इस दृष्टिसे आधि-भौतिक शास्त्रकी परिमितता सिद्ध करनेकी इतनी आवश्यकता नही है तो भी वर्तमानके आविष्कारोंके कारण भारतवासी अपने

उक्त सिद्धान्तसे विचलित न हों इस लिये पाश्चात्य विद्वानोंके विचारकी सहायतासे आधि-भौतिक शास्त्रोंकी अपूर्णता पहिले नये अधिकारमें सिद्ध की गई है। दूसरे अधिक जोडे हुए अधिकारमें राजकारणसंबंधी पाश्चात्य कल्पनाओंकी संक्षिप्त आलोचना दी गई है। पाश्चात्य देशोंमें तो आजकल राजनीति प्रत्येक नागरिकोंके हाथका खिलौना बन रही है और इस लिये उसकी स्थूल कल्पनाओंका वहांके लोगोंको दृढ़ परिचय होता है। परन्तु भारतमें इसका अभाव है। अतः इस भागके द्वारा उसे समझाया गया है।

विषयके सुलभ उपपादनके लिये और तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे उसकी सुसंगति बैठानेके लिये कुछ प्रकरणोंको स्थानांतर अवश्य किया है। परन्तु उनके विवेचनमें बिलकुल अंतर नहीं किया गया है।

आशा है कि इस परिचयसे पाठकोंको आगेके विषयको समझनेमें बहुत सुभीता होगा।



सुधारणा और प्र॰

प्रथम-परिच्छेद ।



प्रमाण-चिकित्सा ।



प्रकरण पहिला.

इतिहास.

यह जाननेके पहिले कि सुधारणाके तत्व कौन कौनसे हैं ? और उन तत्वों पर किसी राष्ट्र, देश अथवा समाजकी सुधारणा किस प्रकार की जाय ? यह विचारना उचित है कि उन तत्वोंके जाननेके साधन कौन कौनसे है ? वैद्यक शास्त्रमें औषधिकी योजनाके पहिले निदान करनेकी आज्ञा दी गई है । यदि रोगके निदानमें भूल हो गई—जिन कारणोंसे रोगकी उत्पत्ति हुई है उन कारणोंसे भिन्न कोई दूसरे कारणोंसे यदि रोगका सम्बन्ध जोड दिया गया—तो औषधिके प्रयोगमें भी भूल होगी और उसका फल भी कुछ नहीं होगा ! इसी उदाहरणके अनुसार पहिले सुधारणाके तत्व जाननेके मार्ग अथवा प्रमाण कौन कौनसे हैं इसका निश्चय होना उचित प्रतीत होता है । न्यायशास्त्रमें प्रमाण शब्दका अर्थ " प्रमायाः करणं-प्रमाणम् " किया गया है । अर्थात् प्रमा अथवा किसी भी वस्तुके सत्य ज्ञानके साधनको प्रमाण कहते हैं । और इसीलिए सुधारणाका सत्य ज्ञान होनेके साधन कौन कौनसे हैं ? इसका विचार करना आवश्यक दिखलाई पड़ता है । इन साधनोंके प्रतिपादक और

पुरस्कर्ता भिन्न भिन्न विषयोंको सुधारणाके तत्वोंके प्रमाण मानते आ रहे हैं। उनके मतानुसार वे भिन्न भिन्न विषयही सुधारणाके तत्वोंका सत्यज्ञान करानेमें कारण हैं। इनमें मुख्य विषय ' इतिहास ' है। मानव संस्कृतिके प्रारम्भ कालमें सृष्टिकी छोटी बड़ी घटनाओंका कर्ता ईश्वर माना जाता था और वास्तवमें अथवा प्रेरक रूपसे यह बात है भी ठीक। इस विषयका विशेष ऊहापोह ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध करते समय किया जायगा। जब तक मनुष्य समाजको अपनी कर्तव्यशक्तिकी पूर्ण कल्पना नहीं थी और भौतिक शास्त्रमें भी जब तक प्रगति नहीं हुई थी तब तक मनुष्य समाजकी यह कल्पना थी कि प्रत्येक व्यावहारिक बात परमेश्वर ही स्थूल रूपसे करता है। और यह मनुष्यका स्वाभाविक मनोधर्म है कि वह अपने ज्ञानसे अतीत बातका जनक अदृश्य व्यक्तिको ही समझता है। ऐसे पूर्व समयमें इतिहास शास्त्रको स्थान नहीं मिल सकता। मनुष्य मात्रमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। इस शक्तिके बलपर मनुष्य, समाजमें जो कार्य करता है और उस कार्यका समाज पर जो इष्टानिष्ट परिणाम होता है उस परिणामका क्रमशः वर्णन करने और उससे नित्योपयोगके व्यावहारिक सिद्धान्त निकालनेका काम इतिहास शास्त्रका है। परन्तु जहाँ मनुष्यके कार्योंको ही स्थान न हो वहाँ इतिहासको स्थान कैसे प्राप्त हो सकता है? परन्तु जब यह स्थिति बदली और यह अनुभव में आया कि समाज, कर्तृत्वशक्तिसंपन्न अनेक मनुष्योंका समुदाय है और ऐसे समुदायरूप समाजका भी एक सामुदायिक प्राण है तब इतिहासका जन्म हुआ। और जब मानवजातिरूपी महासागरमें विचारक्रान्तिकी भिन्न २ प्रचण्ड लहरोंके साथ २ राजसत्ता और अधिकारी सत्ता गेहूंके घुनके समान इधरसे उधर भटकने लगी तब उन लहरोंका आदि कारण और उनकी गतिके नियम निश्चय करनेवाले इतिहास शास्त्रका महत्त्व ध्यानमें आया और यह माना जाने लगा कि यह शास्त्र ज्ञानका निधि है। तथा भूत कालको सूर्यके समान स्पष्ट करनेवाली और भविष्यकी अदृश्य सृष्टि पर भी प्रकाश डालनेवाली ज्योति है। जिस प्रकार भूस्तर शास्त्रवेत्ता पृथ्वीमेंसे निकले हुए अस्थिपंजरोंके द्वारा मनुष्य समाजकी उत्पत्तिकी साकलकी कड़ियाँ जोड़ सकते हैं, उसी प्रकार इतिहास भी भूतकालके गर्भमें रही हुई घटनाओंकी परिस्थितिके द्वारा विचारक्रान्तिकी कड़ियाँ जोड़ सकता है। इतिहासके सम्बन्धमें विद्वानोंने उक्त सिद्धान्त बाँध रखा है। अनन्त

कालकी घटनाओंसे यदि कोई अनुमान न निकालकर उन्हें केवल ' अरेबियन नाइट्स ' की कहानियोंके समान मनोरंजनात्मक समझे तो उन्हें जानने से मनुष्य समाजका भला काम भी क्या हो सकता है ?। मनुष्य जातिके छिपे रहस्यको प्रकट करनेमें मनुष्य ही मुख्य कारण है । " The proper study of mankind is man ।" महाभारतमें भी यही सार निकाला गया है कि " इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि बुद्धय, " अर्थात उत्तम इतिहाससे कविबुद्धि उत्पन्न होते हैं । Meaning of History * में लिखा है कि सुधारणाके तत्वोंका ज्ञान, उन तत्वोंके पूर्वकालीन परिणामों पर अवलंबित है। और यह परिणाम इतिहासके द्वारा ही जाने जा सकते हैं। "एक ग्रंथमें लिखा है कि " इतिहास परमेश्वरीय इच्छा जाननेका एक साधन है। इतिहास ही एक मात्र शिक्षक है जो 'जगत्में होनेवाली अशुभ घटनाओंका आकलन कर उसपरसे यह सिखलाता है कि यह ईश्वरकी अमुक इच्छाके उल्लंघनका फल है और इन घटनाओंसे बचनेके लिये ईश्वरकी अमुक इच्छाके अनुसार चलना उचित है। † एक दूसरा ग्रंथकार कहता है ' इतिहास मनुष्य समाजका वैद्यक शास्त्र है। मनुष्य समाजकी स्थितिकी, विकारकी और रोगपरिहारकी चिकित्सा केवल इसी एक शास्त्रसे होती है। ‡ इन उद्धृताओंपरसे यह सिद्ध होता है कि एक पक्षका यह कहना है कि मानव समाज अथवा राष्ट्रीय सुधारणाके तत्व निश्चित करनेका इतिहास ही एक मात्र साधन है।

यह कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उदाहरणकी दृष्टिसे इतिहास एक अमूल्य शास्त्र है । परन्तु यह विचारणीय है कि ऐतिहासिकोंका यह-कथन ठीक है या नहीं कि सुधारणाके तत्व निश्चित करनेका साधन एक मात्र इतिहासही है। पहिले पहिल देखने पर शास्त्रमें वर्णित पदार्थ अबाधित दिखता है परन्तु थोड़ा विचार करनेपर उसके दोष भी दिखलाई देते

---

* by Frederic Harrison Chapt. I.

† Hegels Philosophy of Bohn's Library Edition. Introduction

‡ Schlegel's Philosophy of History part 1, Bohn's S'andard Library Edition.

लगते हैं । पूर्वेतिहास, शिक्षा और मनके संस्कार मनुष्यके भावी जीवनका मार्ग निश्चित करनेमें सहायक होते हैं । परन्तु यह कहना भ्रमपूर्ण है कि केवल इन्हीं बातोंपरसे उसके जीवनका भविष्य निश्चयतः कहा जा सकता है । इस प्रकारकी विचारसरणीका परिणाम यह होता है कि इतिहासकी परीक्षा करनेवाले अपने २ मतानुसार जिन २ विशिष्ट बातों पर समाजकी अथवा राष्ट्रकी इमारत खड़ी हुई समझते हैं उन बातोंको अवास्तविक महत्त्व देने लगते हैं। जैसे कि मानो कुछ लोगोंने उन इतिहासके द्वारा यह सिद्धान्त निकाला कि किसी देशकी वायु ही उस देशके शीलसंगठनमें कारणभूत है । तो फिर वे इसी तत्त्व पर सम्पूर्ण जगत्‌की क्रान्तिकी जड़ जमाने लगते हैं । सारांश यह कि जिस प्रकार अभ्रमय आकाशकी ओर एक समयमें देखनेवाले लोगोंको वे अभ्र उनकी कल्पनानुसार भिन्न २ प्रकारके दिखलाई पड़ते हैं उसी प्रकार इतिहास देखनेवालोंको भी उनकी कल्पनाके अनुसार ही वह दिखलाई देता है । मनुष्यका ज्ञान मर्यादित है, उसमें भी न्यूनाधिकता है । ऐसी दशामें आकुंचित बुद्धिके द्वारा अपनी कल्पनाके आधारसे बँधे हुए सिद्धान्तों पर जगत्‌के कर्तृत्वकी इमारत खड़ी हुई मानना भ्रममूलक है । प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता कार्लाइलने भी ऐसे ज्ञानके आधार पर संपूर्ण इमारत खड़ी करनेवालोंको बुद्धिमान कारीगर न कहकर अल्पज्ञानी मजदूर ही कहा है । परन्तु वह यह दोष अल्पबुद्धिके लोगोंको ही देता है । इतिहासशास्त्रको नहीं । वह भी यही मानता है कि "वर्तमान और भविष्य कालका ज्ञान होनेका मुख्य मार्ग एक भूतकालका अवलोकन ही है" * । अतः यहाँ यह विचार करना उचित होगा कि उदाहरण रूपसे अथवा उस परसे निकलनेवाले व्यावहारिक सिद्धान्त रूपसे केवल मात्र इतिहासही सत्य ज्ञान करानेके अधिकारका पात्र है या नहीं ।

इधर इन दिनोंमें इतिहाससंशोधनके कार्यमें अत्यन्त परिश्रम किये जानेके कारण वह गतकालीन घटनाओंको सीनोमेटोग्राफके चित्रोंके समान जगत्‌के आगे मूर्तिमान रूपसे उपस्थित करनेमें समर्थ हो गया है । और उसके (इतिहासके) द्वारा न केवल स्थूल घटनाही किन्तु समय समय सम्बन्धी, समाजकी रहन सहन पद्धति, परिस्थिति, आचारविचार, धार्मिक कल्पना,

* Carlyle's "Past and present"

राजकीय संस्था आदिके चित्र भी मनश्चक्षुके आगे खड़े हो जाते हैं । इतिहासके कारण भूतकालके घने अंधकारमे पहिलेही पौर्वात्य साम्राज्यके चित्र दृष्टिगत होते हैं । उसमें वेदकालीन भारतीय योद्धा अपनी श्रेष्ठ संस्कृति और पराक्रमके जोर पर संपूर्ण आर्यावर्तमे अपना साम्राज्य स्थापित करते दिखलाई पड़ते हैं । फिर उस साम्राज्यका विस्तार होता है और अशोक तथा चन्द्रगुप्तके एकछत्री राज्यशासनके कारण भारतमे एक राष्ट्रीयताका सुवर्णमय दृश्य दृष्टिगोचर होता है । इतनेही मे आर्यावर्तके आर्य लोगोंके ईरान देशमें बसे हुए भाई बंधों द्वारा स्थापित राज्य एक प्रचंड अजगरके समान अपने आसपासके छोटे छोटे राष्ट्रोंको निगल जाता है और फिर धीरे धीरे पश्चिमकी ओर सरक कर ग्रीककी नूतन संस्कृतिको हड़प करनेके लिये अपना मुंह खोलता है। इतने ही मे ग्रीस चपला कर जाग जाता है और अपने हाथकी तलवारका उस अजगरपर जोरसे प्रहार कर उसे कुछ कालके लिए तड़फते हुए हटनेको लाचार करता है । इस विजयसे प्रफुल्लित ग्रीस एक कमलके समान अपना साम्राज्यसौंदर्य क्रम क्रमसे जगत्में फैलाता है । और फिर वैभवरविकी अस्तगामी किरणोंके द्वारा किंचित् कुम्हलाई पाता है । इतने ही मे उस कमलको जड़से उखाड़ कर मेसिडोन अपना सिर ऊंचा उठाता है । और संपूर्ण ग्रीक देशपर अधिकार कर सिकन्दर बादशाहके रूपमें यवानल–अग्निके समान फैलता है । और आसपासके सब राष्ट्रोंको जलाता हुआ पश्चिमसे पूर्वतक समुद्रसे घिरी हुई भूमिको आक्रमित कर लेता है । फिर अग्निके गुणधर्मानुसार इन सबको जला देने पर "अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति" तृणरहित भूमिमें पड़ी हुई अग्नि अपने आप शमन हो जाती है, कि उक्तिके अनुसार वह भी ठंडा पड़ जाता है और श्मशानकी अग्निके समान दिखने लगता है । इतने हीमें इस उध्वस्त प्रदेशमें रोम साम्राज्यका रथ धीरे धीरे घूमने लगता है और अपने निर्घृण चाकोंके द्वारा पिछे पिसे रूदता हुआ बाकी बचे हुए गाल, कार्थेज, ईरान आदिको अपने चाकोंसे बांधकर अपने साथ साथ धूलमें खींचता है और अपने विजयको दिखलाता हुआ अनिरुद्ध संचार करने लगता है । परन्तु ऐहिक ऐश्वर्य कितना भी अधिक हुआ तो भी "अंतवन्तु फल तेषाम्" के अनुसार वह नाशवान् है । अतः वह रथचक्र भी कुछ शताब्दियों बाद ढीला होने लगा और उस साम्राज्यके गुलाम लोग असह्य अत्याचारोंके कारण विद्रोह करने लगे ।

राजसत्ता अनिवार्य होगई और राजा अपनेको निर्भीर-गुर्वीतलम्" मानकर विषयभोगमें तल्लीन होगये। जिन लोगोंके हाथमें सेना थी वे राजा और प्रजा किसीको कुछ न गिनने लगे और केवल मनोरंजनके लिए उनके क्रीड़ाभवनमें असंख्य नरहत्यायें की जाने लगीं। तथा दुष्काल, रोग आदि आपदायें संपूर्ण साम्राज्यको त्रास पहुँचाने लगीं। बस जिस प्रकार पृथ्वीपरकी गर्मीको शान्त करनेके लिये एकदम आकाश में बादल जम जाते हैं और फिर बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ पानी बरसने लगता है। उसी प्रकार असंख्य जंगली जर्मन लोग सब तरफसे जर्मन साम्राज्यमें घुसते हैं और साम्राज्यके कोटको नष्ट कर, किसीकी परवाह न करते हुए ऐसा तूफान खड़ा करते हैं कि उस जल प्रलयमें रोम साम्राज्य पूर्णरूपसे डूब जाता है। फिर जिस प्रकार जल बह जानेपर जमीन सूख जाती है और कहीं २ पानीके छोटे २ जलाशय बन जाते हैं उसी प्रकार यूरोपके इस भागपर छोटे २ सरदार बड़े २ साम्राज्योंका अनुकरण कर सेवकसमूहसहित, जगह व जगह राज्य करते हुए जलप्रवाहमें बहनेवाले दो पत्थरोंके समान आपसमें टकराते हैं। इधर पूर्वकी ओर मुगल साम्राज्यका उदय होता है और महम्मदकी तारायुक्त चन्द्रपताकाके आश्रयमें हस्तिनापुरमें मयूर सिंहासन अधिष्ठित होता है। कुछ समय तक यह मुगल साम्राज्य मदोन्मत्त हस्तीके समान अपने शुंड दण्डसे सब पर प्रहार करता हुआ नाचता है, कि इतनेमें राजपूत और महाराष्ट्र रूपी बालसिंह इस हस्तीका गंडस्थल विदारण करते हैं। और वह जमीन पर गिर पड़ता है। फिर महाराष्ट्रका उदय होता है। और सपूर्ण हिन्दुस्तान 'महाराष्ट्र' की सार्थक संज्ञासे युक्त होना ही चाहता है कि उसमें फूट पड़ जाती है और धीरे धीरे अंगरेज सरकारका उदय होकर अशोकके समय का एक राष्ट्रीयताका सुदृश्य इस कालमें अनुभवमें आने लगता है।

इस प्रकार सारांश रूपसे ज्ञातकालसे लेकर आज तकका दृश्य, इतिहासका चित्रपट हमें दिखलाता है। इस परसे यह प्रश्न होता है कि इस चित्रपटसे वर्तमान काल अथवा भविष्य कालके सम्बन्धमें क्या बोध हो सकता है? और जैसा कि माना जाता है तदनुसार यह इतिहास सत्यज्ञानके साधनके रूपसे भविष्यके लिये कहां तक मार्गदर्शक हो सकता है?।

भूतकाल अथवा इतिहासके प्रकाशके बिना वर्तमान कालका प्रदेश कमसे कम ज्ञानदृष्टिकी अपेक्षासे तो निरन्तर अंधकार ही में रहेगा। राजसत्ता,

धर्मसत्ता, बलसत्ता आदि जगत्‌की संस्थाएँ, यदि आकाशमें निरन्तर प्रकाशित होनेवाले चन्द्र, सूर्य, तारे आदिके समान काल और स्थानके भेद बिना दिखलाई पड़ें तो उनकी स्थितिके सम्बन्धमें भूतकालके ज्ञानके अभावके कारण कुछ भी बोध न हो सकेगा। जिस प्रकार पूर्व ज्ञानके अभावके कारण चन्द्रका भिन्न भिन्न नक्षत्रपुंजोंमें भ्रमण असंबद्ध मालूम होगा उसी प्रकार वर्तमानकी उक्त संस्थाओंका स्थित्यंतर भी गोरख धंदेके समान अज्ञेयही रहेगा और कुछ समय-बाद जब कि वर्तमान काल भूतकाल बन जायगा इस स्थित्यंतरकी स्मृति भी नष्ट होकर मनुष्यकी बुद्धि फिर ज्यों की त्यों कोरी रह जायगी।

उक्त सब बातोंका परस्पर सम्बन्ध दिखाने, उनकी संगति मिला देने और प्रत्येक वस्तुके बाह्य रूपोंमें फँसने न देनेका साधन इतिहास है। इसके सिवाय यह जाननेका दूसरा मार्ग नहीं है कि वर्तमान प्रचलित संस्थाएँ तारुण्यावस्थामें हैं या वृद्धावस्थाको पहुँच चुकी है। जैसे कि हिन्दू धर्मको ही लीजिए। इसके गत इतिहासके सिवाय यह कैसे मालूम हो सकता है कि यह असत् ज्ञान, लोक-भ्रम आदि रोगोंसे ग्रस्त है अथवा इसकी वृद्धि हो रही है। इसी तरह यूरोप खंडमें जो राजसत्ता आज छत्रचामरादि चिन्होंसे विभूषित दिखलाई देती है वह एक छिन्नमूल वृक्षके समान है अथवा फ्रांस देशकी राज्यक्रांतिके पहिलेकी राजसत्तासरीखी ज्वालामुखी पर्वत परके एक पौधेकी तरह आंतरिक ज्वालाप्रवाहसे छिन्नविच्छिन्न होनेके करीब है, यह बिना इतिहासके नहीं जाना जा सकता। तथा बिना इतिहासज्ञानके यह भी कैसे जाना जा सकता है कि संपत्तिके जोर पर प्रबल होनेवाली अभिजनसत्ता (aristocracy) गरीबोंके पैसेसे पल पुसकर दिन पर दिन अधिक मस्त हो रही है। अथवा मजदूर वर्गकी पिरानीयोंकी टोचोंके कारण जर्जर होगई है। और अंतमें पशुबल सत्ता की जय होगी, अथवा उसके विरुद्ध रहनेवाली नैतिक सत्ताकी ?।

इन सब उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि इन प्रश्नोंका उत्तर देनेमें इतिहासकी सहायता होती है। अरण्यमें रास्ता दिखलाई पड़ने पर उसके पीछे पीछे जाकर जिस तरह मनुष्य उस मार्गका उगम स्थान खोज सकता है उसी प्रकार वर्तमान कालके संस्थारूपी मार्गसे इतिहासकी पद्धति द्वारा उन संस्थाओंकी पूर्वस्थिति निश्चित की जा सकती है। जगत्‌के नियमन करनेवाले

कायदोंको इतिहास अंशतः बतलाता है और उन कायदोंकी साधारणतया पुनरावृत्ति करने योग्य ज्ञान भी वह अपनेको देता है। जिस तरह आकाशमें प्रत्येक ग्रह अपने वर्तुल मार्गमें भ्रमण करता है उसी तरह जगत्की धर्म, राजसत्ता, लौकिक शिक्षा आदि संस्थाएं किस किस वर्तुल मार्गमें भ्रमण करती हैं और उन वर्तुल मार्गोंकी कक्षा कितनी दीर्घ है तथा उनकी गति किस प्रकारकी है? आदिका ज्ञान इतिहासके द्वारा ही अपनेको होता है।

यहाँतक एक पक्ष लेकर इतिहासकी उपयोगिता सिद्ध की गई परन्तु उसकी दूसरी बाजूकी भी परीक्षा करनी चाहिये। वह बाजू यह है कि क्या इतिहास, अंशतः मार्गदर्शक होने पर भी सुधारणाके संपूर्ण मूलतत्त्व बतला सकता है? यदि इतिहास वर्तमानकालके कारणोंको दिखा सकता है तो क्या वह उनका विग्रह भी करके दिखला सकता है? और जिस तरह वह वर्तमानकालका कार्य–कारण सम्बन्ध दिखला सकता है उसी तरह क्या वह भावी कार्य सम्बन्ध भी दिखला सकता है? सारांश अपनेको यह देखना है कि रोग उत्पन्न होनेके कारण मालूम हो जाने पर भी रोगके पूर्वेतिहास परसे ही उसके घटने या बढ़नेका बोध हो सकता है या नहीं। परन्तु जिस तरह किसी मनुष्यकी पूर्वस्थितिकी परीक्षासे यह निश्चित हो जाने पर कि मानसिक श्रम, चिंता अथवा बल क्षयसे उसे क्षय रोग हुआ है, केवल इसी ज्ञानके भरोसे यह नहीं कहा जा सकता कि वायु हवामें शीत अथवा उष्ण स्थित्यंतर कर देनेसे, पथ्यापथ्यके फरकसे अथवा अनुकूल प्रतिकूल औषधिकी योजनासे उसका रोग घटेगा या बढ़ेगा। इन बातोंको जाननेके लिये वर्तमान कालके आकलनकी आवश्यकता है, बिना वर्तमान कालके आकलनके चिकित्सा निरुपयोगी है। उसी तरह समाजमें प्रचलित संस्थाएं किसी कारणसे उत्पन्न क्यों न हुई हों? परन्तु वे उत्पन्न हुई हैं, यह सिद्धान्त मान कर उनकी भावी स्थिति जाननेकी यदि आवश्यकता है तो उसे जाननेके लिये इतिहासके समान ही वर्तमान कालके पूर्ण ज्ञानकी भी जरूरत है। उदाहरणार्थ गुलामीके विषैले पौधेके लिए भिन्न भिन्न भूमियाँ उनके स्वभावके अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल होती हैं। इसलिये जब तक उन भूमियोंके स्वभावका ज्ञान न हो जाय तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक देशमें गुलामीकी प्रथा तरक्की कर सकेगी या नहीं। इसी तरह जगत्के सब धर्मोंके मूलतत्त्व प्रायः एक समान हैं। और वे नीतिके मजबूत पाये पर उठाये हुए हैं। ईसाई धर्म

यदि यह सिखलाता है कि अपने पड़ोसी पर अपनेही समान प्रेम किया जाय तो आर्यधर्म पड़ोसियोंको लूटनेकी शिक्षा नहीं देता। वह भी यही सिखाता है। महम्मदी धर्म यदि परस्त्रीसे अलिप्त रहनेकी आज्ञा देता है तो बौद्ध धर्म व्यभिचार करना नहीं सिखलाता। उसकी भी यही आज्ञा है। ऐसी दशामें भी धर्मप्रसारके कार्यके लिये भिन्न भिन्न देश और भिन्न भिन्न काल भिन्न भिन्न प्रकारसे अनुकूल अथवा प्रतिकूल होते हैं। शंकराचार्यके समयमें हिन्दू धर्मको अपने प्रचारका जो अवसर मिला वह महाभारतके समयमें नहीं मिला अथवा बाबरको अपने समयमें राज्य स्थापन करनेका जो सुभीता मिला वह अशोकके समयमें उसे मिल नहीं सकता था। सारांश कि धार्मिक तत्वोंके एकसमान और स्थायी होनेपर भी जबकि उनके उदय अस्तमें ऊपर कहे अनुसार अंतर वर्तमान कालकी परिस्थितिके कारण होता है तो इस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान परिस्थितिके ज्ञानके सिवाय केवल इतिहासके प्रमेय व्यर्थ हैं।

इस विवेचन परसे यह बात ध्यानमें आवेगी कि गत कालके वर्णनकी दृष्टिसे इतिहास, वर्तमान स्थितिपर ज्ञानकिरण नहीं डाल सकता है। यह ज्ञान तो प्रचलित संस्था और उसके अनुरोधसे की हुई मनुष्य स्वभावकी परीक्षासे ही प्राप्त हो सकता है। इस परीक्षात्मक ज्ञानको ही राजनीति शास्त्र (Politics) कहते हैं। यहाँ 'राजनीति' शब्दका राजा और प्रजाके परस्पर व्यवहारके नियमोंका एकीकरण, यह संकुचित अर्थ नहीं समझना चाहिये किन्तु राजा, प्रजा और राष्ट्रका परस्पर सम्बंध जिस संस्थाके द्वारा निश्चित होता है उस संस्थाके संपूर्ण ज्ञानका द्योतक यह शब्द है। किसी राष्ट्रकी प्रजाके प्रति राजाके व्यवहारको बतलानेवाले शास्त्रको तो व्यावहारिक राजनीति शास्त्र (Practical Politics) कहते हैं। इसका दूसरा नाम राजधर्मशास्त्र भी है। इस संकुचित अर्थवाले शास्त्रके और संपूर्ण मानवीय संस्थाका ज्ञान करानेवाले अत्यंत विस्तृत समाजशास्त्र (Sociolgy) के मध्यवर्ती शास्त्रको राजनीति शास्त्र (Politics) कहते हैं।

उत्क्रांति जैसे एकाध मूलतत्वके अनुरोधसे सम्पूर्ण समाजका गतिस्थितिका बोध करानेवाला समाज शास्त्र स्वभावतः इतना स्थूल होता है कि उससे व्यावहारिक सूक्ष्म नियम निश्चित नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार केवल

विशिष्ट परिस्थितिसंबंधी व्यावहारिक नियमोंसे भिन्न भिन्न रूपोंमें स्थायी रीतिसे रहनेवाली किसी संस्थाके मूलतत्वोंका निश्चय नहीं हो सकता। ये नियम स्वभावतः अनुभव द्वारा निश्चित किये हुए और उपपत्ति रहित होते हैं।

इन सब शास्त्रोंका परस्पर सम्बन्ध समझनेके लिये वैद्यक शास्त्रका उदाहरण उत्तम होगा। वैद्यक शास्त्रके साधारणतया तीन भाग होते हैं। मनुष्य शरीरके भिन्न २ भागोंका वर्णन, अस्थि, स्नायु, मज्जा, नाड़ी आदि का परिज्ञान और औषधियोंके साधारण गुणधर्मका जिसमें विवेचन होता है उसे शरीरविज्ञानशास्त्र अथवा औषधि-विज्ञान शास्त्र कहते हैं। वैद्यक शास्त्र का यह भाग समाजशास्त्रके समान स्थूल है। केवल इसी भागके ज्ञानसे रोगके कारण उनका निदान और उनकी चिकित्सा नहीं मालूम हो सकती उसके लिये निदान और चिकित्साशास्त्र सीखना चाहिये। यह वैद्यक शास्त्रका दूसरा भाग है जो राजनीतिशास्त्र (Politics) के समान है। वैद्यक शास्त्रका एक तीसरा भाग और है। जिसके द्वारा वैद्यक शास्त्रकी उपपत्ति आदिका ज्ञान न होते भी नुस्खे वगैरहका ज्ञान होता है। और उसके द्वारा रोग अच्छे भी हो जाते हैं। इस भागकी तुलना व्यावहारिक राजनीति शास्त्रसे की जा सकती है। इस उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज शास्त्र अधिक व्यापक रूपसे उपयोगमें आता है अर्थात् भिन्न भिन्न समाज साधारणतया जिन तत्वोंपर चल रहे हैं उनका औपपत्तिक ज्ञान इस शास्त्रके द्वारा होता है परन्तु उसके कालविशेषमें होनेवाले परिणामोंको जाननेके लिये मुख्यतः राजनीतिशास्त्र ही की आवश्यकता होती है और व्यावहारिक राजनीतिशास्त्र तो बहुत ही अधूरा है।

यहांपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि जब इतिहास समाजके नियमोंका ज्ञान करा सकता है तो उस मनुष्यप्राणि, जो कि समाजका एक अंग है, की प्रवृत्तियोंका ज्ञान वह क्यों न करा सकेगा? यह कहना किसी अंशमें ठीक भी है। क्योंकि जिसप्रकार मनुष्य अपनी कृतिसे परंपरागत समाजकी रचना पर परिणाम कर सकता है उसी प्रकार समाज भी मनुष्यकी कृतियोंका नियामक होता है। मनुष्य जिस समाजमें होता है उस समाजकी कल्पनाके बाहिरका कार्य उस मनुष्यकी कल्पनासे नहीं हो सकता। ऐसी दशा होते हुए भी उक्त आक्षेप सर्वांशमें ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि

समाज, मनुष्यजातिका बहुत स्थूल विभाग है। उसमें विकार बहुत जल्द नहीं हो सकते और इसलिये उसके विकारोंकी पद्धति भी शीघ्र-तया निश्चित की जा सकती है। परन्तु मनुष्य, प्राणीसमाजका एक बहुत छोटा भाग होनेके कारण वह सहजमें विकृत हो सकता है। और इस कारण उसकी कृतिमें भी अगम्य अंतर पड़ सकता है। यह बात एक स्पष्ट उदाहरणके द्वारा समझी जा सकती है। जैसे कि हिन्दू समाज साधारण-तया स्वभावसे ही परधर्मसहिष्णु है और इसलिये बलात्कारपूर्वक किसी अन्य धर्मानुयायिको हिन्दू बनानेकी कल्पनाके वह विरुद्ध है। ऐसी दशामें यह समाज अपना स्वभाव छोड़ एकदम तलवार हाथमें लेकर दूसरोंको हिन्दू बनावेगा यह बहुतही दुःसाध्य है। इतिहास भी यही बतला-वेगा कि हिन्दू समाजके द्वारा बलात्कारपूर्वक धर्मप्रचारका कार्य नहीं हो सकता। परन्तु यह बहुत शक्य है कि एकाध हिन्दू धर्मानुयायि, यह समझ कर कि यदि दूसरे धर्मवालोंको हिन्दू नहीं बनाया जायगा तो हिन्दू धर्म रसातलको चला जायगा, समय आने पर परधर्मियोंको बलात्कारसे हिन्दू बनावे। इस परसे यह सिद्ध होता है कि केवल इतिहाससे जिस प्रकार समा-जकी कृतिका निश्चित ज्ञान हो सकता है उस प्रकार व्यक्तियोंकी कृतिका ज्ञान नहीं हो सकता। महावीर, बुद्ध, महम्मद, क्राइस्ट, कृष्ण आदिके पहिले यह कहना बहुत कठिन था कि वे अमुक मार्गसे धर्मस्थापना करेंगे। इसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि जगत्‌के किसी भी भागमें उत्पन्न होनेवाला महापुरुष अमुक रूपसेही अवतीर्ण होगा। कभी कभी एकही कारणके भिन्न परिस्थितिमें भिन्न भिन्न परिणाम होते दिखलाई पड़ते हैं। जैसे कि यदि किसी राष्ट्रमें कोई मनुष्य शान्तिके समयमें भी बलके भरोसे सुधारणाके कार्य करने लगे तो उसका परिणाम बिलकुल उलटा होगा, दुर्बल और अनाथ पिस जाएंगे। परन्तु जब सिरजोर-बलवानका प्रतिकार करनेकी आवश्यकता होगी तब उसी बलकी सहायता लेना पड़ेगी। यूरोपमें मध्यकालीन युगमें शारीरिक बलके तत्व पर अपने संघ बनाकर सरदार लोगोंने इंग्लैंडके राजा जॉनको प्रजास्वातन्त्र्यकी सनद देनेके लिये लाचार किया था। सारांश जिस प्रकार बचनाग नामक वनस्पति प्राणघातक होने पर भी किसी रोगविशेषके लिये लाभदायक होती है उसी प्रकार मानवीय कृतियोंके परिणाम भी समयानुसार भिन्न भिन्न होते हैं। अतएव वर्तमान परि-

स्थितिके ज्ञानके बिना परिणाम निश्चित न हो सकनेके कारण इतिहासके कोरे सिद्धान्तोका, होना न होना बराबरही है।

इस विवेचनपरसे यह बात ध्यानमें आती है कि वर्णनात्मक इतिहास अथवा गत घटनाओंका एकीकरणरूप इतिहास, वर्तमान स्थिति अथवा भविष्य स्थितिमें किस प्रकार व्यवहार किया जाय? यह बतलानेमें असमर्थ है। इसके लिये इतिहासके साथ साथ राजनीतिशास्त्रकी भी आवश्यकता है। अब इस पर भी विचार करना उचित है कि किसी व्यक्तिविशेषको नित्यके व्यवहारोंमें इतिहाससे कितनी सहायता मिल सकती है।

तत्ववेत्ता कार्लाइलने कहा है कि मनुष्यके जीवनमें अत्यंत महत्त्वकी बात उसके ध्येयका चुनाव है। अपनेको कौनसी बात अन्तमें प्राप्त करना है इसका निर्णय किये बिना मनुष्य आगे कदम ही नहीं बढ़ा सकता। जर्मन कवि गटे कहता है कि "जीवन केवल विचारमय ही नहीं होना चाहिये किन्तु कृति पूर्ण होना चाहिये।" इसी प्रकार मैथ्यू व अर्नाल्डने भी लिखा है कि "कमसे कम जीवनका पौन भाग कर्तव्यपूर्ण होना चाहिये।" ऐसी दशामें यह विचार करने पर कि ध्येयका चुनाव करनेमें इतिहास कहांतक सहायक हो सकता है, यह मालूम होगा कि इतिहास जिस प्रकार यह नहीं बतला सकता कि किस मार्गसे जाना उचित है, उसी प्रकार वह यह भी नहीं बतला सकता कि अमुक मार्गसे ही जाना क्यो उचित है? और अमुकसे जाना क्यों उचित नहीं है?। इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तिका वीर गंभीर चरित्र पढ़नेसे मनुष्यके मन पर एक प्रकारका उत्तेजक परिणाम होता है। उस व्यक्तिका महान परिश्रम, उसकी सहिष्णुता, संकटके समयमें स्थिर अंतःकरण रखने योग्य धैर्य, अपजयमें उद्विग्नता न आने देकर जयप्राप्तिके समयमें हर्षातिरेक न होने देने योग्य मनःप्रभुत्व आदि बातें उस व्यक्तिके चरित्र पढ़नेवालेके मनमें सरसराहट पैदा कर देती हैं और उन्हें अनुकरण करनेमें सहायता देती हैं। हेनिबॉलने अपने पिताके द्वारा रोमन साम्राज्यके विरुद्ध लड़नेवाले कार्थेजके वीरोंकी कीर्ति सुनकर केवल सात वर्षकी अवस्थामें अपने देशके लिये रोमन साम्राज्यसे लड़नेकी प्रतिज्ञा की। महाराजा शिवाजीको महाभारतकी कथाओंसे आगेके पराक्रमोंकी स्फूर्ति उत्पन्न हुई। इसी तरह अनेक अवतरे

योद्धाओंमें भी एक अंगरेज कविके कहे अनुसार * राजसत्ता अथवा धर्म सत्ताके अत्याचारोंको वज्रमुष्टिसे नष्ट करनेवालोंके हम वंशज हैं और इस लिये हम भी उनके अनुसार व्यवहार करेंगे, इस उदात्त भावनापूर्वक स्वार्थत्याग-की प्रेरणा अनेक बार हुई है। यह सब ठीक है परंतु दुर्दैवसे इस प्रकारके इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति सदाही सद्गुणोंके आदर्श नहीं होते। पराक्रम, धैर्य, शौर्य, आदि गुण जिस प्रकार सत्कार्यके पोषक है उसी प्रकार असत्कार्यके भी पोषक हैं। ऐसी दशामें इन गुणोंके कारण इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियोंके गुणोंपर लुब्ध हो जानेसे उन गुणोंके समान उनकी दुष्ट महत्वाकांक्षाका भी परिणाम पाठकोंके मन पर होनेका भय रहता है। यूरोपकी जनसमाज जिस संस्थापकके नामसे प्रसिद्ध है उस यीशु क्राइस्टको, संपूर्ण यूरोपको पादाक्रान्त कर अपनी महत्वाकांक्षाके रथके नीचे सब प्रकारके स्वातंत्र्यको चूर डालनेवाले नेपोलियन बोनापार्टसे भी आधा सम्मान नहीं देता। इसका कारण कोई गूढ़ नहीं है। प्रत्यक्ष है। यीशु क्राइस्टका संतचरित्र बुद्धिगम्य है। परंतु नेपो-लियनके कृत्योंका तेज, मनोविकारोंको उद्दीपन करता है। सिकन्दर बादशा-हके पराक्रमसे ही नेपोलियनमें स्फूर्ति उत्पन्न हुई। ज्यूलियस सीजरका खून करनेवाले उदार परन्तु अपमार्गगामी ब्रूटसके उदाहरणने फ्रान्सकी राज्य-क्रान्तिके समयमें शार्लट कार्डेके समान स्त्रीको राज्यक्रान्तिके एक पुरस्कर्ताका खून करनेको प्रवृत्त किया। इसी तरह महम्मद पैगम्बरके धर्मस्थापनाके कृत्योंका विपर्यास कर औरंगजेब सरीखे धर्मोन्मत्त बादशाहने सम्पूर्ण प्रजा पर जुल्म कर बादशाहतके अनेक शत्रु उत्पन्न कर लिये और अन्तमें उसे नष्ट करनेकी औरंगजेबको बुद्धि हुई।

इससे सिद्ध होता है कि जीवनका साध्य निश्चय करनेमें इतिहासकी योग्य सहायता नहीं मिलती और इसी प्रकार साध्यकी कार्य-कारणचिकित्साकी भी इतिहास सहायता नहीं कर सकता। नीतिशास्त्रकी जो यह कार्यकारणपरंपरा ठहरी हुई है कि सद्गुणोंका परिणाम शुभ होता है और असद्गुणों अथवा दुष्कृ-त्योंका परिणाम अशुभ, वह परंपरा इतिहासमें कभी २ उलटे सुलटे रूपमें

* We are the son's of that Sires that
Defied crowned and mitred tyranny.
......................So will we

दिखलाई देती है। अर्थात् इतिहासके उदाहरणोंमें दुर्गुणोंकी जय होती है और सद्गुण मिट्टीमें मिल जाते हैं। जगत्के सत्पुरुषोंकी श्रेणीमें अग्रस्थान प्राप्त करनेवाले महाराणा प्रतापको अंतमें जंगलमें मरना पड़ा। और जीवित मनुष्यकी खाल खींचकर मनोविनोद करनेवाले महम्मद गजनवी राज भोगते हुए मरा। यीशु क्राइस्टको क्रूस पर लटक कर जगत्को अन्तिम संदेश पहुंचाना पड़ा और जिस समय संपूर्ण रोम शहरमें आग लगी हुई थी उस आगीके कारण रोने और बिलबिलानेवाले मनुष्योंके स्वरोंपर अपनी बंसी बजानेवाला रोमका बादशाह नीरो, अनेक बार प्राणघातक षड्यन्त्रोंसे बच गया। यह उदाहरण दिखलाते हैं कि इतिहास नीतिशास्त्रके तत्वोंकी साक्षी पूर्ण रूपसे नहीं दे सकता। इस जन्ममें किये हुए पापोंका भयंकर फल इस-जन्ममें नहीं तो भविष्य जन्ममें पापी पुरुषोंको अवश्य मिलेगा और साधु-पुरुषोंको शान्ति व सुखकी प्राप्ति होगी, यह सिखानेवाले तत्वज्ञानके अभावमें तथा कौनसी परिस्थिति दुर्गुणोंकी पोषक और सद्गुणोंकी बाधक है, इस वर्तमानकालके ज्ञानके अभावमें केवल इतिहासकी शिक्षा, उक्त गूंथको सुलझानेमें बिलकुल निरुपयोगी है। अमेरिकाकी स्वतन्त्रताके जन्मदाता जार्ज वाशिंगटनकी बाल्यावस्थाकी एक बात कही जाती है कि वाशिंगटनने अपने पिताके बगीचे का उनका अत्यंत चहाता झाड़ एक दिन कुल्हाड़ीसे काट डाला। जब उनके पिताने देखा और क्रोधित होकर पूछा कि "यह किसने काटा"? तो वाशिंगटनने बिना किसी प्रकारकी चपलताके शान्तिसे कह दिया कि यह मैंने काटा है। जार्जकी इस सत्यप्रियतासे उसके पिता बहुत प्रसन्न हुए और बहुत प्रशंसाकी। इतिहासकी यह बात बिलकुल सत्य है। परन्तु इसी प्रकारकी सत्यप्रियताके कारण कितनेही बालकोंकी पीठ छड़ीकी मारसे लाल भी होगई होगी। संस्कृतमें एक यह श्लोक है कि "समुद्रमथनाल्लेभे हरिर्लक्ष्मीम् हरो विषम्" अर्थात् समुद्रमथनसे हरिको लक्ष्मी प्राप्त हुई और हर-शंकरको हलाहल मिला। सृष्टिमें नित्य प्रति आनेवाले ऐसे प्रसंगोंके समय केवल इतिहास, कार्य कारण भाव स्पष्ट करनेमें लंगड़ा है यह सिद्ध होता है। जर्मन तत्ववेत्ता हेगेलने भी इसी प्रकारके उद्गार निकाले हैं। वह कहता है कि "जिस समय अपने भूतकालका विचार करते हैं उस समय अपनी आंखोंके आगे वर्तमानकाल भी खड़ा रहता है। मनुष्यको अनेक उदाहरणों परसे जो नीतिके सिद्धान्त सूझते हैं वे वर्तमान

बातों परसे ही सूझते हैं। और उनके कारण भूतकालके अस्थिपंजरमें एक प्रकारकी नवीन प्राणप्रतिष्ठासी हो जाती है ❀। कई बार कुछ ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके उदाहरणोंके रूपसे राष्ट्र, राजा अथवा मुत्सद्दियोंके चरित्र हमारे आगे रखे जाते हैं परन्तु उन उदाहरणों पर यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो मालूम होगा कि उन चरित्रोंमें ऐसे कुछ विशेष प्रसंग थे और ऐसी कोई विशेष परिस्थिति थी कि उन सबके मिलनेसे वह उदाहरणस्वरूप व्यक्ति प्रगट हो सकी। किसी भी कालकी परिस्थितिमें कोई एकाध सिद्धान्त, मार्गदर्शकका काम करनेमें अधूरा होता है। भूतकालमें ऐसी कोई घटना नहीं मिल सकती जिसकी कि हूबहू नकल वर्तमानकालकी घटनाओंमें हुई हो।" इसी प्रकारका कथन क्रोचे नामक तत्ववेत्ताने भी किया है। वह अपने "इतिहासकी तत्वमीमांसा" नामक ग्रंथके प्रारम्भमें ही लिखता है कि "इतिहास और वर्तमान कालका परस्परसंबंध कभी न छूट सकेगा।

❀ "When we have to deal with the past, a present rises into being before our mind Didactic reflections, though in their nature decidedly abstract, are truly and indefeasably of the present, and quicken the annals of the dead past with the life of today Rulers, statesmen and nations are wont to be emphatically commended to the teachings, which History offers But each period is involved in such particular circumstances, exhibits a condition of things so strictly idiosyncratic, that its conduct must be regulated by conditions connected with itself and itself alone Amidst the pressure of general events a single general principle gives no help. It is useless to revert to exactly similar facts and circumstances in the past "

Hegel's Philosophy of History, Introduction.

इतिहास वर्तमान कालपर संपूर्णतया अवलंबित है"* "गणितशास्त्रका बीजगणित एक भेद है। इस गणितके उदाहरणमें कुछ भाग ऐसे होते हैं जिनकी संख्या ज्ञात होती है और कुछ भाग अज्ञात होते हैं। जिन्हें उदाहरण हल करते समय क्ष, य, इत्यादि संज्ञाओंसे संबोधित करते हैं। इन दोनों ज्ञात व अज्ञात भागोंसे बीज गणितके उदाहरण हल किये जाते हैं। अंतमें जब उदाहरण हल हो जाते हैं तब उस अज्ञात भागकी भी व्यावहारिक संख्या मालूम हो जाती है। उसी प्रकार आयुष्य भी वह चाहे एक व्यक्तिकी हो अथवा समाजकी हो—बीज गणितके समान है। इतिहासके द्वारा सिखाये हुए सिद्धान्त, उस का ज्ञात भाग है और वर्तमानकालकी परिस्थिति, उस व्यक्तिकी व समाजकी मनोरचना आदि बातें, पूर्ण विचार होने तक अज्ञात भागमें गर्भित होती हैं। और जब इन दोनोंके द्वारा आयुष्यकी गणित हल हो जाती है तब दोनोंका वास्तविक मूल्य मालूम होजाता है। मनुष्यका स्वभाव चपटे कांच के समान एकरंगी नहीं है। परन्तु वह अनेक पहलूदार कॉचके झूमरके समान है जिसमें अनेक रंग दिखलाई पड़ते हैं। उन रंगोंमेंसे ऐतिहासिक शिक्षाके संस्कारोंका भी एक रंग है। अर्नेस्टबार्कर नामक ग्रंथकारने भी अपने ग्रंथ "स्पेन्सरके समयसे आजतककी राजकीय विचार-क्रांति" में इसी प्रकारके उद्गार प्रगट किये हैं। वह लिखता है कि "मनुष्य स्वभाव, किसी अंधेरी कोठरीमें बैठी हुई एकान्ती व्यक्तिके समान नहीं है। किन्तु उसका वर्तमान परिस्थिति, सृष्टिव्यवहार, सामाजिक बंधन, कायदेकी श्रृंखला, ऐतिहासिक शिक्षा और पूर्वकालीन संस्थाओंसे दृढ़ सम्बन्ध है।"×

इस प्रकार किये हुए सूक्ष्म विचारो परसे यह सिद्ध होता है कि केवल भूतकालकी विवरणी होनेकी दृष्टिसे इतिहास विशेषतया उपयोगी नहीं है इतिहासके पुरस्कर्ताओंका एक और पक्ष है। इस पक्षका कहना है कि केवल भूतकालकी घटनाओंका क्रमशः विवरण रखनेवाली ऐतिहासिक पद्धतिसे

* "History cannot be seperated from the present but entirely depends on reality

Hegel's Philosophy of History, Lecture I.

× Earnest Barkar's Political Thought from Spencer to-day. Chapt. I

व्यवहारमें सहायता न मिल सकनेकी बात ठीक भी हो तो भी तत्त्व मीमांसक दृष्टिसे लिखा हुआ इतिहास उक्त त्रुटि अवश्य पूर्ण कर सकता है। इस प्रकारकी पद्धतिसे लिखे हुए इतिहासमें प्रत्येक समयकी परिस्थितिका विश्लेषण कर वह परिस्थिति नैतिक सिद्धान्तकी पोषक थी अथवा मारक और उसका परिणाम अच्छा या बुरा क्यों और किस तरह हुआ इत्यादि बातोंकी चिकित्सा की जाती है। अर्थात् वर्तमानकालमें जो २ भिन्न भिन्न परिणाम होसकते हैं, उनका विश्लेषण व उनके मिश्रणका परिणाम यदि सप्रमाण सन्मुख रखा जा सके तो फिर इतिहास लिखनेकी इस पद्धतिमें दोष कहाँ रह सकता है? गिबन, ह्यूम, ग्रोट, ग्रीन, मेकाले, कार्लाइल वगैरह लेखकोंने इसी पद्धतिसे इतिहास लिखा है। इतिहासशास्त्रवेत्ताओंने इतिहासलेखनके साधारणतः तीन भेद किये हैं। पहिला वर्णनात्मक (Descriptive), दूसरा विवेचनात्मक (Reflective) और तीसरा मीमांसात्मक (Philosophical)। इनमेंसे वर्णनात्मक इतिहासमें ऊपर लिखे हुए दोष हो सकते हैं; परन्तु दूसरे और तीसरे प्रकारके इतिहासोंमें उन दोषोंको स्थान नहीं मिल सकता। अतएव इतिहासके उक्त दोनो भेद सुधारणाके तत्त्व समझनेके योग्य माने जा सकते हैं। संस्कृत साहित्यमें पंचतंत्र नामक एक छोटासा ग्रंथ है। इस ग्रंथमें छोटीर काल्पनिक कहानियाँ दी गई हैं। और उन कहानियोंके अंतमें उनसे निकलनेवाली शिक्षायें दी गई हैं। इस ग्रंथके बननेकी कथा इसी ग्रंथकी प्रस्तावनामें इस प्रकार लिखी है कि एक राजाके मूर्ख लड़कोंमें किसी भी शास्त्रके पढ़नेसे चतुरता नहीं आती थी। तब इस ग्रंथके रचयिता विष्णु शर्माने वे लड़के राजासे माग लिये। और फिर उन्हें इस पंचतंत्र ग्रंथके द्वारा व्यावहारिक ज्ञानकी शिक्षा देकर उन्हें पूर्ण चतुर बना दिया। इसी प्रकार वर्तमान परिस्थितिके गोरख धंदेको सुलझानेवाला इतिहासरूपी शिक्षक पाठकोंको कैसे चतुर न बना सकेगा? प्रसिद्ध अमेरिकन तत्त्वज्ञानी एमर्सन साहबने इतिहासके एक स्वरूपका चित्र खींचा है कि + "अब इतिहास, एक रूखे समाचारोंकी बही मात्र नहीं रहेगा किन्तु

+ History no longar shall be a dull book It shall walk incarnate in every just and wise man ..... It shall be the Priest of Pan ....then it will truly express our central and wide-related nature,

Emerson's "Essay on History."

वह एक जीवित धर्मगुरुके समान मनुष्यजातिको उपदेश देता हुआ भ्रमण करेगा। और ऐसी दशामें इस असीम और बड़े भारी जगत्‌का रहस्य अवश्य खुलेगा" इस प्रकार यदि इतिहासके स्वरूपमें परिवर्तन हुआ तो फिर जगत्‌के रहस्यका स्फोट हुआ ही समझना चाहिये।

ऐतिहासिकोंका यह कथन देखने में तो ठीक मालूम होता है। परन्तु इसका उत्तर इसीमें सूक्ष्म विचार करनेपर मिल जाता है। इस पद्धतिके इतिहासपुरस्कर्ता, पूर्वकालीन परिस्थितिका विश्लेषण कर और उसे हृदयमें जमाकर इतिहासके प्रमेय सिखलाना उचित समझते हैं। परन्तु पूर्वकालीन परिस्थितिका विश्लेषण किस प्रकार किया जा सकता है, इसका विचार करनेसे झट स्पष्टतया समझमें आजायगा कि इस कार्यके लिये भी वर्तमानकालके ज्ञानकी ही अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक कल्पना और राजकीय संस्था, सब नित्य बदला करती है। और ऐसी दशा में वर्तमान कालके लोगोंका इन बातोंको समझनेके लिये एकदम उछल कर गतकालमें चले जाना शक्य नहीं है। किंतु वर्तमान घटनाओंकी करीब करीब समान उपमायें पहले दे जानी जासकती हैं। मनुष्यके ज्ञानकी जो प्रगति होती है, वह सदा परिचित वस्तुओंकी सहायतासे अज्ञात बातोंके आकलन करनेकी ओर ही होती है। जब छोटे छोटे बालकोंको जगत्‌की वस्तुओंका ज्ञान कराया जाता है तब भी इसी पद्धतिके द्वारा कराया जाता है। वास्तविक सिंह न देखे हुए लड़केको मिट्टीके सिंहके द्वारा उसके अवयवोंका ज्ञान कराते हैं। और फिर किसी सर्कसमें या अजायब घरमें उस बालकको पहिले कभी न देखे हुए वास्तविक सिंहका ज्ञान पहिले के मट्टीके सिंहके द्वारा करा देते हैं। भवभूति कविके उत्तर रामचरित नामक नाटकमें भी एक इसी प्रकारका मजेदार वर्णन है। जब कि अश्वमेधका घोड़ा फिरता फिरता वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें आया तब ऋषिकुमारोंको बहुत कौतुक हुआ। क्योंकि उन्होंने इसके पहिले घोड़ा नामक पशु देखा नहीं था। उन कुमारोंमें से कुछ कुमार अन्य ऋषिकुमारोंको उस घोड़ेका वर्णन सुनाने लगे। उन कुमारोंने आश्रममें रहकर गाय, बैल आदि जिन पशुओंको देखा था और जिन बातोंसे उनका परिचय हो गया था उन्हीं बातोंकी सहायतासे उन कुमारोंने उस समय उस घोड़ेका वर्णन किया था। आजकलके अनुमान और उपमानकी पद्धतिमें भी इसी तरहका

अवलंबन किया गया है। नित्य सम्बंधमें रहनेवाले रसोई घरके ज्ञानसे पर्वतके धूमको देख कर अज्ञात वह्निका निष्कर्ष निकालना और उत्तर राम-चरितकी उक्त कथाके अनुसार परिचित वस्तुओंपरसे घोड़ेका उपमान करना, इन दोनों उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानका ओघ ज्ञात वस्तुओंसे अज्ञात वस्तुओंकी ओर जाता है। इसी तरह इतिहासके तत्त्व भी यही बतलाते हैं कि वर्तमानकालहीसे भूतकालकी ओर ज्ञानका ओघ जाता है। क्योंकि वर्तमानकाल ज्ञात वस्तु है और भूतकाल अज्ञात है। और इस परसे यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्वमीमांसक इतिहासशास्त्रके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार वर्तमानकालके ज्ञानके सिवाय केवल इतिहाससे सृष्टिका गोरख धंधा नहीं सुलझाया जा सकता। वह तो वर्तमान परिस्थितिके ज्ञान पर ही अवलंबित रहता है। यहां पर एक दो उदाहरण देनेसे इस विवेचन पर अधिक प्रकाश पड़नेकी संभावना है। 'मत' धन पर विचार करना उचित है। प्राचीनकालमें रोम साम्राज्यमें सम्मिलित कुटुम्बकी पद्धति थी। कुटुम्बके मूलपुरुषकी सत्ता संपूर्ण कुटुम्ब पर चलती थी। और पुत्र, लड़की, बहू आदि सबको शामिल रहना पड़ता था। लड़के, लड़कियोंको मूलपुरुष रहने तक किसी भी प्रकारकी स्वतंत्रता नहीं होती थी। वे जो धन कमाते थे वह सब सम्मिलित कुटुम्बका समझा जाता था और कुटुम्बका मुखिया उन्हें जो देता उसी पर उन्हें अपना निजी खर्च चलाना पड़ता था। इस प्रकारकी पद्धतिमें हानि और लाभ दोनों थे। आजकल पाश्चात्य पद्धतिके अनुसार प्रत्येक वय प्राप्त व्यक्तिको जो स्वातंत्र्य प्राप्त है वह रोमन कुटुम्बमें नहीं था। वहां कुटुम्बके मुखिया व्यक्तिको कुटुम्बके लोगोंको शारीरिक शिक्षा देनेका भी अधिकार रहता था परन्तु इनके साथ साथ संकटसमयमें सहायता, रोगीकी शुश्रूषा और परस्पर मदद करनेके भाव भी उनमें अधिक होते थे। वर्तमानमें पाश्चात्य राष्ट्रोंमें इस पद्धतिका अवशेष अंश भी देखनेको नहीं मिलता। फिर भूतकालकी इस स्थितिका यथार्थ ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? और उसके द्वारा होनेवाला हानि लाभ भी कैसे जाना जा सकता है? इसका एकही उपाय है वह यह कि जहाँ यह पद्धति प्रचलित हो वहाँकी परस्थितिकी तुलनासे यह ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। इस दृष्टिसे देखने पर विदित होगा कि हिन्दुस्तानके हिन्दू कुटुम्बोंमें रोमन साम्राज्यकी उक्त पद्धतिसे बहुत कुछ अंशोंमें मिलती जुलती पद्धति प्रचलित है। 'बहुत कुछ अंशोंमें' कहनेका

तात्पर्य यह है कि इन दोनोंमें कुछ अंतर भी है। कायदेकी दृष्टिसे हिन्दू कुटुम्बके प्रत्येक व्यक्तिको कुछ स्वतंत्र अधिकार भी प्राप्त हैं। यदि लड़का अपने पिताके साथ रहना न चाहे तो वह पूर्वजोपार्जित संपत्तिमेंसे अपना हिस्सा लेकर न्यारा रह सकता है। भाई भाईका हिस्सा बाँट हो सकता है। कुटुम्बके मुखियाको छोटे बालकोंके सिवाय अन्य किसीको शारीरिक दंड देनेका अधिकार नहीं है। इत्यादि अंतर दोनो देशोंकी पद्धतिमें कायदेकी दृष्टिसे हैं। परन्तु जब तक कायदेके अनुसार दिये हुए अधिकारोंको अमलमें लाकर कुटुम्बके मनुष्य स्वतन्त्र नहीं हो जाते तब तक रूढ़िके अनुसार प्रचलित स्थितिमें रोमन कुटुम्ब और हिन्दू सम्मिलित कुटुम्ब प्रायः समान हैं। अतएव इस वर्तमानकी स्थितिके ज्ञानकी तुलनासे ही भूतकालकी अज्ञात संस्थाका यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यदि दूसरा उदाहरण और देखना हो तो गुलामीकी प्रथाका उदाहरण पर विचार करना उचित होगा। अँगरेज सरकारकी महत्कृपासे अब यह प्रथा नामशेष होगई है। अतःपहिलेकी गुलामीकी स्थितिके सम्बन्धमें यथार्थ कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्यके समान हाथ, पाँव, इन्द्रिय, बुद्धि मन, आदि रखनेवाला प्राणी उसकी इच्छाके विरुद्ध बेच दिया जाता था, इसकी कल्पना आजके वैय्यक्तिक स्वातंत्र्यके कालमें किस प्रकार हो सकती है? परन्तु वर्तमानमें पशुओंकी स्थितिसे तुलना करके हम भूतकालके गुलामोंकी स्थितिकी कल्पना कर सकते हैं। इस तरह वास्तवमें देखा जाय तो पूर्वस्थितिके ज्ञानसे वर्तमान स्थितिका ज्ञान होना तो दूर रहा अनुभवमें न आ सकनेके कारण उसका आकलन भी नहीं किया जा सकता। उस पर वर्तमानकालकी परिस्थितिके ज्ञानसे ही प्रकाश पड़ता है और इस दृष्टिसे देखने पर इतिहासकारोंके कहनेके अनुसार इतिहासका महत्त्व सिद्ध नहीं होता। निश्चित सिद्धान्तोंका उस कालकी परिस्थितिके अनुसार जो विश्लेषण करना पड़ता है जिसके कि कारण सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण होता है, वह विश्लेषण वर्तमान कालकी सहायतासे ही होता है अतएव हमारे ऊपर कहे अनुसार इस प्रश्नका निराकरण इस प्रश्नहीमें गर्भित है।

इसके सिवाय इतिहासके पक्ष लेनेवालोंका यह कहना है कि तत्त्वविवेचक इतिहास पद्धति परिस्थितिके अनुसार सिद्धात निश्चित करती है। यहाँ इस पर यह प्रश्न होते हैं कि क्या यह सिद्धान्त केवल गत कालके ज्ञानके कारण ही निश्चित होते हैं? और गत कालके ज्ञानके अभा-

थमे क्या इस प्रकारके सिद्धान्त निश्चित नहीं हो सकते ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें सिवाय " नहीं " कहनेके दूसरा मार्ग ही नहीं है। क्योंकि इन सिद्धान्तोंके उदाहरणोंकी परीक्षा करनेपर मालूम होगा कि उनके स्वरूपकी चिकित्सा प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतःकी बुद्धिके द्वारा गतकालके ज्ञानके विना भी कर सकता है। उदाहरणके लिए एक दो सिद्धान्तों पर यहाँ विचार करना उचित होगा। एक सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रमें भोगविलासकी वासना प्रबल होजाने पर उस राष्ट्रकी अवनतिका प्रारंभ हो जाता है "। दूसरा सिद्धान्त यह है कि लोकसत्ताक पद्धतिका सीमातिरेक होने पर उसका पर्यवसान और भी अधिक अत्याचारपूर्ण राजपद्धतिमें होता है। स्वातंत्र्यकी रुचि थोड़ीसी भी होने पर वह समाधानकी अपेक्षा असमाधान ही अधिक उत्पन्न करती है। ये प्रमेय इतिहासद्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्त कहे जाते हैं। इन तत्वोंकी थोड़ीसी परीक्षा करनेपर मालूम होगा कि इतिहासके सिवाय भी इनकी सत्यता सिद्ध हो सकती है। भोगविलासकी वासना प्रबल हो जानेसे जो राष्ट्रकी अवनति होती है, इसका कारण यह नहीं है कि इतिहास हमें यह पाठ सिखलाता है किन्तु भोगविलासके प्रबल हो जानेसे समाजमें जो स्वार्थ, कलहादि, क्षुद्रबुद्धि आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे कि समाजके बन्धन शिथिल हो जाते हैं। और जिस प्रकार लकड़ीकी बंधी हुई मोली खोल देने पर लकड़ियाँ विशृंखलित हो जाती हैं उसी प्रकार बन्धन टूट जाने पर समाज भी विशृंखलित हो जाता है और यही कारण है जो भोगविलासकी प्रबलता राष्ट्रकी अवनति करती है। दूसरे सिद्धान्तके अनुसार स्वातंत्र्यके सीमातिरेकसे जुल्म होनेका कारण यह नहीं है कि भूतकालमें इस प्रकारका जुल्म हो चुका है, किन्तु प्रत्येक मनुष्यके स्वतंत्र होनेकी इच्छासे एकका जूता दूसरेके पाँवमें होनेकी बारी आनेकी संभावना है। और उससे फिर एक दूसरेको गिरानेका प्रयत्न करने और उन प्रयत्नोंके कारण जुल्म होनेकी बहुत कुछ संभावना की जासकती है। गणितमें दो और दो मिलकर चार होते हैं यह स्वतःसिद्ध तत्व है। पहिले कालमें दो और दो मिलकर चार हुए हैं इस लिये ही अब चार होते हैं, यह कल्पना फिजूल है। गतकालकी घटनाएं केवल उदाहरण हैं और अपना निश्चय दृढ़ करनेके लिये हम उन्हें स्वीकार करते हैं। गतकालके उदाहरण देनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि प्रत्येक विषयके वर्तमानकालमें उदाहरण मिलना शक्य नहीं है। अर्थात् प्रतिदिन राज्यक्रान्ति अथवा धर्मक्रान्ति

होनेकी सभावना नही है। अत: हमें भूतकालके उदाहरण लेना पडते हैं। और वास्तवमें देखा जाय तो इतिहासका उपयोग भी यही है। इतिहास कोई नवीन तत्व नहीं सिखलाता। किन्तु वर्तमानकालके अनुभव परसे जो तत्व निकाले जाते हैं उन्हें भूतकालके उदाहरणोंसे दृढ करता है। पीछे न्यायशास्त्रकी अनुमानपद्धतिका उल्लेख किया गया है। इस पद्धतिका एक सामान्य दृष्टान्त है कि पर्वत पर धूम दिखलाई पडता है अत वहाँ अग्नि है। परन्तु इस अनुमानका कारण इतिहास नहीं है। किन्तु धूम और अग्निका वर्तमानकालमें जो नित्य सम्बन्ध हम देख रहे हैं वह इस अनुमानका कारण है। पहिलेके देखे हुए इस प्रकारके उदाहरणोंसे हमारे अनुमानकी केवल पुष्टि होती है। इस दृष्टान्तके अनुसार मनुष्यको अपने पहिले अनुभवोंका जितने अशोंमें उपयोग होता है उतनेही अशोंमें इतिहासका उपयोग समाज अथवा राष्ट्रको होता है। मनुष्यके आयुष्यकी अपेक्षा समाज अथवा राष्ट्रका आयुष्य बहुत अधिक होता है। अत जिस तरह मनुष्यको अपने अनुभवके प्रमेयोंकी पुष्टिके लिये अपने जीवनके पिछले वर्षोंकी शोध करना पडती है उसी प्रकार राष्ट्रके वर्तमानकालके अनुभव परसे निश्चित होनेवाले सिद्धान्तोंकी पुष्टिके लिये पीछेकी अनेक शताब्दियोंके उदाहरण ढूंढना पडते हैं। और यही इतिहासका काम है।

इस विवेचन परसे एक और बात ध्यानमें आती है कि यदि इतिहास, भूतकालीन घटनाओंपरसे निश्चित किये हुए सिद्धान्त सिखलाता है तो उन सिद्धान्तोंमेंसे आज बहुतसे सिद्धान्त झूठ होनेके कारण नष्ट क्यों होगये? भूतकालमें भौतिक शास्त्रोंका विकास अधिक नहीं हुआ था। अतएव इस शास्त्रके विकासके कारण आज जो कुछ बातें हमें मालूम हुई हैं वे उस समय अज्ञात थीं। और इसलिये आजकी बातोंको उस समयके लोग जादूगिरी अथवा चमत्कार समझते थे। उन्नीसवीं शताब्दिके पूर्वार्द्धमें जेम्स वॅटने भाफके द्वारा रेलगाडीका एंजिन चलानेका प्रयोग किया था। उस समय उसे लोगोंने जादूगर समझा और उसे जानसे मार डालनेका प्रयत्न भी किया। इसलिए उस बेचारेको बडी सावधानीसे अपना जीव बचाकर रहना पडता था। उस समयके पहिलेके इतिहासमें इस रेलगाडीकी समानता रखनेवाली कोई बात न होनेके कारण यही ऐतिहासिक तत्व माना जाता था कि यह कोई जादूगरीका भेद है। यदि यह माना जाय कि इतिहासनेही यह तत्व सिखाया

कि रेलगाड़ी जादूगिरी है तो वह तत्व आज भी अबाधित रहना चाहिये। परन्तु आजका हमारा अनुभव यह है कि ऐसी बातें शास्त्रीय ज्ञानके द्वाराकी जा सकती हैं। वर्तमानकालके ज्ञान परसे यह विश्वास हो जानेके कारण गत कालके उस जादूगरीके सिद्धान्तकी हँसी उड़ाई जाती है। केवल वर्तमानके अनुभव परसे निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके पोषक उदाहरण भूतकालसे ग्रहण किये जाते हैं। यही इतिहास का कार्य है। मार बंगालके "नेशनल कौंसिल आफ एज्यूकेशन" के इतिहासके प्रोफेसर श्रीयुक्त विनयकुमार सरकारने भी अपने ग्रंथ "इतिहास शास्त्र और मानवीय प्रगति" में इतिहासका यही कार्य बतलाया है। ⊛ वे लिखते हैं कि "एक दृष्टिसे, इतिहास राजनीतिशास्त्रके सिद्धान्तोंकी पुष्टिमें अपने अपार संग्रहालयमेंसे उदाहरण देकर मानवीय ज्ञानकी विविधता और

⊛ History has thus been able on the one hand, to supply out of its general stocks special facts and materials for an altogether new branch of learning, viz. political science, and has thus contributed to the richness and variety of human knowledge But these specialized activities, are likely to withdraw the attention of scholars from the study of the hopes and aspirations of man, the progress of civilization and ultimate gains and losses of humanity. .....No knowledge about man can be complete, unless it is based on a study of all human passions and tendencies, in stitutions and activities. And so history must be incomplete..... .so long as it does not concern itself with the whole of human life.... ...... The Historian therefore will have to use at every step the laws of living organisms."

" The Science of History and the hope of Man-kind " by Benoykumar Sarkar.

संपन्नताको बढ़ाता है। परन्तु यदि इसी बातपर आधार रखा जाय तो साधारणतया मानवीय प्रगतिकी वृद्धि, मानवीय महत्वाकांक्षा और मानवीय साध्यासाध्यताकी ओर विद्वानोंका दुर्लक्ष्य होनेकी संभावना है। मनुष्योंके मनोविकार, उनकी प्रवृत्ति तथा मनुष्यों द्वारा चलाई हुई संस्थाएं और उन संस्थाओंकी प्रचलित कृतियोंके ज्ञानके सिवाय मनुष्यविषयक ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। वह अपूर्ण ही रहेगा और इसी कारणसे मनुष्यजातिके सर्वकालीन व सर्वांगीन आयुष्यकी ओर दुर्लक्ष करनेवाला इतिहास भी अधूरा ही रहेगा। अतएव ऐतिहासिकोंको प्रचलित संस्थाओंका और वर्तमानकालीन ज्ञानका उपयोग पद पद पर करना चाहिये।"

वर्तमानमें जो तत्व प्रचलित हैं और जो ऐतिहासिक तत्व माने जाते हैं उनमेंसे एक तत्वका उदाहरण देकर यह परिच्छेद पूर्ण किया जायगा। इस तत्वकी गतकालकी कल्पनापरसे भासमान होनेवाली सिद्धता वास्तवमें वर्तमानकालके अनुभवपरसे ठहराई गई थी। परिस्थितिके बदलनेही इस सिद्धांतकी सिद्धता किस प्रकार नष्ट हो गई यह इस उदाहरणसे प्रकट होगा। अर्वाचीन तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सरने उत्क्रान्तिवादका अतिशय प्रचार किया है। उत्क्रान्ति शब्द उत् और क्रम–इन दो शब्दोंसे बना है। उत् शब्दका अर्थ है बाहिर और क्रमका अर्थ है चलना। अर्थात् एक विशेष रूपसे वृद्धि करनेको उत्क्रान्ति कहते हैं। जिस तरह कि कली फूल रूपसे उत्क्रान्त होती है, कोंपल पत्तेके क्रमसे उत्क्रान्त होती है और बंदर (उक्त तत्ववेत्ताके मतानुसार) मनुष्य रूपसे उत्क्रान्त होता है। वास्तवमें यह तत्व स्पेन्सरका नहीं है किन्तु फॉनबेअर नामक शास्त्रज्ञने सृष्टिके पदार्थोंका सूक्ष्म अवलोकन कर इसे निश्चित किया था। फॉनबेअरका तत्व यह था कि पदार्थका रूपान्तर होते समय उसकी मूलकी एकविधता (Homogeneity) नष्ट होकर उसे अनेकविधता (Heterogneity) प्राप्त होती है। इसी तत्वका आधार लेकर स्पेन्सरने प्रत्येक शास्त्रको छाना है। और यही प्रगट किया है कि इसी तत्वपर जगतकी रचना हुई है। उसका कहना है कि जिस प्रकार एकविध अथवा अल्पविध रूप कली विकास पाकर पंखड़ियाँ, केसर, गुच्छ आदि अनेकविध होकर पुष्प बन जाती है, बंदरकी एकविध रूप अनुकरणात्मक बुद्धि नष्ट होकर उसके स्थानपर सारासार विचार करनेमें समर्थ

अनेकविध रूप बुद्धिका केन्द्र मनुष्य बन जाता है उसी प्रकार सृष्टिके सर्व पदार्थ नित्य प्रति उत्क्रान्ति करते हैं। स्पेन्सरको अपने इस तत्वकी सत्यताका अनुभव किस परसे हुआ ? । वर्तमानकालकी सम्पूर्ण वस्तुएं उसकी दृष्टिके सन्मुख होनेके कारण उसने उन वस्तुओंकी चिकित्साकी जिससे उसे अपने तत्वकी सत्यताका अनुभव हुआ और उसे ऐसा निश्चय हो गया कि यह तत्व त्रिकालाबाधित है। इतना निश्चित होजाने पर, वर्तमानके वारम्वारके अनुभव परसे सत्य ठहरे हुए इस तत्वको भूतकालसे मिलानेका वह प्रयत्न करने लगा। और पीछेके कुछ कालतक—भूतकालमें—उसके अनुभवकी पुनरावृत्ति होनेसे उसे बहुत कुछ धैर्य मिला और इस तत्वके आधारसेही सृष्टिकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका उसने प्रयत्न किया। परन्तु प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थल व कालकी मर्यादा, सदसद्विवेचक बुद्धिकी व्याप्ति, सौन्दर्य और महत्वकी कल्पना, दुर्गुण और सद्गुणके बीज आदि बातोंकी चिकित्सा जब वह उत्क्रान्तिके तत्वसे करने लगा तब उत्क्रान्ति वादको ऐतिहासिक सिद्धान्तरूप सिद्ध करनेका उसका प्रयत्न निरर्थक हुआ। क्योंकि उक्त बातोंकी सत्यता, प्रत्यक्ष प्रयोगद्वारा जाननेके लिये स्पेन्सरको अवसर मिलना शक्य न होनेसे तथा सृष्टिके आरम्भ कालकी लिखी हुई इस प्रकारकी कोई पुस्तक ढूंढ़नेसे न मिलनेके कारण कि सृष्टिकी उत्पत्ति उत्क्रान्तिके तत्वोंके अनुसार होती है, स्पेन्सरके इस ऐतिहासिक तत्वका मूल्य एक सुन्दर कल्पनाकी अपेक्षा अधिक न हो सका। स्पेन्सरकी इस अनुभव प्रणाली परसे यह सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक तत्वोंके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार ऐतिहासिक सिद्धान्त, भूतकालसे सत्यत्वकी छाप लगवा कर वर्तमान कालमें आई हुई वस्तु नहीं हैं; किन्तु वर्तमान कालके अनुभवके द्वारा उसे पीछे लेजाकर सत्यत्वकी कोटिमें बैठानेका प्रयत्न किया गया है। यह इनकी प्रक्रिया "पीछेसे आगे-भूतसे वर्तमान" न हो कर "आगेसे पीछे-वर्तमानसे भूत है"। और यही प्रक्रिया तत्वविवेचक ऐतिहासिक पद्धतिकी जड़में भी है। जॅक्सनार्डो नामक ऐतिहासिकने भी यही कहा है। वह लिखता है कि "मनुष्यकी इच्छा-शक्तिकी प्रत्येक कृति, कोई न कोई विचार और हेतुओंसे प्रेरित होती है। इसलिये मनुष्य वर्तमान कालके अनुभव परसे अपना सामान्य सिद्धान्त निश्चित कर और उस सिद्धान्तका भूतकालकी जिस वस्तुस्थितिसे आज तक सम्बन्ध नहीं मिलाया गया हो उससे सम्बन्ध मिला कर उस सिद्धान्तकी

सत्यता सिद्ध करता है" ‡। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि इतिहास कोई नवीन सिद्धान्त नहीं सिखाता किन्तु वस्तुस्थितिके अनुभवसे निश्चित होनेवाले सिद्धान्तोंकी उदाहरण देकर पुष्टि करता है। इस प्रकार इतिहासका क्षेत्र और उसकी शक्ति ध्यानमें रखनेसे उसके द्वारा अधिक फलप्राप्तिकी इच्छा करने पर यदि वह इच्छा सफल न हुई तो निराश होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं होता।

---

‡ "Self observation teaches man, that every conscious act of will is preceded by some thought and directed to some purpose... .Generalizing then, from his own subjective experience, he applies it to the realm of phenomena from which it was not deduced, and to which it did not apply.

Max Nordeau's Interpretation of History, Chapter II.

प्रकरण दूसरा.

आधिभौतिक शास्त्र.



गत प्रकरणमें किये हुए इतिहास शास्त्रके सर्वांगीन विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि सुधारणा शास्त्रके मूल तत्व निश्चित करने की चिकित्सा में इतिहास, वर्तमानकाल और भविष्य काल पर स्वतंत्र रीतिसे प्रकाश नहीं डाल सकता। किंबहुना उस इतिहासकी गूंथ सुलझानेके लिये वर्तमान कालके यथार्थ ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इतिहास, फिर चाहे वह तीन प्रकारों —वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, और मीमांसात्मक—मेंसे किसी भी प्रकारका क्यों न हो। इस कार्यमें केवल अंशतः सहायक होता है। ऐसी अवस्थामें अब इसकी शोध करना आवश्यक है कि वर्तमान कालका यथार्थ ज्ञान दूसरे किस शास्त्रसे होता है।

भौतिक शास्त्रवादियोंका कहना है कि न केवल वर्तमानमें ही किन्तु प्रत्येक कालमें मनुष्योंकी कर्तव्येच्छा साधन संपत्तिपर अवलंबित रहती है। यदि वह साधन संपत्ति प्राप्त न हुई अथवा उसके प्राप्त करनेका मार्ग मालूम न हुआ तो उसके अभावके कारण मनुष्यकी प्रगतिमें अपने आप न्यूनता रहेगी। अतएव सृष्टिके पंच महाभूतरूपी अपार साधन संपत्तिका शोध कर जहां तक हो सके उसका उपयोग कर सकनेका ज्ञान प्राप्त करनाही सुधारणा शास्त्रका बीज मंत्र है। इन लोगोंका यह भी कहना है कि मनुष्यका कार्यक्षेत्र सृष्टि है जोकि भौतिक है। अतएव सृष्टिके घटकावयवोंका शास्त्रीय ज्ञान हो जाने पर सुधारणाकी कुंजी हाथमें आजाती है।

गत प्रकरणमें एक स्थान पर यह उल्लेख किया गया है कि जिस समय भौतिक शास्त्रकी प्रगति नहीं हुई थी उस समय बहुतसी अज्ञात वस्तुस्थिति-योंके विषयोंमें उस समयके लोग किसी न किसी गुप्त शक्तिकी कल्पनाका उपयोग करते थे। कोई इस शक्तिको देवता कहते थे और कोई भूत पिशाच। परन्तु ज्यों ज्यों शास्त्रीयज्ञानकी वृद्धि होने लगी त्यों त्यों अज्ञात बातोंका

रहस्य समझमें आने लगा और भौतिक शास्त्रका अधिकाधिक विस्तार होने लगा। जब तक किसी कार्यका उसके कारणसे जो सम्बन्ध होता है वह अपनेको विदित नहीं होता तब तक उस सम्बन्धके बजाय कोई दूसरी काल्पनिक उपपत्ति लगानेका प्रयत्न किया जाता है परन्तु सम्बन्ध मालूम हो जाने पर मनुष्यकी कर्तव्य शक्तिका क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होने लगता है। इसी पद्धतिको सुधारणा कहते हैं। भाफके द्वारा चलनेवाली रेलगाड़ीको पहले पहल देखनेवाले लोग इसके आविष्कर्ता वॅटको जादूगर मानते थे। इसी प्रकार अमेरिकाके ताम्रवर्णी लोगोंको जिस समय लेखन कला ज्ञात नहीं थी उस समय एक गोरे मजदूरके लकड़ीके छिलपे पर संदेशा लिख कर अपनी बीबीसे गुनिया मंगवाने पर इस सीधी सादी बातकी मीमांसा लेखन कलाके ज्ञानके अभावके कारण लोगोंने दैवी चमत्कारकी कल्पनासे ही की थी। इस परसे यह सिद्ध होता है कि जब मनुष्य अपनी कर्तव्य शक्तिसे दिन पर दिन सृष्टिके पंचमहाभूतोंके गुणधर्मोंको अधिकाधिक जानने लगता है और दीन राक्षसोंकी कथाके समान उन भूतोंको अपना दास बना लेता है तभी सुधारणा होती है। अतएव इस सुधारणाके तत्त्व जाननेका साधन भौतिक शास्त्रके ज्ञानके सिवाय दूसरा और क्या हो सकता है? वर्तमानमें भी जो हम यह कहते हैं कि यूरोपखंड सुधरा हुआ है और आफ्रिकाखंड जंगली हालतमें है, इस कहनेका प्रयोजन क्या है? यही कि यूरोपखंडमें रेलवे, तार, बिनतारका तार, विमान, लड़ाऊ जहाज, जलके भीतर चलनेवाली नौकाएँ, हजारों योजनकी दूरी परसे भी यथातथ्य सुननेवाले ध्वनिवाहक यंत्र, लाखों माइल दूरी परकी चलती फिरती घटनाओंके चित्र, उसी समय आँखोंके सन्मुख खड़े कर सकनेवाली चित्रकला आदि बातें हैं, जिन्हें हम सुधारणा कहते हैं। आफ्रिका खंडमें इन बातोंका अभाव है। इस सुधारणाके तत्त्व इन सब चमत्कारोंका ज्ञान करादेनेवाले शास्त्रके सिवाय दूसरी जगह कहाँ मिल सकते हैं? अतएव भौतिक-शास्त्रही सुधारणाका आदि तत्त्व है, यह भौतिक शास्त्रवादियोंका सिद्धान्त है।

इसके सिवाय इस सिद्धान्तके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार इस शास्त्रमें एक यह विशेष गुण और है कि यह शास्त्र इतिहास शास्त्रके समान वर्तमानको नहीं भूलता। आजतक जो प्रगति हुई है उसके अनुरोधसे तथा उसीके आधारसे भौतिक शास्त्रकी प्रगति होती है। वर्तमानकालकी स्थितिको

एनिगाहकी ओटमें छिपा कर पूर्व कालकी स्थितिपरसे इसकी कोई प्रगति नहीं करता । पचीस माइलकी दूरी परके अजेय किलोंको धरा-शायी कर देनेवाली तोपोंके अस्तित्वके समयमें कोई भी बारूदसे छूट-नेवाली बंदूकोंका आश्रय नहीं लेगा । जहाँ क्षणमात्रमें हजारों योज-नकी दूरीपर समाचार भेजे जाते हों वहाँ समाचार भेजनेके लिये सांडनी सवारका उपयोग भला कौन करेगा ? अर्थात् वर्तमानकालकी परिस्थिति और उस समय तक भौतिक शास्त्रकी जितनी प्रगति हो चुकी हो वह मनुष्य-जातिके स्मरणसे कभी नष्ट नहीं हो सकती । अतएव भूतकालके अनुभवसे सिद्ध हुए तत्वोंको वर्तमानकालके ज्ञानके प्रकाश द्वारा व्यवहारमें लाकर सुधारणा करनेवाला भौतिक शास्त्र (यहां समुच्चयार्थी एक वचनका व्यवहार किया गया है) ही सुधारणाके तत्वोंको जाननेका मुख्य साधन है ।

यह विचारसरणी यूरोप खंडमें करीब तीनसौ वर्षोंसे प्रचलित है । और दिनपर दिन विस्तृत होती हुई आजकी विचार मालिकामें मुख्य स्थान इसीको प्राप्त है । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इस विचारसरणीका प्रथम पुरस्कर्ता प्रसिद्ध लार्ड बेकन था । हमारे कहनेका यह उद्देश्य नहीं है कि बेक-नके पहिले यह नहीं थी किन्तु प्रयोजन इतना ही है कि अपनी बुद्धि और कर्तृत्व के बल पर पद्धति पूर्वक उक्त विचारसरणीको जगत्के सामने रखनेका और उसकी विस्तृत शाखा उत्पन्न कर देनेका प्रथम श्रेय बेकनको ही प्राप्त है। बेकनका तत्व ज्ञान (वास्तवमें देखा जाय तो आर्य पद्धतिसे बेकनकी विचार प्रणाली तत्व ज्ञान कहलानेके योग्य नहीं है ।) भौतिक शास्त्रोंका चिकित्सक बुद्धिसे विवेचन करनेवाला संप्रदाय है । सृष्टिके पदार्थोंका सूक्ष्म निरीक्षण करते समय प्रसंग-विशेष पर अनुभवमें आये हुए, उन पदार्थोंके गुण धर्मोंका प्रयोगके द्वारा नित्यत्व सिद्ध हो जाने पर उन्हें सिद्धान्त मानना ही इस पद्धतिका बीज मंत्र है । इस पद्धतिको अंग-रेजी भाषामें Induction कहते हैं । इस पद्धतिके अवलंबनके द्वारा भूत सृष्टिकी चिकित्साका प्रारंभ, और कल्पक मनुष्यके मस्तिष्कसे भिन्न २ आवि-ष्कार प्रगट होनेसे ऊपर कहे अनुसार आज सृष्टिका रूप ही बदल गया है । भूतकालकी वर्तमान कालसे तुलना करते समय जो यह कहा जाता है कि आजका समय सुधारणाके मार्गमें बहुत आगे बढ़ गया है, सो इसी आगे बढ़ने—भूत और वर्तमानकालके प्रगति रूप अंतरका नाम सुधारणा है । और

यह असर जिन साधनोंके द्वारा होता है वे साधनही सुधारणा शास्त्रके आदि तत्व हैं।

परन्तु केवल इतने ही विवेचनसे यहां यह शंका होगी कि ऊपर कही हुई बातें (रेल, तार, हवाई, जहाज, टेलिफोन आदि) भौतिक सुधारणाके परस्परमें एक दूसरेसे असबद्ध नमूने हैं। भौतिक शास्त्रकाही नाम सुधारणा शास्त्र होनेके लिये इन भिन्न २ उदाहरणोंकी कारण परंपरामें संगति होना चाहिये। और उस संगतिके द्वारा सुधारणा शास्त्रके पुरस्कर्ताओंको यह सोपपत्तिक सिद्ध करना चाहिये कि जगत्की सारी इमारत कैसे बनाई गई? बिना इसके उक्त पद्धतिको शास्त्रत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस संदेहकी पूर्व कल्पना कर भौतिक शास्त्र वादियोंने अपनी उपपत्तिको उत्क्रान्तिकी प्रक्रियासे पूर्ण बनानेका प्रयत्न किया है।

उनके सिद्धान्तका संक्षेपसे इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि— सम्पूर्ण जगत् प्रकृति (matter) मय है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अतीन्द्रिय हो। प्रकृतिका मूल-घटक परमाणु है जो अत्यंत सूक्ष्म है। इस परमाणुमें गति (motion) करनेकी स्वाभाविक शक्ति है। इस शक्तिके कारण परमाणुमें हलन चलन होती है। और उससे परमाणुओंके भिन्न २ समुदाय बनकर उन्हें आकार प्राप्त होता है। उस आकारवान वस्तुका नाम विशेषसे उल्लेख किया जाता है। परमाणुमें गति रूप शक्तिके योगसे चलन हो कर उसे विशिष्ट रूप प्राप्त होनेकी जो प्रक्रिया होती है वह कुछ नियम विशेषोंसे होती है। इन नियमोंकी रुख दिन पर दिन एकसे एक अधिक उत्तम और टिकाऊ वस्तु निर्माण करनेकी ओर रहती है। इसलिये जगत्की जूनी और निर्बल वस्तुएँ नष्ट होती हैं और नवीन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस नष्ट और उत्पन्न करनेवाली पद्धतिका ही नाम "जीवन कलह" है। जीवन कलहके कारण उत्तम वस्तु ही टिक सकती है और निम्न श्रेणीकी वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार जगत्की सुधारणा होती जाती है और इसी कारण जगत् दिन पर दिन अधिकाधिक उत्तम स्वरूपको प्राप्त हो रहा है। मनुष्य, जानवर, लता, वृक्ष, भूगर्भके-पदार्थ, पक्षी, खटमल, मच्छर आदि सबोंके लिये सृष्टिका यही नियम लागू है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो इन्द्रियातीत अथवा भौतिक शास्त्रकी मर्यादाके बाहि-

रकी हो । इस प्रकार उत्तमोत्तम वस्तु उत्पन्न होनेकी इस पद्धतिका नाम ही सुधारणा है ।

यह भौतिक शास्त्रवादियोंका सिद्धान्त है । अब अपन इसकी परीक्षा करके यह विचार करें कि यह सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है ?

यदि जगत्की उत्पत्ति व नियमनका सिद्धान्त ऊपर कहे अनुसार ही माना जाय तो फिर उसमें प्राण, बुद्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सूक्ष्म सृष्टिकी वस्तुओंको कहीं अवसर नहीं मिल सकता । और न परमेश्वरके अस्तित्वकोही कहीं स्थान प्राप्त हो सकता है । किसी प्रशान्त रात्रिमें निरभ्र, स्वच्छ आकाशकी ओर देखने पर प्रत्येक मनुष्यको निशादेवीके उस रात्रू विस्तारके चमत्कार पूर्ण कर्तृत्वके प्रति सादर आश्चर्य हुए विना नहीं रहेगा । जर्मनीके प्रसिद्ध तत्ववेत्ता इमेन्युअल कँटने भी यही कहा है कि " जगत्के नियमोंका नित्यत्व और आकाशके असंख्य तारोंका समुदाय—इन दो वस्तुओंके देखनेसे मुझे सानंदाश्चर्य होता है " परन्तु भौतिक शास्त्रवादी इन चमत्कारोंका भी विवेचन इसी प्रकार करेंगे कि प्रखर उष्णताके कारण टूटे हुए टुकड़ेही तारोंके रूपमें हमें दिखलाई पड़ते हैं । इस तरह भौतिक शास्त्र वादियोंके मतानुसार प्रत्येक स्पष्ट चमत्कारोंका वर्णन भौतिक शास्त्रोंकी सहायतासे हो सकता है । परन्तु उनके इस मत पर अधिक विचार करने पर मालूम होगा कि उनका यह मत भ्रममूलक है ।

भौतिक शास्त्रवादियोंके मतकी जड़में मुख्यतया दो भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ हैं । पहिली भ्रमपूर्ण कल्पना यह है कि उक्त विचारसरणीसे वे बुद्धि तत्वके अस्तित्वको भूल जाते हैं और दूसरी कल्पना यह है कि सृष्टिके निर्जीव पदार्थोंकी जिस एक विशिष्ट शक्तिके कारण उत्क्रान्ति होती है उसी शक्तिका सजीव पदार्थों पर भी परिणाम होना वे मानते हैं ।

पहिले यहाँ पर उनकी पहिली भूल भरी हुई कल्पनाका विचार करेंगे । भौतिक शास्त्रकी पूर्णतापर जो दूसरे आक्षेप हैं उन्हें क्षणभरके लिये एक ओर रखदें तो भी एक मुख्य आक्षेप यह रही जाता है कि भौतिकशास्त्रवादी सृष्टिके असंख्य और परस्पर भिन्न पदार्थोंकी संगति व उनके मिश्रणके परिणामकी नित्यताके सम्बन्धमें जिसकी सहायतासे विचार करना चाहिये उसे भूल जाते हैं । पदार्थ भिन्न भिन्न प्रकारके ज्ञानोंका विषय है । उसे समझ-

लेके लिये बुद्धि अथवा विचारकी आवश्यकता पड़ती है। पदार्थ-ज्ञान होनेकी पूर्व क्रियाको न्याय शास्त्रमें "इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष" कहा है। पदार्थ ग्रहण करनेमें समर्थ इन्द्रियोंका और पदार्थका संयोग होनेपर जो संस्कार मन अथवा बुद्धि पर संक्रामित होते हैं उन्हींके योगसे पदार्थका ज्ञान होता है। मन अथवा बुद्धिकी सुषुप्तावस्थामें पदार्थका संयोग हो जाने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे मान लीजिए कि आप किसी विषयके चिन्तनमें तल्लीन हो गये हैं ऐसी दशामें अपने सामनेसे निकल जानेवाला मनुष्य अपनेको नहीं दिखलाई पड़ता अथवा किसीके बोलनेपर उसका कहना सुनाई नहीं देता। अपने नेत्र और जानेवालेका आकार, अपने कान और बोलनेवालेके शब्दका संयोग होनेपर भी ज्ञान न होनेका कारण क्या? यही कि मन अथवा बुद्धि (ये दोनो शब्द यहाँ व्यावहारिक अर्थसे पर्यायवाची मान लिये गये हैं। इनका शास्त्रीय अर्थ दूसरा ही है) उस समय जागृतावस्थामें नहीं थी। जिस प्रकार फोटोका कैमेरा खड़ा कर देनेपर और उसके सामने जिसका फोटो लेना हो उसके रहनेपर भी फोटो लेनेके काँचको उस केमरामें लगाये बिना फोटो नहीं उतरता उसी प्रकार ज्ञानकी भी स्थिति है। जिस ज्ञानके योगसे पदार्थोंके गुण धर्म अपनेको मालूम होते हैं जिनके कि कारण भौतिक शास्त्रकी उत्पत्ति की जा सकती है, वह ज्ञान बुद्धिगम्य है। अब प्रश्न यही उठते हैं कि यह बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हुई? मन कहाँसे आया? क्या यह मन परमाणुके हलन चलनसे उत्पन्न हो सकता है? अथवा जिस परमाणुकी कल्पना मन कर सकता है वही परमाणु क्या मनको उत्पन्न कर सकता है? क्या मन अथवा बुद्धि भी स्थूल वस्तु हैं? * भौतिक शास्त्र वादियोंका प्रथम सिद्धान्त यह है कि प्रत्यक्ष प्रयोगसे जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर हो उसे ही मानना तो एक प्रश्न यह और होता है कि मन और बुद्धि किस इन्द्रियके गोचर हैं?। भौतिक शास्त्रवादियोंके मतानुसार इस अंतिम प्रश्नका उत्तर यही होगा कि मन और बुद्धि किसी इन्द्रियके गोचर नहीं है। ऐसी दशामें यही आपत्ति उपस्थित होगी कि उनका अस्तित्व

* भौतिकशास्त्रकी अपूर्णताका नक्श विवेचन बहुत अंशोंमें ग्लासगो युनिवर्सिटीके प्रिन्सिपाल जान केअर्डके "Philosophy of Religion धर्मशास्त्रकी मीमांसा" नामक ग्रंथके आधार पर किया गया है।

नहीं माना जा सकेगा और उनके अस्तित्वको न माननेसे इन्द्रियोंका व्यापार भी नष्ट हो जायगा, उसके नष्ट होनेसे पदार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकेगा।

वादविवादके लिये क्षणभर यही मानलें कि बिना मन और बुद्धिके भी ज्ञान होता है तो प्रश्न यह होता है कि वह ज्ञान नित्य किस प्रकार हो सकता है?। बिना ज्ञानीके ज्ञानका होना निरर्थक है। क्योंकि उसका संस्कार नहीं रह सकेगा। (ज्ञान उत्पन्न होगा फिर कारण न रहनेसे मिट जायगा। दुबारा फिर कारण मिलने पर उत्पन्न होगा और फिर वही दशा रहेगी जो पहलेकी हुई) अर्थात् कोई संस्कार नहीं रहेगा और सस्कार न रहनेसे भिन्न भिन्न समयके पदार्थोंके भिन्न भिन्न गुण कर्मानुसार होनेवाले ज्ञानोंकी परस्परमें संगति नहीं बैठाई जा सकेगी। अर्थात् ज्ञान क्षणिक हो जायगा। जिस प्रकार भिन्न भिन्न समयमें लिये हुए फोटो उस उस समयके पदार्थका चित्र दिखला सकते हैं परन्तु उन फोटोसे एक दूसरेकी सगति नहीं बिठलाई जा सकती है, उसी प्रकार ज्ञानकी दशा होगी; परन्तु प्रत्यक्षमें इसके विरुद्ध देखते हैं। ज्ञानको संगत और शृंखलाबद्ध देखते हैं। इस लिये जिस प्रकार सीनेमेटोग्राफके द्वारा भिन्न भिन्न समयोंकी अनेक प्रति-कृतियोंके पृथक् हो जाने पर उन सबकी संगति बिठलाई जाती है। उसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा समय समय पर होने-वाले ज्ञानको एक स्थान पर संग्रह कर उनकी संगति बिठलानेके लिये मन और बुद्धिकी आवश्यकता है। उस बुद्धिके अस्तित्वके कारणही भौतिक शास्त्रकी वृद्धि होना भी सम्भव है। अतएव भौतिक शास्त्र वादियोंके मतानु-सार परमाणुओंके स्वाभाविक संयोगसे बुद्धिकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसी दशामें जिस शास्त्रसे बुद्धिकी उत्पत्तिका प्रश्न हल नहीं हो सकता उस शास्त्रकी वृद्धि, बुद्धिके बल पर करनेकी कल्पना, अपने कंधे पर आप बैठनेकी कल्पनाके समान असंभव है।

भौतिक शास्त्र वादियोंकी विचार सरणीमें जो गृहीत तत्व हैं उनमें पहिला तत्व, प्रत्यक्षके सिवाय किसी अन्यको ज्ञानका साधन नहीं मानना है। परन्तु उनके द्वारा इस तत्वका पद पद पर अतिक्रमण होता है। वे मानते हैं कि परमाणुकी गति-शक्तिके कारण उसमें हलन चलन क्रिया होती है। इस पर प्रश्न यह है कि शक्ति क्या है? क्या यह शक्ति प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जा सकती है? प्रयोग शालामें इस शक्तिके योगसे होनेवाले पदार्थोंके परिणाम दिखलाई पड़ते होंगे; पर क्या शक्ति भी दिखलाई पड़ती है? यदि

नहीं दिखती तो फिर उसकी कल्पना क्यों करना चाहिये ? क्या वह अमूर्त नहीं है ? इसी प्रकार परमाणु क्या चीज है ? उसे विश्वसंघटनाका अति सूक्ष्म रजो बिन्दु मानते हो और यह भी मानते हो कि वह सूक्ष्म दर्शक यंत्र अथवा अन्य साधनोंसे दृष्टि गोचर नहीं होता तो क्या फिर उसे मनो-गम्य अतएव अमूर्त नहीं मानना चाहिये ? + और जिस मनके द्वारा परमाणु की व उसकी शक्तिकी कल्पना होती है वह मन भी अमूर्त ही है । इस-प्रकार मन, परमाणु और शक्ति-ये भौतिक शास्त्रके तीनों साधन अमूर्त एवं कल्पनीयही ठहरते हैं । फिर ऐसी दशामें भौतिक शास्त्र वादियोंका यह कहना कि स्थूल इन्द्रियोंके गोचर न होनेवाली कोई भी वस्तु भौतिक शास्त्र नहीं मानता, वंध्या पुत्र अथवा आकाश कुसुमके समान झूठा ठहरता है । उक्त तीनों वस्तुओंके ही समान एकात्मता, अंतर, कार्य, कारण, परिणाम, गुण धर्म आदि कल्पनाएँ भी मनोगम्य ही हैं । स्थूल साधनोंके द्वारा वे जानी नहीं जा सकतीं ।

इस आक्षेपका कुछ लोग यह उत्तर देनेका प्रयत्न करते हैं कि मन, विचार, बुद्धि आदि बात एक मूलतत्वके ही (फिर चाहे इस मूलतत्वको प्रकृति

+ The clearest headed man of science, man like Huxley, Spencer and Clifford in this country, and like Mulher and due bois Reymond in Germany have told us that the conception, for instance, of a physical atom as final and indivisible, or of a living cell chemically or mechanically constructed, corresponds to nothing that can be conceivably experienced, and is if regarded as a thing that can be felt full of latent contradictions They claim for certain of the leading conceptions of science no more than that they form convenient working hypothesis

Lord Haldane's Esssay on" Science and Religion

कहो, शक्ति कहो अथवा आदि तत्व कहो) भिन्न भिन्न परिणाम हैं ×। परन्तु इससे उक्त आक्षेपका निरसन नहीं होता। जिस शक्ति, प्रकृति अथवा मूल पदार्थके गुण धर्म अथवा प्रक्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानी जा सकती उसकी कल्पना करनाही भौतिक शास्त्रके पैरोंपर कुल्हाड़ी मारना है। जब इस प्रकार अमूर्त वस्तुकी कल्पना ही करना है तो फिर संपूर्ण सृष्टिके नियंता परमेश्वरकी और उसका ज्ञान करानेवाले तत्व ज्ञानकी कल्पना मान्य करनेमें कौनसी हानि है?

इस प्रकार भौतिक शास्त्रके प्रथम भ्रम पूर्ण कल्पनाका निराकरण करनेके बाद अब उसकी दूसरी भ्रमपूर्ण कल्पना पर यहां विचार करना उचित होगा। भौतिक शास्त्रवादी निर्जीव पदार्थ और सजीव पदार्थोंके नियम एक ही प्रकार के मानते हैं तो विचार यह करना है कि क्या उनका यह सिद्धान्त सत्य है?। जबकि निर्जीव और सजीव पदार्थोंका एकही नियम है तो प्रश्न यह होता है कि जिस प्रकार निर्जीव पदार्थपर रासायनिक क्रियासे प्रयोग करनेपर उससे दूसरा पदार्थ उत्पन्न हो सकता है उसी प्रकार क्या प्राण भी किसी कृत्रिम, यांत्रिक अथवा रासायनिक प्रक्रियासे उत्पन्न हो सकता है? ‡ अभी तक तो यह प्रयोग सफल नहीं हो सका है। सजीव पदार्थोंका जो अल्पतम घटकावयव है उसे शास्त्रीय भाषामें ProtoPlasm प्रोटोप्लॅजम अथवा जीव परमाणु कहते हैं। इसका रासायनिक मिश्रण भी शास्त्रज्ञोंको मालूम हो गया है। कहा जाता है कि

× A third system has been in vogue amongst some physicists of an earlier day and among some biologist of now, viz. that mind, thought, Consciousness are all by-products, epiphenomena of one fundamental, all-embracing reality which some may call matter, some energy and some substance. " In this category, we find Tyndal, and here we consistently also find Haeckel "

" Life and matter by Sir Oliver Lodge."

‡ इस संबंधमें प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ सर आलिव्हरलाजने भी अपने Man and universe नामक ग्रंथमें यही लिखा है।

यह पदार्थ आक्सिजन नाइट्रोजन, हायड्रोजन और कार्बनके मिश्रणसे बनता है। परन्तु शास्त्रज्ञों द्वारा की हुई यह चिकित्सा जीवित प्राण परिमाणुकी नहीं मानी जा सकती, किन्तु मृत परमाणुकी ही मानना उचित होगा। क्योंकि जीव परिमाणुके मिश्रण-द्रव्य मालूम होनेपर भी जीवित परमाणु उत्पन्न नहीं किया जा सका है। अतएव जीवित परमाणुमें और उक्त द्रव्योंके मिश्रणसे उत्पन्न परमाणुमें अवश्य कोई महत्त्व पूर्ण अंतर होनाही चाहिये। ऐसी दशामें भौतिक शास्त्रको भी यह माने बिना गत्यंतर नहीं है कि प्राण परमाणुमें अवश्य कोई अगम्य और अप्राप्य शक्ति है। *

एक नवीन पक्षका यह कहना है कि प्रकृतिके सम्बन्धमें इस पूर्वी कल्पनाके कारण कि वह जड़, चलन रहित और परविकार्य है, अतएव उसके द्वारा मन, बुद्धि अथवा शक्तिका उत्पन्न होना संभव नहीं है, भौतिक शास्त्र पर यह दोष लगाया जाना कि वह भी बुद्धि आदिके सम्बन्धमें कोई संदेह रहित मत प्रतिपादन नहीं कर सकता, ठीक नहीं। वास्तवमें इन सब वस्तुओंका—बुद्धि आदिका समावेश प्रकृतिमेंही होता है। जिसमें प्राण, बुद्धि आदि जीव—सृष्टिके गुणधर्म मौजूद हों ऐसी सृष्टिकोही प्रकृति (Matter) कहना चाहिये। जर्मनीके विज्ञानशास्त्री ल्युडविग बुकेरने इस नवीन पक्षके कहनेको बहुत महत्त्व दिया था। वह कहता है कि " प्रकृति—परमाणुमें

" * Does science account the life of the lowes animal, the tiniest plant, the simplest cell, hardly any visible but yet self-removing object ? in the field of microscope ? and science in chagrin has confessed that in this direction it has failed. It has not ye witnessed the origin of the smallest trace of life from dead matter Given the life of a single cell, science would esteem itself competent to trace its evolution into all the myriad existences of plant, animal and man. But the origin of protoplasmic activity itself as yet deludes it.

— Sir Oliver Lodge's " Man and Universe" P 18,19.

तात्पर्य प्राण, बुद्धि आदिसे युक्त परमाणुसे है। * " परन्तु हमारे मतसे नवीन पक्षके इस कहनेमें कुछ भी सार नहीं है। यह केवल शब्दच्छल है। शब्दका वास्तविक अर्थ न करके खींच तानसे अथवा प्रयोजनभूत अर्थही ठीक माना जाय तो बातही दूसरी है। नहीं तो 'प्रकृति' शब्दसे साधारण-तया जो कल्पना होती है उस कल्पनामय वस्तुमें प्राणादि शक्तिका बीज है या नहीं यही विचारणीय है। जो प्राणयुक्त परमाणुको ही प्रकृति मानता हो तो उस प्रकृतिमें प्राणके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये किसी तर्क वाचस्पतिकी आवश्यकता नहीं है। गधेको गधा न कह कर लम्बे कानवाला, बोझे ढोनेवाला और घूरे पर लोटनेवाला घोड़ा कहा तो वस्तु एक होने पर भी शब्दमें केवल अंतर रहेगा। उन लोगोंसे कोई वादही नहीं है जो किसी कल्पनाको मनमाने शब्दोंसे उल्लेख करते हों। केवल यह तत्व मान लेने पर कि स्थूल सृष्टिमें प्राण धारणादि शक्तिका अभाव है फिर चाहे उस स्थूल सृष्टिका किसी भी शब्दसे उल्लेख किया जाय उसमें कोई हानि नहीं।

कभी न कभी—आज नहीं तो कल प्रकृतिके द्वारा चैतन्य उत्पन्न होनेकी आशा करनेवाले भौतिकवाद वादियोंको अंतमें ऊपर कही हुई असम्भव कल्पनाओंका ही आश्रय लेना पड़ता है। कितनेही शास्त्रज्ञोंने ऐसी आशा व्यक्त भी की है। हक्सले नामक प्रसिद्ध भौतिकवादी कहता है कि " जिस प्रकार उष्णता, विद्युत आदि शक्तियां निर्माणकी जासकती हैं उसी प्रकार विचार,

---

* The endless objections that are continually urged against the materialist view are entirely due to the wrong idea that has hitherto been associated with the term matter If a man starts with the idea that matter is hard, inert, devoid of intrinsic movement, and incapable of producing such phenomena as mind and consciousness..... ...it is in vain to try to inspire him with a sounder view......To conceive matter thus is......characteristic of a low grade of mental development.

Ludwig Buchner's " Last word on materialism."

बुद्धि आदि शक्तियोंके निर्माण करनेका भी उपाय अवश्य मिलेगा। और जिस प्रकार भूतकालसे वर्तमान और भविष्यकाल उत्पन्न होता है उसी तरह प्रकृतिके द्वारा ज्ञान और चैतन्य कदाचित उत्पन्न होंगे[1]।”

परन्तु इस कहनेके साथ साथ उसे विवश होकर यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि “प्रकृतिकी परिणत अवस्थामें प्राण अथवा बुद्धिके बीज उत्पन्न होना एक प्रकारसे अरेबियन नाइट्सकी अलाउद्दीनकी चिरागसे राक्षस उत्पन्न होनेके समान असम्भव है”।

भूत शास्त्रवादी हेकेलका कहना है कि ज्ञान, विचार, बुद्धि आदि सब, मस्तिष्ककी बाह्यत्वचाकी ग्रंथिपेशीके विकार हैं अतएव इनका अनुभव पदार्थविज्ञानशास्त्र अथवा रसायनशास्त्रकोही दिया जा सकता है[2]। इतनाही नहीं किन्तु आत्मा भी एक भूत सृष्टिकाही परिणाम है[3]। परन्तु जब इससे यह पूछा कि यह परिणाम कैसे होता है? तब उत्तर नहीं बन पड़नेसे उसे स्वीकार करना पड़ा कि[4] जिस प्रकृति-परमाणुसे बुद्धि अथवा प्राण उत्पन्न होते हैं, उसी परमाणुमें स्वभावतः उन तत्त्वोंका बीज होता है। इन लोगोंकी इस प्रकारकी कृतिसे यह मालूम होता है “कि जहाँ इन्हें उत्तर नहीं बन पड़ता और अड़चन मालूम होती है वहाँ वे अपने कहने में दूसराही सिद्धान्त घुसेड़ देते हैं और फिर कहने लग जाते हैं कि हमाराही कहना ठीक है।

---

1 Huxley's essay in "Macmillan's Magazine" vol. XII p 78

2 Consciousness, thought, etc are functions of the ganglionic cells of the cortex of the brain......... .. and must be reduced to the phenomena of physics and chemistry.

3 "What we call the soul is in my opinion a natural phenomenon."

4 on these phenomena we base our conviction that even the atom is not withont a rudimentary form of sensation or will, or as can be better expressed, of feeling."

इनका यह ढंग जिस वृक्षका नाम न मालूम हो उसे विलायती झाड़ कह देनेके समान है। यह लोग भी जिस रहस्यका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते उसका कोई लंबा और लचकीला नाम रखकर यह कह देते हैं कि " यह ऐसाही कुछ है। " परंतु जो प्रामाणिक शास्त्री हैं वे स्पष्ट रीतिसे स्वीकार करते हैं कि प्रकृति और चैतन्य स्वभावतः भिन्न हैं। जर्मनशास्त्री व्युंटने जब भौतिकशास्त्रोंका अभ्यास करना प्रारंभ किया तब वह मानसशास्त्रको भी पदार्थ विज्ञानशास्त्रोंमें सम्मिलित करता था। परंतु तीसवर्षके मननके पश्चात् उसे मालूम हुआ कि यह दोनों शास्त्र भिन्न भिन्न हैं और इस लिये वह कहने लगा कि " मेरा पहिलेका विश्वास एक प्रकारसे मेरी बाल्यावस्थामें किया हुआ पाप है। अब मेरा विश्वास हो गया कि मानसशास्त्र अतीन्द्रिय शास्त्र है। "

इस संबंधमें लार्ड हाल्डेनने जो इंग्लैण्डके लार्ड चेन्सलर थे कुछ वर्षों पहिले एक व्याख्यान दिया था। उसका कुछ सुंदर अंश पठनीय होनेसे हम यहाँ देते हैं। वे कहते हैं कि " भौतिक शास्त्रोंके मतानुसार बुद्धि, मन आदि विकार प्रकृतिके परमाणुकी गति विशेषके ही परिणाम हैं। इस कल्पनाको सत्य मानकर अपन कालकी मूलमें जाकर यह कल्पना करें कि (उस समय) सम्पूर्ण जगत प्रकृतिके अस्तव्यस्त परमाणुओंका एक महासागर है। इस परमाणु महासागरका अपनेको ज्ञान किससे होगा ? उत्तर दिया जाता है कि दृष्टिसे ?। तो दृष्टिके द्वारा जिस पदार्थका ज्ञान होता है उसका रूप अथवा वर्ण होना चाहिये। अब यह विचारणीय रहा कि यह रूप क्या पदार्थ है? यह पदार्थका कोई गुण विशेष है अथवा अपने मस्तिष्कका विकार है ? इस प्रश्नका भौतिक शास्त्र यह उत्तर देते हैं कि पदार्थ और अपने बीचमें जो हवा होती है उस हवामें रहनेवाली प्रकाश लहरोंके कारण नेत्र पटलपर जो परिणाम होता है वह रूप है। प्रकाश लहरोंके प्रवाहसे नेत्ररूपी दर्पणपर परिणाम होता है और वह परिणाम मस्तिष्क तक पहुँचता है जिससे रूपका ज्ञान होता है। मस्तिष्क और नेत्रोंका संबंध टूट जानेपर रूपका ज्ञान नहीं होता। सारांश यह कि पदार्थमें रूप नामक कोई स्वतंत्र धर्म नहीं है। किन्तु नेत्रोंके द्वारा मस्तिष्कपर होनेवाले परिणामका ही नाम रूप है। इसी तरह रस, स्पर्श, गंध आदि भी पदार्थके स्वतंत्र गुण न होकर उन उन विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्कपर होनेवाले परिणाम ही माने जावेंगे। अर्थात् प्रकृतिका ज्ञान होनेका साधन पदार्थमें न मान कर

इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेवाले मस्तिष्कसे मानना पड़ेगा अथवा जिन्हें अपन प्रकृतिका गुणधर्म कहते हैं और जिनके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान अपनेको होता है वे रूप, रस, गंध स्पर्श आदि गुण पदार्थोंके न मानकर उन्हें मस्तिष्कके विकार मानना पड़ेगा । ऐसी दशामें यदि " हृषीकपति मे मन. " वाली अपनी अवस्था हो जाय तो आश्चर्य नहीं है । क्योंकि यदि भौतिक शास्त्र ठीक माने जाँय तो ऊपर कहे अनुसार पदार्थोंके गुण धर्म पदार्थोंके न मान करके मस्तिष्कके विकार मानना पड़ेंगे । नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि आधि भौतिक शास्त्र एक केवल दृष्टि है । और यह दृश्य पदार्थोंके उस ओर नहीं जा सकता इस कारण अपूर्ण है । ऊपर दिये उदाहरणका गोरख धंधा यहीं पूर्ण नहीं होता वह और भी आगे जाता है । शास्त्रोंके कहे अनुसार यही मान लिया जाय कि पदार्थोंका गुण धर्म मस्तिष्कका ही विकार है तो फिर मस्तिष्क क्या है ? मस्तिष्कका निश्चय भी तो इन्द्रियोंके द्वारा किया जाता है । और इन्द्रियोंका अवलोकन मन का विकार है । सिद्धान्त यह निकला कि बाह्य पदार्थ मनको उत्पन्न नहीं करते किन्तु मनही पदार्थोंकी उत्पत्तिका कारण है । अर्थात् सर्व चराचर जगत सत्य नहीं है वह केवल मनका विकार है जो कि माना नहीं जा सकता । अतःइस विचारसरणीसे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान भौतिक शास्त्र अपूर्ण हैं । " जर्मन तत्ववेत्ता कैन्टने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि " जगतके ज्ञान सागरमें बेचारे भौतिक शास्त्रका आन्दोलन मस्तिष्कके प्रमाणसे नापनेपर एक बिंदुके समान भी नहीं है " *

इस प्रकरणमें पीछे एक स्थानपर व्हुंटे नामक एक दर्शनतत्ववेत्ताका उल्लेख किया गया है । इस तत्ववेत्ताने सृष्टिके प्राथमिक स्वरूपका वर्तमानकालके शास्त्रीय पद्धतिसे अभ्यास करनेके बाद सन् १८५२ के लगभग " मानव जाति और इतर प्राणियोंकी जातिके मानसशास्त्र पर व्याख्यान " नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया । इस ग्रन्थमें ग्रंथकारने भौतिकशास्त्र वादियोंके पक्षका पूर्णतया समर्थन किया था । उसने लिखा है कि प्रत्यक्ष अनुभवके सिवाय कोई बात ग्रहण करना उचित नहीं है और इस रीतिसे सम्पूर्ण सृष्टिका आकलन

The microscopic activity of the scientific world has not contributed nearly so much to science as a single brain with thinking power.

किया जा सकता है। परंतु जब वह हस्तपादादि स्थूल इन्द्रियोंके सिवाय प्रत्यक्ष अनुभवमें न आनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंके अस्तित्वका निश्चय करने लगा तब उसे कुछ संदेह हुआ। उसने इसका निर्णय इस प्रकार किया कि जिस तरह एक चिकने और चमकदार पत्रे पर पदार्थका प्रतिबिंब पड़नेमें पदार्थ दर्शनके सिवाय दूसरे किसी भी व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह ज्ञानमय मन और बुद्धिरूप पत्रे पर पदार्थका प्रकाश पड़तेही उस पदार्थका ज्ञान होता है। परंतु मन ज्ञानमय कैसे हुआ? इसीका निर्णय उसके उत्तरसे न हो सका। इसके सिवाय आत्मा क्या पदार्थ है? इसका निर्णय करते समय उसे इससे भी अधिक अड़चन आई। जीवका किस तरह जन्म होता है? वह जन्मके पहिले भी होता है या नहीं? उत्क्रांतिके तत्वके अनुसार वह कहीं न कहीं होना चाहिये तो फिर ऐसी दशामें भूत और वर्तमान कालके स्वरूपमें एकात्मता सिद्ध करनेवाली वस्तु कौनसी है? यदि कोई वस्तु नहीं है तो फिर एकका ही दूसरा उत्क्रान्त रूप है यह कैसे कहा जा सकता है? क्या मनही तो एकात्मता सिद्ध करनेवाली वस्तु नहीं है? इन प्रश्नोंका उत्तर वह स्वयं इस प्रकार देता है कि "नहीं। आत्मा मनसे बिलकुल भिन्न और व्यापक है। बुद्धि विषयक सम्पूर्ण इन्द्रियोंके एकीकरणसे भी वह अधिक व्यापक है। उसमें न केवल विचारशक्तिका ही किन्तु इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिका भी अंतर्भाव होता है। मन आत्माका केवल एक भाग मात्र है।" *

उक्त तत्ववेत्ता व्हूंटने जीवनभर आत्माके स्वरूप पर विचार किया, परंतु उससे निर्णय न हो सका। जब भौतिक शास्त्ररूपी जहाजी बेड़ेसे इस शंकारूपी किलेका पतन नहीं किया जा सका, तब उसने अपने पहिले ग्रंथके तीस वर्ष

* "Is the true nature of the soul nothing else but our mental life itself? No the idea of soul is for more comprehensive. It is much more than the mere totality of intellectual faculties It embraces not merely mental powers but also sensation and volition. The mind (animus) is only a part of the soul (anima)."

बाद एक " Physiological Psychology " " शारीरिक मानसशास्त्र " नामक ग्रंथ लिखा। जिसमें उसने भौतिक शास्त्रका अपूर्णत्व स्वीकार किया और अपने पहले ग्रंथको " पूर्वावस्थामें किया हुआ पाप " की उपमादी। और यह ठहराया कि जगत्के स्पष्टीकरणमें ऐसा कुछ भाग है जो अतीन्द्रिय है और जिसे जाननेके लिये भौतिकशास्त्र असमर्थ है।

इस प्रकार पाश्चात्यविचार सृष्टिमें भौतिकशास्त्रकी शक्तिके सम्बन्धमें विवेचन किया गया है। ईसाकी बीस शताब्दियोंका समय खर्च कर वे यहां तक पहुँचे हैं। परंतु भारतवर्षमें तो इसी विषयपर पांच छह हजार वर्ष पहलेही विचार किया जा चुका है यहाँ (भारतमें) इस विषयपर सार्वजनिक रीतिसे चर्चा हुआ करती थी। और इस प्रकारके समारंभमें आनेके लिये भिन्न भिन्न देशोंके तत्ववेत्ताओंको निमंत्रण दिया जाता था और वादविवादमें यशस्वी होनेवाले विद्वानोंके लिये गोधन अथवा सुवर्णमुद्राओंका पारितोषक नियत किया जाता था। प्रोफेसर मेक्समूलरने अपने " षड् दर्शन संग्रह (Six Systems of Indian Philosophy) नामक ग्रंथमें आश्चर्य प्रगट करते हुये आदरपूर्वक लिखा है कि "'क्या जगत्के इतिहासमें कोई ऐसा देश (भारतके सिवाय) मिल सकता है जिसमें तत्वज्ञानके विचारार्थ बडी बडी सभाएँ करवाकर वादविवादमें जय प्राप्त करनेवाले पंडितोंको पारितोषक देनेवाले राजा हुये हों ?। बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐसे ही एक प्रसंगका वर्णन किया गया है। वर्णन इस प्रकार है कि मिथिलाके राजा जनकने एक बड़ा यज्ञ किया और सब देशोंके विद्वानोंको निमंत्रित किया। और यह घोषणा की कि जो ब्राह्मण वादविवादमें श्रेष्ठ होगा उसे सींगोंसे एक दश सोनेकी मुहर बांध कर गाय पारितोषिकमें दी जावेगी। वादविवादका प्रारंभ हुआ। " जार्त्कारव आर्तभाग नामक पंडितने जनकके गुरु याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया कि जब मनुष्य मर जाता है तब उसकी वाचा अग्नितत्वमें, मन चन्द्रतत्वमें और श्रोत्रेन्द्रिय दशोंदिशाओंमें मिल जाती है तथा अन्य इन्द्रियाभी इसी प्रकार बाह्यसृष्टिमें लोप हो जाती हैं तो फिर उस समय पुरुष कहाँ रहता है ?। इस प्रश्नका उत्तर उस समय याज्ञवल्क्यने इस प्रकार दिया कि " मैं तुझे इसका रहस्य कहूंगा, परंतु एकान्तमें चल"। फिर एक दूसरेही अवसर पर उक्त उपनिषद्में इन प्रश्नोंका उत्तर उनके द्वारा प्रगट रीतिसे दिखाया गया है। उस दूसरे अवसरमें " उद्दालक आरुणी " ने प्रश्न किया है कि जिस मूलसूत्रमें

यह भूत सृष्टि है उस अंतर्यामी सूक्ष्मका क्या स्वरूप है ?। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया कि वह अंतर्यामी सूक्ष्म आत्मा है जो कि पृथिवीमें होकर भी स्वभावतः पृथिवीसे भिन्न है। जिसका ज्ञान पृथिवीके ज्ञानसे नहीं होता (अर्थात् जिसे भौतिकशास्त्र नहीं जान सकते) जिसका पृथिवी बाह्य शरीर होने पर भी अंतरंगमें जो उसका (पृथिवीरूपी बाह्य शरीरका) नियमन करता है, वही तेरा सर्वांतर्यामी आत्मा है।" ×

उपनिषत् कालके बाद तत्त्व विवेचनके मार्गोंकी चिकित्सा होना और भी अधिक बढ़ गया था। अतः प्रत्येक मतकी पुष्टिके अर्थ उन मतोंके आचार्योंने अपनी अपनी स्वतंत्र सम्प्रदायें स्थापित कीं थीं। इन संप्रदायोंको 'दर्शन' भी कहते हैं। चिकित्सक दृष्टिकी अपेक्षासे एकही प्रमेयका, एकही गृहीत सिद्धान्तके द्वारा विवेचन करनेकी पद्धतिके कारण इन सब दर्शनोंको एक समान महत्त्व नहीं दिया जा सकता। किसी दर्शनमें एक बात सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है तो दूसरे दर्शनमें वही बात गृहीत मानली है। इनमें न्याय और वैशेषिक—इन दो दर्शनोंने उस समयकी शास्त्रीय ज्ञानकी सामिग्रीपर भौतिक सृष्टिकी छानबीन करनेका प्रयत्न किया है। इन दोनों दर्शनोंने जगत् रचनाके संबंधमें जो कल्पना की है वह इस प्रकार है कि जगत्में सूक्ष्मतम-घटक अणु हैं। एक अणु कभी दृष्टि गोचर नहीं हो सकता। दो अणुओंके एकत्र हो जाने पर वे 'द्व्यणुक' कहलाते हैं और तीन 'द्व्यणुक' के एकत्र हो जाने पर वे 'त्र्यणुक' कहलाते हैं। ये त्र्यणुक दृष्टिगोचर होते हैं। किसी छिद्रमेंसे सूर्यकी किरणके कारण जो एक प्रकाशकी लकीरसी खिंच जाती है उस लकीरमें जो असंख्य रजोकण दिखलाई पड़ते हैं उन रजोकणोंमेंसे सबसे सूक्ष्म रज:कणहीका नाम त्र्यणुक है +। इन्हीं त्र्यणुकोंके किसी विशेष शक्तिसे एकत्रित हो जाने पर सृष्टिके भिन्न भिन्न पदार्थ बने हैं। यह मत वैशेषिक दर्शनके पुरस्कर्ता महर्षि कणादका है। इस रीतिसे जगत् निर्माण होनेकी इस

× "य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं य पृथिवीमन्तरा यमयति एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृत "

बृहदारण्यकोपनिषदि सप्तमं ब्राह्मणम्।

\+ जालान्तरस्थ सूर्यांशौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः
भागस्तस्य च षष्ठो य: परमाणुः स उच्यते ॥

पद्धतिको आरंभवाद कहते हैं। यह पद्धति करीब करीब आजकलके भौतिक-शास्त्रवादियोंसे (मतसे) मिलती है। तीनचारहजार वर्ष पहिलेकी और आजकी परिस्थितिमें अंतर पड़ना एक स्वाभाविक बात है और इस लिये दोनों समयोंकी भौतिकज्ञानकी साधनसंपत्तिमें भी जमीन आसमानका अंतर होना स्वाभाविक है। इस अंतरको यदि एक ओर रखकर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि वैशेषिक दर्शन और भौतिकशास्त्रकी विचारसरणी अंदमें एकही प्रकारकी है।

सृष्टि विवेचनकी दूसरी एक पद्धति है जिसे परिणामवाद कहते हैं। सांख्य-शास्त्र, पातञ्जलयोग और पाशुपत मार्गोने इस पद्धतिका अवलंबन किया है। इनके मतानुसार जगत्का एक मूलतत्त्व है। जिसे कभी प्रधानतत्त्व कहते हैं और कभी प्रकृति कहते हैं। यह तत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस इन तीन गुणोंसे युक्त है। और इसी लिये यह गतिमान है। क्योंकि सत्त्व, रजस् और तमस् गुणोंके कारण उस प्रकृतिके घटक द्रव्योंमें गति होती है। यही त्रिगु-णात्मक प्रधानतत्त्वही किसी विशिष्ट प्रक्रियाके द्वारा चराचर स्वरूपमें उत्पन्न होते हैं जिससे यह भौतिक सृष्टि बनती है। इस परिणामवादमें की हुई प्रकृतिकी कल्पना इसके ऊपर उल्लेख किये हुये 'स्युडधिवृधिकोर' की प्रकृति-कल्पनासे मिलती है। यह लोग प्रकृतिको जड़ न मानकर उसीमें जीवतत्त्वका अंतर्भाव मानते हैं। परन्तु परिणामवाद और इमेरके मतमें मुख्य अंतर यह है कि सांख्यादितत्त्ववादी तो मानते हैं कि महत् और अहंकारके सिवाय प्रकृति वर्तमानरूप धारण नहीं कर सकती और इमेर यह नहीं मानता है।

जगद्रचनाके प्रश्नको हल करनेवाली तीसरी विचारसरणीका पुरस्कार वेदान्तवादने किया है। इस पद्धतिको विवर्तवाद कहते हैं। इसका मत है कि परब्रह्म अथवा सर्वान्तर्यामी आत्मा प्रकृतिसे स्वभावतः और स्वरूपतः भिन्न है। उसका आकलन प्रकृतिकी सहायतासे कभी नहीं हो सकेगा। वह निर्वि-कार, निराकार और निष्क्रिय है। इस लिये वह विकार, आकार और क्रिया, व्यक्त करनेके लिये प्रकृतिका आश्रय लेता है। इस पद्धतिका अंत, अद्वैतवा-दमें जाकर हुआ है। अद्वैतवादकी पद्धतिके अनुसार तो प्रकृतिका वास्तवमें कोई अस्तित्वही नहीं रह जाता। वह केवल भासमान भ्रमके रूपमें परिणत हो जाती है। परंतु इस प्रकृतिको केवल भासमान-असत्य माननेवाली पद्धति और प्रकृतिको सत्य माननेवाली रामानुज वगैरहकी पद्धतिमें यह बात समान-

रीतिसे मानी गई है कि प्रकृति और आत्माका स्वभाव भिन्न भिन्न है और केवल प्रकृतिके द्वारा आत्मस्वरूपका आकलन होना नितान्त असम्भव है ।

उक्त षड्दर्शनोंके इस प्रकारके विचार पीछेसे सिद्धान्तके समान माने जाने लगे । भगवद्गीतामें उनका सिद्धान्तके समान—वाद कोटिकी सीमाको उल्लंघन कर जानेवाले तत्त्वोंके समान-उल्लेख किया गया है । श्रीकृष्णने अर्जुनको सृष्टिका भौतिक और सूक्ष्म मिश्रित स्वरूप अष्टात्मक कहा है

भूमिरापो नलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

इस श्लोकमें प्रकृति शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचमहाभूतात्मक स्थूल सृष्टि और इनसे बिलकुल भिन्न बुद्धि, मन व अहंकार इन तीनोंको—पंचमहाभूत और बुद्धि आदिको—एक मालामें गूंथ दिया है। क्योंकि बुद्धि, मन व अहंकार, पंचमहाभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति तथा उत्क्रांतिके कार्यमें सहायता देते हैं। वास्तवमें ये न्यारे न्यारे हैं और इनके दो विभाग एक पंचमहाभूतात्मक—दूसरा बुद्धि, मन व अहंकारात्मक—किये जा सकते हैं परंतु इन सबको यदि कभी एकही मालामें गूंथ दिया जाय तो भी

अपरे यमितस्त्वन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम्
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

इस श्लोकमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि " जिसके द्वारा जीवोंको जीवत्व प्राप्त होता है और जगद्धारण होता है वह प्रकृति पहली प्रकृतिसे (ऊपर कही हुई प्रकृतिसे) सर्वथा भिन्न है । वर्तमान भौतिक शास्त्रोंकी परिभाषामें यदि कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि जीव सृष्टिके प्राण परमाणु (Protoplasm) की बनावट्या हाइड्रोजन, नाइट्रोजन आदि वायुरूप हुई तो भी उससे मनुष्य, मिश्रणके द्वारा प्राण उत्पन्न नहीं कर सकता । क्योंकि यह प्रकृति उन वायु आदिरूप प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न है । " वर्तमान आधिभौतिक शास्त्रके आदि गुरु सर आलिव्हरलाज भी यही कहते हैं *

* But is it to be supposed that the complex aggregate of atoms generated the life and mind in the protoplasm? That is the socalled Materialistic view but to me it seems an erroneous one and it is certainly one that is not proven.

Sir Oliver Lodge's " Life and Matter. "

" कि भौतिक शास्त्रवादियोंका यह कहना है कि केवल अनेक परमाणुओंके संयोगसेही प्राण उत्पन्न होते हैं परंतु मेरी बुद्धि इस मतको भ्रम पूर्ण मानती है । प्रयोग करने पर यह बात–प्राणोत्पत्ति-असाध्य ठहर चुकी है । "

इन्हीं थोड़ेसे शब्दोंका अनुवाद उपनिषत्कालमें भी हुआ है और यह मनुष्यके एक विशेष प्रकारकी मानसिक स्थितिमें होनेवाली विचार समताका अत्यंत आश्चर्यकारक उदाहरण है। बृहदारण्यकोपनिषद्के नवें ब्राह्मणके तीसरे अध्यायमें मनुष्य शरीरको एक वृक्षकी उपमा दी है । जो लोग यह कहते हैं कि मनुष्य और वृक्षके प्राण–परमाणु भौतिक द्रव्यके मिश्रणसे एकसे बने हुये हैं उनके लिए यह वर्णन बहुतही हर्षोत्पादक होगा । " यथा वृक्षो वनस्पति. तथैव पुरुषो मृषा " कहकर मनुष्यके लोम, वृक्षके पत्ते, मनुष्यकी त्वचा, वृक्षकी छाल, मनुष्यका रुधिर, वृक्षका रस आदिकी समताका वर्णन करते हुये मुख्य प्रश्न यही किया है कि:—

यद् वृक्षोवृक्णोरोहति, मूलान्नवतरः पुनः
मर्त्यं स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ।

अर्थात् वृक्षके तोड़ लेने पर वह जड़से फिर बढ़ने लगता है, परंतु मृत्युसे मरा हुआ मनुष्य किस जड़से बढ़ता है ?। यदि इस पर कोई यह कहे कि मनुष्य वीर्य द्वारा उत्पन्न होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि " रेतस. इतिमा वोचत । जीवतस्तत्प्रजायते " अर्थात् वीर्य जीते मनुष्य-सेही—हो सकेगा फिर उस प्रश्नका उत्तर क्या ? क्या मनुष्यके प्राण उत्पन्न करनेवाली शक्ति कोई परमाणुमें होती है ? तब इसका उत्तर दिया जाता है कि नहीं, " जात एव न जायते कोन्वेनं जनयेत्पुनः " अर्थात् पुरुष अक्षय है उसका जन्म नहीं हो सकता । उसे कौन जन्म देगा ? अर्थात् सूक्ष्म स्थूलरूप बाह्य वस्तुओंमें अलग वास कर उनमें चैतन्य देनेवाली शक्ति प्राण है । यही तत्त्व भौतिकशास्त्रकी अत्यन्त प्रगतिके समयमें भी उस शास्त्रके पंडित सर आलिव्हरलाज प्रतिपादन करते हैं * ऊपर कहे अनुसार यह विचार साम्य वास्तवमें आश्चर्य जनक है ।

* The soul is an underlying permanent reality, that which gives a thing its meaning and attributes The body is an instrument or mechanism for the mani-

इस प्रकार विवेचन करनेसे अंतमें यही सिद्ध होता है कि जिस सृष्टिमें अपन रहते हैं उस सृष्टिकी स्थूल और जड़ वस्तुओंके सिवाय दूसरी वस्तुओंका आकलन वर्तमान भौतिकशास्त्रके द्वारा नहीं हो सकता। मानव-जातिकी सुधारणा, केवल जड़ वस्तुओंके ज्ञानकी प्रगति हो जानेसे नहीं होती। उसकी सुधारणके लिये मानसिक और अतीन्द्रिय बातोंके ज्ञानकी प्रगति होनेकी भी आवश्यकता है। अतएव केवल भौतिक शास्त्रका ज्ञान, इतिहास शास्त्रके समान सुधारणाके कार्यमें अंशतः सहायभूत होने पर भी सुधारणा शास्त्रके आदि तत्त्वका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्यकी सामाजिक कृति सदा उसकी इच्छा पर अवलंबित है इसलिये उस इच्छा शक्ति और साध्यका प्रश्न हल होना चाहिये और वह बिना मानस शास्त्र तथा तत्त्व ज्ञानके हो नहीं सकता। जो विचारसरणी इन दोनों बातोंकी उपेक्षा करेगी वह सदा अपूर्ण रहेगी।

---

festation or sensible presentation of what else would be imperceptible. It is useless to ask whether a soul is immortal. A soul is always immortal

Lodge's "Life & Matter."

प्रकरण तीसरा

अतिभौतिक प्रमाण.



गत प्रकरणमें यह बात सिद्ध हो चुकी है कि सृष्टि केवल जड़ और स्थूल-भौतिक पदार्थोंसे नहीं बनी और इसलिये उस सबकी ज्ञान आधिभौतिक-शास्त्रसे पूर्णतया नहीं हो सकता। इसके साथ ही साथ यह बात भी प्रत्ययमें आ चुकी है कि जगत्की घटनामें मनुष्य प्राणी एक महत्व पूर्ण घटक है और उसके सब व्यापार विचार शक्तिकी सहायतासे होते हैं। इस विचार शक्तिका केन्द्र मन है और इस मनकी घटना आधि-भौतिक पदार्थोंकी सहायतासे नहीं हुई है परंतु मनुष्यकी इच्छाशक्ति युक्त कृतिका परिणाम सुधारणा कम होनेसे सुधारणा शास्त्रके ज्ञानके लिये मानस शास्त्रके ज्ञानकी आवश्यकता है अतएव यह बातें विचारणीय हैं कि मनका परिचय किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? और उसका व्यापार किन २ बातों पर अवलंबित है। तथा मनका निवास आधिभौतिक पदार्थोंसे बने हुये शरीरमें होनेसे उसका और शरीरका संबंध क्या है ? और उसके जाननेके साधन कौन २ से हैं ?

गत पौनसौ वर्षोंमें प्राणीशास्त्र (Biology) की वृद्धि बहुत शीघ्रतासे हुई है। इसके पहिले यह बात नहीं मानी जाती थी कि सम्पूर्ण प्राणीवर्ग, सृष्टि पदार्थोंका एक तत्त्वात्मक वर्ग है और इस वर्गके सम्पूर्ण छोटे बड़े सब जीव-घटकोंकी रचना एकही प्रक्रियासे हुई है और उसकी सदा वृद्धि होती रहती है। पहिले यही विश्वास था कि प्राणियोंके प्रत्येक वर्गके नियम भिन्न भिन्न हैं। परन्तु प्राणीशास्त्रके उदय होनेके साथही उक्त विश्वास बदल गया और निश्चय हो गया कि ऐसे भी कुछ नियम हैं जो सम्पूर्ण प्राणी वर्गके लिये समान हैं और उनकी सहायतासे सम्पूर्ण प्राणियोंके व्यापारोंका नियमबद्ध आकलन किया जा सकता है। परंतु प्राणियोंके मनका उद्गमस्थान स्थूल-पदार्थ न होने पर भी उसका सम्पूर्ण व्यवहार स्थूल पदार्थोंसे बने हुये देहके

द्वारा ही होता है अत एव मन और शरीरका दृढ़ संबंध है। इस संबंधका अवलोकन करनेसे यह बात प्रगट हुई है कि मनके विचार अथवा भावनाके अनुसार, उनके साथही साथ मस्तिष्कमें गति होती है और उससे मस्तिष्कके हलन-चलनमें अन्तर पड़ता रहता है।

यह मन और मस्तिष्कके संबंधकी चिकित्सा करनेवाली प्रत्यक्ष प्रयोग पद्धतिका शिफ् नामक एक शास्त्रज्ञने आविष्कार किया है। वर्तमानमें इस पद्धतिका बहुत कुछ प्रचार है। इस विद्वानने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा मस्तिष्कके बारीक बारीक तन्तुओंकी स्थितिका और उस स्थितिसे होनेवाले अन्तर प्रत्यंतरका अवलोकन किया और फिर भिन्न भिन्न विद्वानोंके सन्मुख रख कर इस पद्धतिको दृढ़ बना दिया। जिस मनुष्यकी विचारशक्ति क्षीण होती है उसके मस्तिष्ककी शक्तिके न्हासका प्रमाण मरणके बाद परीक्षा करने पर मस्तिष्कके बारक तंतुओंकी विशेष रचना परसे स्पष्ट मिल जाता है। यह बात भी मस्तिष्ककी रचना परसे अनुभव साधनके द्वारा निश्चित हो चुकी है कि विशेष प्रकारके रोगोंका मस्तिष्क पर जो परिणाम होता है उस परिणामकी छाप मस्तिष्क पर एक विशेष प्रकारकी ही पड़ती है। यद्यपि यह सब परीक्षा मरणके बाद कीगई है तो भी यह बात इसके द्वारा सिद्धान्त कोटिको पहुंच चुकी है कि मनुष्यके स्वभाव और उसके मजबूत बने हुये मस्तिष्कके नित्य संबंधके कारण मन और मस्तिष्कमें जो संबंध दिखलाई पड़ता है उसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। आर्थरलिंच नामक लेखकने भी शरीर विज्ञान और मानसशास्त्रके संबंधमें यही कहा है कि इन दोनों शास्त्रके अभ्याससे यह दृढ़ अनुभव होता है कि शारीरिक अवस्था और मानसिक कृतिमें अपरिहार्य संबंध है। ×

× If the two subjects Psychology and Physiology are studied side by side, we become convinced that within the limits of experience certain physical conditions are the inevitable anticedents of certain psychological processes

Lynch's " Psychlogy, a new system "

डॉ. अलेक्झेंडरबेनने भी अपने Mind and Body नामक ग्रंथमें शास्त्रीय प्रयोगोंके सार रूपसे यह लिखा है कि " शरीरविज्ञानशास्त्रके सूक्ष्म अनुभवके द्वारा यह बात निर्विवाद रीतिसे निष्पन्न होती है कि मस्तिष्क और मनका समवाय संबंध है "

इस प्रकार मन और मस्तिष्कका नित्य संबंध निश्चित हो जानेके कारण यदि सम्पूर्ण प्रकारके प्राणियोंके मस्तिष्ककी परीक्षा करनेसे यह बात सिद्ध हो गई कि निम्न श्रेणीके प्राणीसे लेकर उच्च श्रेणीके मनुष्य प्राणी तक सबके मस्तिष्ककी रचना तत्त्वतः एक ही प्रकारकी है और उच्च श्रेणीके मस्तिष्कमें कोई एक प्रकारकी निश्चित वृद्धि और परिणति दिखलाई देने पर भी वह मस्तिष्क कनिष्ठ श्रेणीके मस्तिष्ककी आवृत्ति ही है तो इससे मानस शास्त्रके ज्ञानमें और भी अधिक विशेषता हो जावेगी । क्योंकि फिर उच्च और नीच-वरिष्ठ और कनिष्ठ श्रेणीके मस्तिष्कोंकी तुलना कर यह ज्ञान लेनेसे कि दोनोंकी रचनामें कौनसा विशिष्ट अंतर होता जाता है उस अंतरका तत्त्व मालूम हो सकेगा और एक प्रकारसे मस्तिष्ककी परिणतिकी परंपरा भी मालूम हो सकेगी । इस पद्धतिको स्वीकार कर उत्क्रांतिके तत्त्वोंकी सहायतासे अनेक प्रयोगोंके द्वारा हर्बर्टस्पेन्सरने यह सिद्ध किया है कि सम्पूर्ण प्राणियोंकी मज्जारचना (Nervous system) एकही प्रकारकी होती है । इस रचनाके फलस्वरूप एक मज्जाग्रंथि (Nervous Nodule) होती है । और प्रत्येक मज्जाग्रंथिके दो तंतु (Filaments) होते हैं । इनमें एक तंतु संवेदनात्मक (Sensory) और दूसरा गतियुक्त (Motor) होता है । ऐसी अनेक ग्रंथियोंके एकत्रित होनेसे प्राणियोंकी मज्जारचना होती है । जो प्राणी प्रमुख कोटिके होते हैं उनकी मज्जारचना अधिक सूक्ष्म और अधिक उलझी हुई होती है । इतनाही अंतर रहता है । मज्जारचनाके कारण मन पर जो परिणाम होता है स्पेन्सरने उसका नाम प्रतिक्रिया (Reflex action) रखा है । और यह सिद्ध किया है कि अवलोकन, ग्रहण, स्मरण, सदसद्विवेक, कल्पना शक्ति, इच्छाशक्ति आदि बुद्धिके भिन्न भिन्न रूप इसी प्रतिक्रियाके परिणाम हैं । इस नवीन शोधक दृष्टिके द्वारा उसने अपना मन अंतर्मुख करके बहुत कुछ अवलोकन किया और उससे भी उसका यही सिद्धांत दृढ हुआ । स्पेन्सरके पहिले यूरोपके मानस शास्त्रीय साहित्यमें दो भिन्न पक्षोंके कारण मनोव्यापारके संबंधमें विचार प्रायः एक-सा

था। लॉक, मिल प्रभृति विद्वानोंके पक्षका कहना था कि पहिले पहिल मन संस्कार रहित होता है। फिर जैसे २ संस्कार पड़ते हैं, जिस २ प्रकार अनुभव आता है और जैसे २ विचारोंका साहचर्य होता है उसी प्रकार मनकी वृत्ति बनती जाती है। कॅन्ट वगैरह विद्वानोंका मत था कि जिस प्रकार तार सितारमें बंधे हुए होते हैं और उन पर आघात होते ही उनमेंसे ध्वनि निकलती है उसी प्रकार मन पर भी भिन्न भिन्न संस्कार पड़े हुए होते हैं और उन पर आघात होते ही वे उद्दीपित हो जाते हैं, दोनों पक्षोंका यह तत्त्व भेद स्पेन्सरकी उपपत्तिसे नष्टप्राय हो गया। क्योंकि उसने कॅन्टके मतानुसार यह तो स्वीकार किया ही था कि मन मूलसे ही संस्कारयुक्त होता है; परन्तु साथ ही लॉक, मिल, आदिकी यह उपपत्ति भी किसी अंशमें स्वीकार की कि यह संस्कार बहुत समय पहिलेके आनुवंशिक गुणोंसे प्राप्त होता है। और इस लिये यह किसी विशेष प्रसंग या विचार साहचर्यसे व्यवहारमें परिणत हो जाता है।

इस प्रकार मानसशास्त्रकी सहायतासे यदि मानसिक व्यापारोंकी चिकित्सा की जाने लगे तो भी इस शास्त्रकी सहायता मर्यादित ही है। क्योंकि वह उक्त पृथक्करणसे आगे नहीं जा सकता। यद्यपि मानसशास्त्रके द्वारा इतना स्पष्टीकरण हो चुका है कि मानसिक प्रतिक्रिया क्या है? अंतःस्फूर्ति किसे कहते हैं? सारासार विचार क्या वस्तु है? और कल्पना शक्ति क्या होती है?। तो भी इस शास्त्रके द्वारा यह बात निश्चित नहीं कही जा सकती कि किसी विशेष परिस्थितिके समय मनुष्य जातिका वैयक्तिक अथवा सामुदायिक मन अमुक मार्ग स्वीकार करेगा या अमुक दिशामें गमन करेगा। अथवा अमुक विचारसरणीको सारासार विवेकयुक्त या सारासार विवेक रहित मानेगा। और इस कारणसे इस शास्त्रके द्वारा धर्म संस्था, समाज रचना, राजकारण आदि मानवीय व्यवहारके प्रमुख अंगोंपर कुछ विशेष प्रकाश पड़नेकी संभावना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार व्याकरणके द्वारा शब्दके शुद्धाशुद्धके कारणका ज्ञान होता है उसी प्रकार मानस शास्त्रके द्वारा मानवीय कृतिके भले बुरेका ज्ञान होता है, परन्तु जिस प्रकार व्याकरणके द्वारा यह जानना कठिन है कि अमुक स्थानपर अमुक अर्थ व्यक्त करनेके लिये अमुक प्रकारकी एक योजना करना चाहिये उसी प्र ार मानस शास्त्रसे भी यह जानना कठिन है कि अमुक अवसर पर अमुक मार्गमें चलना अच्छा या बुरा है।

इस दृष्टिसे देखने पर इस शास्त्रके लिये भी यही कहना होगा जो गत प्रकरणोंमें इतिहास और आधिभौतिक शास्त्रोंके लिये कहा जा चुका है अर्थात् उपयुक्त होने पर भी सुधारणाके कार्यमें यह अज्ञातः सहायक है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानसशास्त्रने व्यवहारमें क्या सहायता की? और मानसशास्त्रके उदय होनेके पहिलेकी कौनसी कल्पनाएँ इसने पक्की कीं? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि मानसशास्त्रने यह निश्चित करके कि विश्वके प्राणिवर्गकी मनोरचनामें एक प्रकारका साम्य है और मनोरचनाका शरीररचनासे संबंध है, सुधारणाशास्त्रके नियम निश्चित करनेके कार्यमें एक प्रकारकी एकात्मता उत्पन्न कर दी है। मन वास्तवमें शरीरसे भिन्न है परन्तु उसका शरीरसे दृढ़ संबंध है। यह यदि मालूम नहीं होता तो उस मनकी कृतिकी चिकित्सा किस साधनके द्वारा की जा सकती? अमूर्त होनेके कारण किस प्रकार उसका थाह लगाया जा सकता? और किसके द्वारा उसके व्यापारकी चिकित्सा की जाती?। तथा मनकी सबलता या निर्बलता, उसकी शक्तिकी तीव्रता मंदताका ज्ञान भी किस साधनके द्वारा हो सकता?। यह बात न्यारी है कि किसी व्यक्ति विशेषके संबंधमें इस प्रकारका एकाध साधन उपस्थित हो जाय, परन्तु संपूर्ण मनुष्यजाति अथवा इतर प्राणिवर्गके मनके संबंधमें क्या पद्धति निश्चित की जा सकती थी?। मानसशास्त्रने इन सब रुकावटोंको दूर कर दिया है। और उसके द्वारा प्राणीवर्गकी मनोरचनाकी एकात्मता सिद्ध हो जानेके कारण अब यह अनुमान किया जा सकता है कि एक कार्यसे एक परिस्थितिमें एकही प्रकारका परिणाम होगा। इस शास्त्रके द्वारा मनुष्य कृतिकी चिकित्साके कार्यमें अधिक सुगमता हो गई है। केवल आवश्यकता इस बातकी है कि जिस परिस्थितिकी मनश्चिकित्सा करना हो उस परिस्थितिका ज्ञान भले प्रकार हो।

इसके उदाहरण, चाहें उस प्रकारके मानवीय व्यवहारमें मिल सकते हैं। आगेके प्रकरणोंमें सुधारणाका लक्षण इस प्रकार किया गया है कि सामाजिक बंधनोंसे व्यक्तिका पूर्ण छुटकारा होनाही सुधारणा है फिर वह बंधन चाहे सामाजिक हो, धार्मिक हो अथवा अन्य प्रकारका हो। इस लक्षण परसे यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्यकी सामाजिक बंधनोंसे मुक्त होनेकी इच्छाका होना स्वाभाविक है। परन्तु इस स्वभावके विरुद्ध यदि किसी व्यक्ति अथवा समुदायकी इच्छा सामाजिक बंधनों सहित ही रहनेकी हुई तो प्रश्न

यह होता है कि इस प्रकारकी इच्छाके होनेका कारण क्या ?। इस प्रश्नको हल करनेमें मानसशास्त्र सहायता देगा। वह कहेगा कि मन और मस्तिष्कका निकट संबंध होता है। अतःव्यक्ति अथवा व्यक्ति समुदायके मस्तिष्क पर विचार साहचर्यसे ऐसा परिणाम हो जाता है अथवा बाह्य परिस्थितिके कारण उनका मस्तिष्क ऐसी अपरिणत अवस्थामें रहता है कि उससे उनमें एक स्वाभाविक इच्छाका भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाता। रोग अथवा कमजोरीकी परिस्थितिमें मस्तिष्कके बलहीन हो जानेके कारण मनुष्यको उसके प्रिय व्यवहार भी अच्छे नहीं लगते उसी प्रकार बंधनमय परिस्थितिमें रहनेके अभ्यासके कारण अशक्त हो जानेवाले मस्तिष्कमें सामाजिक बंधनोंसे छूटनेकी स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न नहीं होती। इस दृष्टिसे धर्म, समाज, राजकारण आदिके व्यवहार संबंधी अनेक प्रश्न मानसशास्त्रकी दृष्टिसे हल किये जा सकते हैं। स्थूल परिस्थितिके ज्ञान परसे भूत और वर्तमानकालके ज्ञानकी सहायता द्वारा व्यक्तिके मस्तिष्ककी कल्पना होती है और फिर मनसे उसका जो निकट संबंध होता है उस परसे मनके रोगोंकी भी चिकित्सा की जा सकती है।

इस पद्धतिसे किसी भी विषयकी चिकित्सा करते समय मन और मस्तिष्कके निकट संबंधके कारण यह नहीं भूल जाना चाहिये कि मन एक सूक्ष्म पदार्थ है और आधिभौतिक नहीं है। मनकी कृतिके अनुसार मस्तिष्कमें समय समय पर जो परिणाम होता है उसके कारण कई लोगोंको भ्रम हो जाता है और वे समझने लगते हैं कि मस्तिष्कमें होनेवाले परिणामही मनकी क्रियाके लिये कारणभूत हैं। और इस भ्रमका यह फल होता है कि वे मस्तिष्कको मुख्य कारण समझकर मनको गौण समझते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो मस्तिष्कके परिणाम और मनकी वृत्तिमें कोई कार्य कारणभाव नहीं है। कार्यकारणभावोंमें कारणका पूर्व अस्तित्व और कार्यका पश्चाद्भाव--कारणका पहिले होना और कार्यका पीछे--अवश्य होता है। परन्तु मस्तिष्क और मनमें ऐसा कोई संबंध नहीं है। प्रत्युत इससे उल्टा है। क्योंकि पहिले मनकी क्रिया होती है फिर मस्तिष्क पर उसका परिणाम होता है। अत एव मस्तिष्कके परिणाम कारणरूप न होकर मानसिक व्यापारके कार्यरूप हैं। इस कारण पहिले मानसिक व्यापारोंका जो कि कारणरूप है ज्ञान होना आवश्यक है। परंतु यह कारण, मनके स्थूलरूप न होनेसे--सूक्ष्म होनेसे--भौतिकशास्त्रके गम्य नहीं है। और इसलिये वह आधिभौतिक शास्त्रके बाहिरकी बात है।

उसका ज्ञान करानेवाले साधन भी अतीन्द्रिय हैं। इसके संबंधमें एक दो उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। मानो कि किसी मनुष्यकी मानसिक वृत्ति क्रुद्ध हो रही है। इस वृत्तिका प्रतिबिंब मस्तिष्क पर पड़नेसे मज्जारचनामें उस वृत्तिके अनुसार अंतर पड़ेगा। यदि वह और अधिक क्रुद्ध होगा तो तद्नुरूप अंतर मज्जारचनामें दिखाई पड़ेगा। इस अंतरसे यह जाना जा सकेगा कि क्रोधकी अवस्थामें मज्जातन्तुओं पर अमुक प्रकारका परिणाम होता है। इसी प्रकार उस क्रुद्ध वृत्तिका माप भी किया जा सकेगा कि वह कितने जोरकी है। परन्तु इस प्रकार मनकी सब वृत्तियोंका परिणाम मज्जातंतुओं पर होना शक्य नहीं। कोई ऐसी भी वृत्तियो है जिनका परिणाम मस्तिष्क पर नहीं होता। शान्त वृत्तिमें मनुष्यके मनकी वृत्तियो उद्दीपित नहीं रहती। ऐसे समयमें सद्गुण व दुर्गुण, अच्छे और बुरे आदि जाननेके साधन भूत मानसिक व्यापारोंके प्रतिबिंब मस्तिष्क पर नहीं पड़ते। जिन मनोवृत्तियोंसे मस्तिष्ककी रचनामें अंतर पड़ता है उन्हींका प्रतिबिंब मज्जातंतुओं पर पड़ता है। और उसीके द्वारा स्थूल रीतिसे मन और मस्तिष्कका संबंध जाना जाता है +। अतएव प्रत्येक मनोवृत्तिकी मस्तिष्कमें प्रतिक्रिया होती रहती है या नही यह नही जाना जा सकता।

मन और मस्तिष्कके स्थूल संबंधके कारण मनको स्थूल कोटिमें ढकेलनेकी भूल किस प्रकार हो जाती है, इसका एक अच्छा उदाहरण स्पेन्सरके ग्रंथमें

+ Broad and general guidance is obtained by the study of the development of the brain in different individuals of the same type. ....But when we extend our enquiries we find that beyond certain indications we know nothing of the real structure or mode of operation of the organs serving the sense. Our knowledge is sufficient only to form the foundations for various hypotheses, of which some must be false and of which probably none may be true.

Lynch's "Psychology a New System"
Part II, Chap. V.

मिलता है। स्पेन्सरने अपने 'आदि-तत्व' नामक ग्रंथमें धर्म कल्पना और आधिभौतिकशास्त्रमें होनेवाले वादविवादको मिटानेके लिये एक उपपत्ति निकाली है। उसका मत है कि इस उपपत्तिसे दोनोंका विवाद मिट जयगा। स्पेन्सरके मतसे धर्म और भौतिक शास्त्र इन दोनोंका आधारभूत तत्व यह है कि सृष्टिकी सम्पूर्ण शक्तियां नियत प्रमाण हैं। सारांश यह है कि किसी भी कालमें यदी शक्तियोंका प्रमाण मापा जाय तो सब शक्तियोंका प्रमाण मिलाने पर वह दूसरे कालके प्रमाणके बराबर ही होगा न्यूनाधिक नहीं। आधिभौतिक शास्त्रके संबंधमें तो इस सिद्धान्तकी आवश्यकता स्वीकार किये बिना गत्यंतर नहीं है। क्योंकि सृष्टिकी शक्ति नियत प्रमाणसे अधिक होने पर पदार्थोंको अधिक गति मिलेगी जिससे विश्वकी स्थिरता ही नष्ट हो जायगी। और शक्तिमें न्यूनत्व आ जाने पर विश्वके व्यापार ही रुक जावेंगे। इस लिये भौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे तो इस नियमकी आवश्यकता स्वीकार करना पड़ेगी। परंतु धर्मका अधिष्ठान भी इसी नियम पर माननेसे काम नहीं चलेगा क्योंकि वह सूक्ष्म वस्तु है। भौतिक शास्त्रका विषय स्थूल है और धर्मका सूक्ष्म भावनामय है। इसलिये इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंका बोध समान अर्थसे कभी न हो सकेगा। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि स्पेन्सरका सिद्धान्त जिस अर्थसे स्थूल सृष्टिपर लागू होता है उसी अर्थसे सूक्ष्म सृष्टि पर भी लागू होता है। इस विवेचनसे यह बात मालूम होगी कि प्रबुद्ध पुरुषोंके विचारोंमें भी मनके अतीन्द्रिय स्वरूपको न जाननेके कारण किस प्रकारकी गड़बड़ हो जाती है। मनका स्वरूप सूक्ष्म है। उसका भौतिक पदार्थोंसे स्वरूपैक्य नहीं है। परन्तु मनके कितने ही व्यापारोंकी प्रतिकृति मज्जातंतुओं पर होनेके कारण मज्जा रचनाकी परीक्षाके द्वारा मनके संबंधमें स्थूल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मनके व्यापार आस-पासकी परिस्थिति पर अवलंबित हैं। परिस्थिति जिस जिस प्रकार बदलती है मनकी प्रवृत्ति भी उसी प्रकार बदलती रहती है इसलिये दीर्घ अनुभवके द्वारा मानसशास्त्रके कुछ सिद्धांत निश्चित करने पर भी वर्तमानकालके ज्ञानके बिना ऐसा कोई सिद्धांत निश्चित नहीं किया जा सकता जिस परसे यह कहा जा सके कि व्यक्ति अथवा समाजके व्यवहार अमुक प्रकारके होंगे। गत प्रकरणमें यह उल्लेख किया जा चुका है कि जर्मन तत्ववेत्ता व्हुंट, आधिभौतिक-शास्त्रके द्वारा मनकी चिकित्सा करनेमें सफल न हो सका तब उसने मनको

अतीन्द्रिय माना। इसी तत्त्ववेत्ताने इस संबंधमें इसप्रकार उद्गार प्रगट किये हैं।

"यद्यपि सुधारणाके नियम निश्चित करनेमें मानसशास्त्रकी आवश्यकता है। परन्तु मानवीय व्यवहार जिन संस्थाओंके द्वारा चलते हैं उन संस्थाओंकी घटनाके कार्यमें मानव बुद्धि कोनसा मार्ग ग्रहण करेगी, यह कहनेकी शक्ति इस शास्त्रके नियमोंमें नहीं है। इसलिये यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि फिर वह कोनसा प्रमाण है जिसके द्वारा उक्त ज्ञान होता है।"

कुछ विवेचकोंने आधिभौतिक शास्त्रकी सहायता मर्यादित समझकर मानसशास्त्रके अतीन्द्रिय प्रान्तसे प्रवेश किया, परन्तु जब उससे भी इष्ट कार्यकी सिद्धि नहीं हुई तब उसी दिशामें आगे जाकर उन्होंने एक नवीन प्रमाण ढूंढा। उस नवीन प्रमाणकी भी परिक्षा कर लेना उचित समझ कर यहां उसी पर विचार किया जाता है। इस प्रमाणका नाम पुरस्कर्ताओंने अंत:-स्फूर्ति रक्खा है। इस प्रमाणकी उपपत्ति समझनेके लिये इसकी उपपत्तिका थोड़ासा पूर्व वृतान्त जान लेना उचित होगा।

इस प्रमाणके पुरस्कर्ता इंग्लंडके " कार्डिनल न्यूमन " नामक एक धर्माध्यक्ष हैं। इनका जन्म सन १८०१ ई० में हुआ था। बाल्यावस्थासे ही इनमें एक प्रकारकी अलौकिक चिकित्सक बुद्धि और उसके साथ ही साथ धर्माभ्यासके लिये जिसकी आवश्यकता है उस सुखोपभोगके प्रतिवैराग्यके चिन्ह पूर्णतया दिखाई देने लगे। ये प्रोटेस्टेन्ट मतके अनुयायि थे। क्योंकि एक तो यह धर्म इनका कुल परंपरागत था। दूसरे इन्हें शिक्षा भी इसी धर्मकी मिली थी। इनकी शिक्षा पूर्ण हो जाने पर इनकी प्रवृत्ति इतर जनोंके समान संसारकी ओर नहीं हुई किंतु वैराग्यके अंकुर दिन पर दिन बलवान् होने लगे और यह निहाल अपना समय धर्मतत्त्वके चिंतवनमें व्यतीत करने लगा। इसने अपने अंतःकरण पर किसी प्रकारके पक्षपात अथवा आग्रहका संस्कार नहीं रक्खा और साराश्सार विचारकी शुद्ध कसोटी पर धर्मके प्रत्येक तत्त्व और विश्वासोंकी परीक्षा करना शुरू की। और जो सत्य, बुद्धि स्वीकार करे उसे मानने और किसी भी परंपरागत लौकिक मान्यताओंको न माननेकी पद्धति इसने स्वीकार की। इसके इस विचारका परिणाम यह हुआ कि प्रोटेस्टन्ट धर्ममें बहुतसे तत्त्व उसे सदसद्‌विवेकके विरुद्ध धर्मभंड और लोकभ्रम पर अवलंबित दिखाई देने

लगे। खिस्तीधर्मके मूलतत्त्वोंमें समयानुसार परिवर्तन होते रहनेके कारण जो उस धर्मको नूतन स्वरूप प्राप्त हुआ था उसमें न्यूमनको पूर्ण असंबद्धता (Composite mass of inconsistency) के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं दिखा। अतः उसने अपना पंथ छोड़ दिया और कैथोलिक पंथको जो कि उसके मतसे खिस्तिधर्मका असल और अविकृतरूप है, स्वीकार किया। इस प्रकार प्राचीन पंथ स्वीकार कर लेने पर उसके विश्वासके अनुसार उसके चित्तको शांति मिली जिसकी कि उसे बहुत कुछ चाह थी। शांतिके मिल जाने पर उसने इस शांति और सुखके आदि तत्त्वको परोपकारार्थ दूसरोंको भी समझानेका प्रयत्न किया।

यह कार्य करनेके लिये उसने जो किया उसे समझनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि वह धार्मिक स्थिति कैसी थी। बिना इसके जाने उनके विवेचनका वास्तविक मर्म ध्यानमें नहीं आवेगा।

न्यूमनके समयमें आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नति बहुत शीघ्रतासे हो रही थी। और यह शास्त्र धार्मिक साम्राज्यके एक एक प्रदेश पर क्रमशः आक्रमण करने लगा था। तथा इस शास्त्रके द्वारा कुछ चमत्कारोंकी उलझन सुलझनेके कारण इस शास्त्रके पुरस्कर्ताओंमें सर्वज्ञत्वका अभिनिवेश उत्पन्न होने लगा था। उधर धर्मवादियोंको भय होने लगा था कि यदि कुछ दिनों तक यही क्रिया होती रही तो जगतमें धर्म नाममात्रको भी नहीं रहेगा अतएव वे लोग भी इस नवीन शास्त्रके प्रतीकारके लिये अपने वादविवादके शस्त्रोंको संभालने लगे थे और इस प्रकार दोनों पक्ष रणक्षेत्रमें उतर पड़े थे।

धर्मवादी लोगोंका मत था कि सर्व जगत् दुःखमय है आद्य पुरुषके द्वारा परमेश्वरकी आज्ञा भंग होनेके कारण परमेश्वरने मनुष्यजातिको जो शाप दिया उससे यह जगत् विषवृक्षके समान दुःखमय हो गया है। मनुष्यके द्वारा निरंतर अनंत पाप हुआ करते हैं। यदि उन पापोंके अनुसार मनुष्यको दंड दिया जाता तो उसकी जो दशा होती उसका वर्णन तक नहीं किया जा सकता। परंतु परमेश्वर दयामय है। शैतानके दुष्कृत्यों और चेतावनियोंसे मनुष्य मात्र पर निरंतर होनेवाले परिणामके प्रतीकारार्थ ईश्वरने क्राइस्टका अवतार धारण किया और अपने रक्तसे मनुष्यजातिके पापोंका क्षालन किया। मनुष्यप्राणी स्वभावतः दुर्बल है अतः बिना परमेश्वरकी कृपाके उसका छुटकारा

नहीं हो सकता । यदि मनुष्य अपने छुटकारेके लिये परमेश्वरको प्रार्थनारूपसे शान्त नहीं करेगा तो वह उसके कोपसे अपने ऊपर संकटोंकी परंपरा बुलावेगा। यदि क्राइस्टके रूपमें परमेश्वरने अवतार धारण नहीं किया होता तो मनुष्यके कष्टोंका पूछना ही क्या था ? । इसलिये उस परमेश्वर पर, उसके अवतार पर और उसके उद्देश्य पर भावनात्मक बुद्धिसे श्रद्धा रखते हुये तदनुरूप भक्ति पूर्ण आचर्ण करनेसे ही मनुष्यजातिकी उन्नति होगी । उसकी आज्ञाकी अधार्मिक बुद्धिसे चिकित्सा करनेसे, जगत्‌की वस्तुओं पर उसका स्वामित्व स्वीकार न करनेसे तथा यह अभिमान करनेसे कि मनुष्य भौतिकशास्त्रोंकी सहायतासे अनेक प्रकारके चमत्कार पूर्ण कार्य कर सकता है मनुष्यजातिकी अधोगति होगी । इस लिये यह नवीन (भौतिक) शास्त्र अखंड शांतिके मार्गमें विघ्न स्वरूप है । तथा श्रद्धा रूपी वृक्षके लिये कुठारके समान है । अतः इन शास्त्रोंका आश्रय लेकर क्राइस्टकी सेवा और उसकी आज्ञाका पालन करना चाहिये । उसीसे सुखकी प्राप्ति होगी ।

इनके विरुद्ध आधि-भौतिक शास्त्रवादियोंका यह कहनाथा कि धर्मवादी, लोगोंके कहे अनुसार हम भी यह मानते हैं कि जगत् दुःख पूर्ण है । और हमारी भी यह इच्छा है कि उस दुःखका नाश होकर मनुष्यको सुखकी प्राप्ति हो, यहां तक हम दोनों—भौतिक शास्त्री और धर्मवादी—एक हैं । परन्तु उस उद्देश्य-दुःखनाश और सुख प्राप्तिके मार्गमें भिन्नता है । धर्मवादियोंका यह कहना भूल भरा हुआ है कि मनुष्य जातिके मनको जो दुःख होता है वह शैतान नामक कुछ दुष्ट प्रवृत्तिके प्राणीविशेषोंके प्रयत्नोंका फल है । वर्तमानमें होनेवाली आधिभौतिक शास्त्रकी उन्नतिसे कारण यही निश्चत हो गया है कि मन और मज्जा तंतुओंका परस्पर संबंध है । शरीर पर होनेवाले अनुकूल प्रतिकूल विकार मस्तिष्कमें संक्रमित होते हैं जिनसे मनमें सुखदुःखकी भावना उत्पन्न होती है । शरीरके उन विकारोंपर (जिन्हें एक प्रकारसे सुखदुःखका कारण समझना चाहिये) आधि-भौतिक शास्त्रकी सहायतासे मनुष्य अधिकार कर सकता है । इस लिये मानसिक दुःखके स्पष्टीकरणके लिये शैतानकी कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है । किंतु शरीरको दुःख देनेवाले अधिभौतिक सुखके साधनोंके अभावकी ओर मानसिक दुःखका कार्य कारण भाव लगा कर उन साधनोंको हस्तगत कर मानसिक शांति प्राप्त करना ही उचित है । उदाहरणार्थ जिस प्रकार प्लेग, दुष्काल आदि विपत्तियोंसे मनुष्य जातिको

अपरिमित क्लेश पहिले हुआ करता था। यदि इन विपत्तियोंके आगे शिर झुकाकर मनुष्य कुछ प्रयत्न नहीं करता और परमेश्वरका नाम जपता रहता तो संहार और क्लेश कभी नष्ट नहीं होते। परंतु प्लेग निवारणार्थ आरोग्य शास्त्रके तत्त्व व्यवहारमें आनेके कारण तथा दुष्काल निवारणार्थ बांध बनवाकर पानीका संग्रह स्थायी रखनेकी योजना भौतिक उपायोंसे साध्य हो जानेके कारण ये स्वाभाविक आपत्ति बहुत कुछ कम हो गई है। और उनके कम हो जानेसे शारीरिक क्लेश, सांपत्तिक हानि और मानसिक यातनायें भी कम हो गई हैं। यह सब निरुद्योगी होकर केवल ईश्वरकी प्रार्थनाओंसे नहीं हुआ है किंतु मनुष्य कृति, भौतिक उपाय और चिकित्सक बुद्धिसे हुआ है। अतएव इन बातोंको साध्य कर देनेवाले शास्त्रका ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

इस प्रकार यह झगड़ा न्यूमनके समयमें बहुत जोर पकड़ गया था। न्यूमनकी स्वतःकी प्रवृत्ति धर्म वादकी ओर थी। अतः भौतिक शास्त्र प्रतिपादक विचारसरणीका खंडन करना उसके लिये आवश्यक था और वह उसने अपने "grammar of assent" नामक पुस्तकमें करनेका प्रयत्न भी किया। उसके प्रतिपादनकी पद्धति इस प्रकार है कि भौतिक शास्त्रके कुछ प्रमेय पहिले देखनेपर सत्य मालूम होते हैं परंतु वास्तवमें वे त्रिकालाबाधित सिद्धान्त नहीं हैं। कोई भी भौतिक प्रमेय पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता; किंतु जिस कालमें वे सिद्धान्त रूप माने जाते हैं उस कालमें उनकी संभावना लोगोंको अधिकाधिक रूपसे प्रतीत होती है। यही उनकी सिद्धताका प्रयोजन है। भौतिक प्रमेय कभी सत्यकी ऐसी कोटिको नहीं पहुंच सकते जो कभी असत्य न ठहरे। गेलिलियोंके पहले यह प्रमेय माना जाता था कि पृथिवी सूर्यके आसपास नहीं फिरती किंतु सूर्य पृथिवीके आसपास घूमता है। इससे तात्पर्य इतना ही निकलता है कि उस समय तक सूर्य भ्रमणके प्रमेयकी संभवता ही लोगोंकी प्रतीतिमें अधिक आती थी। गेलिलियोने जब उस सिद्धान्तको झूठा ठहरा दिया तब उस प्रमेयका सिद्धान्त नष्ट हो गया और वह उसके विरुद्धकी कल्पनामें आ गया। परंतु इस नवीन उपपत्तिका भी अर्थ यही है कि इसकी संभावना वर्तमानमें अधिक मालूम होती है। कौन कह सकता है कि यह कल्पना नहीं बदल सकेगी। इसी प्रकार रसायन शास्त्रमें उप-लब्ध धातुओंकी संख्या परिमितता तथा पदार्थ विज्ञान शास्त्रमें शक्तिकी मर्यादा भी सबसे अधिक संभवनीय कल्पनायें हैं। वे पूर्ण

सत्य नहीं हैं। न्यूमन कहता है कि सूर्य आज तक प्रतिदिन सुबह उदय हुआ अतएव कल भी उदय होगा, ऊंचे परसे फेंका हुआ पत्थर सदा नीचे पड़ेगा और अग्निसे शरीर अवश्य जलेगा यह सब भी अधिकाधिक संभवनीय कल्पनाएं हैं। कल्पनासे अधिक उनका मूल्य नहीं है। ऐसी अपूर्ण कल्पनाओंके स्थान भौतिक शास्त्रको मनुष्य संपूर्ण किस प्रकार मान सकता है? परंतु धार्मिक कल्पनाएं त्रिकालाबाधित प्रमेय हैं। इस प्रकार भौतिक प्रमेयोंको संभाव्यता और धार्मिक प्रमेयोंको अबाधितत्वका रूप देकर न्यूमनने भौतिक शास्त्रके प्रमेयोंका ही तत्त्व सिद्ध किया। और उसके वादियोंको विवाद क्षेत्रसे हटाया।

इस प्रकार भौतिक शास्त्ररूपी शत्रुके भगा देनेपर धर्म साधनके प्रमेयोंकी चिकित्सा करनेके लिये किसी निश्चित प्रमाणकी योजना करनेका भार उस पर आया। क्योंकि खिस्ती धर्मके समान, महम्मदी धर्म, बुद्ध धर्म, हिन्दू-धर्म आदि अन्य धर्म अपने आपको अक्षय सुखके साधन कहते हैं ऐसी दशामें उन सबकी तुलना कर खिस्ती धर्मकी और उसमें भी केथोलिक पंथकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेवाले प्रमाणको बतलानेकी जवाबदारी उस पर आपड़ी थी। अतः उसने यह ठहराया कि इन सब बातोंको सिद्ध करनेवाला प्रमाण "स्वतः की अंतः प्रवृत्ति है"। किसी भी वस्तुके ज्ञानमें साधनभूत कर्मेन्द्रियाँ हुआ करती हैं इन कर्मेन्द्रियोंके द्वारा स्थूल और भौतिक वस्तुओंका ही ग्रहण होता है। परंतु भौतिक पदार्थोंके संबंधमें न्यूमनके द्वारा निकाले हुये नियम संभाव्यताकी श्रेणीमें चले जानेके कारण यथार्थ ज्ञानके पूर्वोक्त साधन भी हीनबल हो गये अतः न्यूमनने 'अंतःस्फूर्ति' नामक नवीन प्रमाणकी शोधकी। उसके मतानुसार इस अंतःस्फूर्ति नामक प्रमाणसे प्राप्त हुआ ज्ञान संदेह रहित होता है। और इस प्रमाणकी सहायतासे निकाला हुआ सिद्धान्त भी अबाधित होता है। इस प्रमाणका स्पष्टीकरण न्यूमनके ही शब्दोंमें इस प्रकार किया जा सकता है कि जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य तुरंत सत्यासत्य, ग्राह्याग्राह्य, और कार्याकार्य, निर्णय तथा निश्चय कर सकता है वह बुद्धि सत्यज्ञानका प्रमाण है। " भगवद्गीतामें सात्विक बुद्धिका जो लक्षण कहा है वह लक्षण न्यूमनके प्रमाणसे बिलकुल मिलता है। वह इस प्रकार है —

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी

अर्थात् जिस बुद्धिके कारण अपने आप कार्य अकार्य, भय अभय, बंध और मोक्षका ज्ञान होता है वह बुद्धि सात्विक बुद्धि है। और इसे ही न्यूमनका प्रमाण भी कह सकते हैं। न्यूमनके मतानुसार ऐसी बुद्धि प्राप्त करनेके लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता और न उसकी प्रक्रिया ही तर्क प्रतिष्ठ होती है। जिस समय कार्या-कार्यके निर्णय करनेका प्रसंग आता है अथवा सत्यासत्यके संबंध में संदेह उत्पन्न होता है उस समय अंतःकरणकी प्रवृत्ति जो स्वीकार करे वही प्रमाण है। कालिदासने शाकुंतल नाटकमें राजा दुष्यंतसे भी यही कहलाया है:-

" सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु । प्रमाणमंतःकरणप्रवृत्तयः । "

अर्थात् संदेह उत्पन्न होनेके समय श्रेष्ठ पुरुषोंकी अंत.करणकी प्रवृत्ति जिस ओर होगी वही प्रमाण है। न्यूमनने अपने इस नवीन प्रमाणके कुछ उदाहरण भी दिये हैं। जैसे कि सतरंज अथवा बिलियर्ड (इंगलिश पद्धतिका खेल) खेलते समय विरुद्ध पक्षके बलवान होने पर और उसका दाव अधिक अच्छा होने पर भी उसका दाव चुका कर अपनी बाजू प्रतिपक्षीसे भी बलवान् कर लेनेकी जो बुद्धि खिलाड़ीमें एकदम स्फुरण होती है उसे अंतःस्फूर्ति कहते हैं। रोगकी विकट परिस्थितिका जो डाक्टर ठीक २ निदान करता है उस समय वह अंतःस्फूर्तिसे ही करता है। जगद्विख्यात योद्धा नेपोलियन जो एक दृष्टिपात मात्रसे रणक्षेत्रका निरीक्षण कर क्षणमात्रमें समविषम भाग ग्रहण कर सकता था और शत्रुके दुर्बल स्थानको जान कर यह कह सकता था कि अमुक स्थान पर आक्रमण करनेसे जय प्राप्त होगी, उसका कारण क्या था ? यही अतः-स्फूर्तिकी सहायता। यह गणितसे हल होनेवाला हिसाब नहीं है। और न ऐरे गैरेसे ही काम चल सकता है। इसके लिये विशेष व्यक्तियोंकी आवश्यकता है जिन्हे आवश्यकताके समय अंतःस्फूर्ति हो सके। एकाधा वकील अपने मुवक्किलके विरुद्ध सबल प्रमाण होने पर भी एक साधारण प्रमाणके बल पर अपनी वाक्चातुरीसे जो जज और जूरीका मन आकर्षित कर लेता है उसका कारण भी यही अंतःस्फूर्ति है। एक डिटेक्टिव्ह, अपराधी और अपराधका पता न होने पर भी अपने मनकी कल्पनाकी एक शृंखला बना लेता है और फिर अपराधका पता लगा लेता है उस समय उसे यही अंतःस्फूर्ति सहायता देती है। इसी प्रकार राफेल और रविवर्मा जैसे अपूर्व चित्रकारों, टर्नर सरीखे सृष्टि सौंदर्यको चित्रित करने-

वाले चित्रकारों और कालिदास, शेक्सपियर व शेले सरीखे सहृदय कवियोंकी कृतिकी आधारभूत उनकी अंतःस्फूर्ति ही है। इस बुद्धिका विश्लेषण, चिकित्सा अथवा विग्रह नहीं किया जा सकता। यह बुद्धि तर्क शास्त्रोंके नियमोंसे नहीं प्राप्त होती और न खंडन-मंडन अथवा पूर्वपक्ष उत्तरपक्षके द्वारा इसका निर्णय ही होता है। तथा उस (अंतःस्फूर्ति) के निर्णयकी समानता इतिहासके उदाहरणोंपरसे भी सिद्ध नहीं की जाती, किंतु वह भवभूतिके कहे हुये प्रेमके लक्षण 'आन्तरः कोऽपि हेतुः' के समान अनिर्वर्णीय और अनुदाहरणीय स्फूर्ति ही होती है। अनंत प्रकारके वर्णनोंसे भरे हुये इतिहास विषयकी किसी एक सत्य तत्वके अनुरोधसे जानकर उसके संपूर्ण प्रसंगोंकी संगति बैठा देनेवाले मामसन अथवा मेहम्यूतको, अधिक तो क्या अपूर्व भौतिक शास्त्रमें शोध करनेवाले न्यूटन, फेरेडे अथवा डारविन सबको अवसर आनेपर प्रयत्न करनेकी जो बुद्धि होती थी वह भी अंतःस्फूर्तिजन्य ही होती थी। इस बुद्धिको धर्मविषयक चर्चामें बहुत स्थान मिलता है। क्योंकि धर्मके सिद्धान्त स्वाभाविक रीतिसे ही आधिभौतिक शास्त्रकी कसोटीपर जाँचे जाने योग्य नहीं होते। उनकी सत्यासत्यताके निर्णयके लिये अतीन्द्रिय कसोटीकी आवश्यकता होती है। वह कसोटी यही अंतःस्फूर्ति है। अतः इसके द्वारा उस संबंधमें बहुत शीघ्र निर्णय हो सकता है।

भवभूतिके कहे अनुसार "सता" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंकी अंतःस्फूर्ति ही प्रमाण माने जाने योग्य है। साधारण पुरुषोंकी नहीं। क्योंकि साधारण जनकी अंत स्फूर्ति माननीय नहीं हो सकती। इसी लिये ऐसे पुरुषोंको अपने बुद्धिबलसे निर्णय करनेका प्रयत्न न कर "महाजनो येन गतः स पंथा." के अनुसार महापुरुष जिस मार्गसे गमन करें अर्थात् जैसा आचर्ण करें वैसा ही आचर्ण करना चाहिये। साधारण जनोंके ज्ञानका प्रमाण विश्वास अथवा श्रद्धा ही है। न्यूमनके इस मतका फल यह होगा कि बालकगण, भिन्न २ वस्तुओंके गुणावगुणको जाननेवाले वैद्यके अभिप्रायकी अपेक्षा अपने खाद्य व्यवहारके लिये मातापिताका ही कहना मानेंगे सूर्यके आसपास पृथिवी घूमती है यह कहनेवाले शोधक विद्वानका कहना न मानकर सूर्य भ्रमण करता है का सिद्धान्त मानेंगे। तथा गतकालीन धार्मिक चमत्कारों पर विश्वास रखनेवाले धर्म गुरुपर, तर्कदृष्टि अथवा शास्त्रीय दृष्टिसे धार्मिक कल्पनाकी चिकित्सा करनेवाले विवेचककी अपेक्षा अधिक विश्वास करेंगे। इन सब विचारसरणियो

का उपयोगकर धर्म चर्चाके संबंधमे न्यूमनने यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि सब धर्मोंमें क्रिस्ती धर्म श्रेष्ठ है और उसमें भी कॅथोलिक संप्रदाय श्रेष्ठ हैं। तथा वही अत्यंत सुख दे सकता है। यह न्यूमनके प्रमाणवादका सामान्य स्वरूप हुआ।

अब यहां इस प्रमाणवादकी परीक्षा करना उचित होगा। न्यूमनके सिद्धान्तमें मुख्यतया दो तत्त्व ध्यानमें आते हैं पहिला यह कि सृष्टिके चमत्कार जिन नियमोंके द्वारा होते हैं उन नियमोंमे जो निश्चितता और एकविधता दिखलाई देती है वह पूर्णतया (न्यूमनके विचारानुसार) मान्य करनेके योग्य नही है। परंतु न्यूमनका यह कहना भ्रमसे खाली नहीं है। अनुभव इसके विरुद्ध है। श्रेष्ठ जनोंकी अंतःस्फूर्तिके द्वारा होनेवाले आचरणोंको न्यूमनने जो साधारण पुरुषोंका मार्गादर्श ठहराया है वह ठीक नही है क्योंकि वे सदा सत्य अथवा सर्व स्थानों और सर्व कालोंमें एक विध नहीं होते। किंतु सदा अनिश्चित रहते हैं। परंतु सृष्टि चमत्कारके नियम त्रिकालाबाधित होते है और इस लिये मनुष्य प्राणी उन्हें योग्य मानता है। उन्हें योग्य कहनेका कारण केवल यही है कि अयोग्यताके दूसरे अनेक उदाहरण दिखलाई देते हैं। न्यूमनने पूर्ण सत्यके जो उदाहरण दिये हैं उन पर विचार करनेसे प्रतीत होगा कि उन्हे पूर्ण सत्य मानना योग्य नहीं है। जैसे कि न्यूमनने माना है कि छोटे बालकोंको अपने मातापिता पर पूर्ण विश्वास होता है और उनके वचन बालकोंके लिये पूर्ण मान्यताके पात्र होते हैं। न्यूमनका यह कहना ठीक है परंतु विचारना यह है कि जगत्की दृष्टिसे उन् वचनोंका मूल्य कितना है। बहुतसी बार मातापिताका कहना सदोष होता है, अतएव जगत्की दृष्टिसे वह निरुपयोगी सिद्ध होता है। धार्मिक सिद्धान्त दो प्रकारके होते हैं। एक तो इस प्रकारके जिन्हें सब जगतमाने दूसरे वे जिन्हें विशिष्ट अधिकारके लोग ही माने। छोटे बालकोंका मातापिताकी आज्ञा मानना दूसरे प्रकारका धार्मिक सिद्धान्त है। छोटे बालकोंके अज्ञानके कारण और मातापिताका अपने बालकों पर निःसीम प्रेम होनेके कारण बालकोंको मातापिता जो कुछ कहेंगे वह बालकोंके लिये हितकर ही कहेंगे, इस लिये बालकोंको मातापिताकी आज्ञा पालन करना उचित है। यह निश्चय करनेवाला सिद्धान्त बालको तक ही योग्य कहा जा सकेगा क्यों कि मातापिताके ज्ञानकी तुलना उनसे अधिक ज्ञानी पुरुषोंके ज्ञानसे-करने पर उनका कथन

बहुतसा अविचार पूर्ण मालूम होगा । ऐसे समयमें अधिक ज्ञानवान् पुरुषोंके मतकी ओर दुर्लक्ष करके अल्प बुद्धिवालोंके कहनेको ही मान्य करनेके लिये कौन कह सकता है ? । यही बात धर्म तत्वोंके संबंधमें कही जा सकती है । अपने पूर्वजोंके स्वीकार किये हुये धर्म विशेषके कोई विशिष्ट पंथको ही बढ़ते हुये ज्ञानके समयमें मान्य करनेके लिये भला कौन कह सकता है ? । न्यूमनका ही उदाहरण लिया जाय तो उसने पहिले पूर्वपरंपरागत होनेके कारण तथा उसीकी शिक्षा मिलनेके कारण प्रोटेस्टंट पंथ स्वीकार किया था । परंतु उसने उसका त्याग कर फिर केथोलिक पंथ क्यों स्वीकार किया ? । यदि अपने माता, पिता और गुरुकी शिक्षा ही मान्य करना आवश्यक है तो फिर उसने जो यह रंग पलटा उसका आधार क्या है ? । सारांश यह है कि न्यूमनके दृष्टान्तोंका पृथक्करण करनेसे यह मालूम होता है कि जिन बातोंको न्यूमन पूर्ण सत्य कहता है और जो उसके कहे अनुसार पूर्ण मान्यताकी पात्र हैं वे बातें तीन प्रकारके आधारोंसे जगत्में विश्वासकी पात्र होती हैं । वे तीन बातें हैं अज्ञान १ परंपरा २ और ३ आवश्यकता । छोटे बालक जो अपने मातापिताके कहनेको पूर्ण सत्य मानते हैं उसका कारण अज्ञान है । साधारण जनसमाज पहिलेसे चली आई हुई धार्मिक बातों पर जो विश्वास करता है उसका कारण पूर्व परंपरा है । और जगत्में साधारणतया सद्गुणकी ही जय होती है दुर्गुणोंको दण्ड मिलता है, इस विश्वासका कारण आवश्यकता है । क्यों कि यदि इस प्रकारके कोई कार्याऽकार्यके निर्णयके साधन न ठहराये जावें तो जगत्के व्यवहार ही बंद होजाय । अथवा व्यवहार नपुंसक हो जावें । इस लिये ऐसे प्रमेयों-सद्गुणकी जय दुर्गुणकी क्षय–आदिके ठहरा देनेकी आवश्यकता होती है । परंतु इन तीनों कारणोंके विरोधी कारण जगत्में मौजूद हैं । अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है, परंपराका प्रभाव चिकित्सक बुद्धिसे नष्ट हो जाता है और आवश्यकतासे ठहराई हुई बातें, प्रसंग विशेष पर झूठी हो जाती हैं । सारांश यह कि न्यूमनने जिन्हें पूर्ण सत्य माना है वे इन तीनों प्रकारके होनेके कारण ऊपर कही हुई पद्धतिसे अपूर्ण ठहरते हैं । न्यूमन जो सृष्टिके नियमोंको संभाव्यताका रूप देता है वह ठीक नहीं । क्योंकि जितनी निश्चितता शक्य हो सकती है उतनी उन नियमोंमें मौजूद है । यह होना कभी संभव नहीं है कि सूर्यका एकाध दिन उदय न हो, अग्नि जला न सके और ऊपरसे गिरा हुआ पत्थर नीचे न गिरे । अतएव इन

सावोंको पूर्ण सत्य माननेमें कोई हानि नहीं है । न्यूमन कहता है कि सद्गुणकी जय होती है, यह सिद्धान्त सम्पूर्ण मान्यताका पात्र है और ऊपरसे फेंके हुए पदार्थका नीचे गिरना यह केवल संभावना मात्र है । विचार यह होता है कि यदि कोई दुर्गुणी किसी ऐसे पुरुषको जो सद्गुणकी जय होती है, यह सिद्धांत पूर्ण सत्य मानता हो पर्वत पर बलात्कार गिराने लगे तो क्या वह वहां पर अपने सिद्धान्तको पूर्ण सत्य मानकर यह बात मान लेगा कि नीचे गिरना केवल संभाव्यता मात्र है ? । इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि सृष्टि नियमोंको अपूर्ण कह कर जिन नियमोंको न्यूमन मानता है वे ही नियम वास्तवमें अपूर्ण हैं । और सृष्टि नियम ही निश्चित एवं पूर्ण हैं । इस प्रकार न्यूमनका पहिला सिद्धान्त सत्य नहीं ठहरता ।

अब उसके दूसरे सिद्धान्त पर विचार करना उचित होगा । दूसरा सिद्धान्त यह है कि अंतःस्फूर्ति एक अनिर्वचनीय पदार्थ है । उसकी चिकित्सा नहीं की जासकती । वह " आंतरकोपिहेतु " इस भवभूतिके किये हुए प्रेमके लक्षणके समान है । परंतु यह कहना ठीक नहीं है । अपने इस सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये न्यूमनने जो उदाहरण दिये हैं उन्ही पर विचार करनेसे मालूम होगा कि अंतःस्फूर्ति और कुछ नहीं केवल अभ्याससे प्राप्त हुआ कर्म कौशल्य है । भगवद्गीतामें योग शब्दकी व्याख्या यह की गई है कि " योगः कर्मसु कौशलम् " अर्थात् योग कोई अज्ञेय अथवा गूढ़ वस्तु नहीं है । वह केवल सतत अभ्यास और चित्तकी एकाग्रतासे प्राप्त की हुई कुशलताही है । सतरंज खेलनेवाला खिलाड़ी, सतत अभ्यासके कारण जो उसने कुशलता प्राप्त की है उसके द्वारा, अपनी कमजोर बाजीको भी जोरदार बना लेता है । बिलियर्ड खेलनेवाला, दो गेंदोंके अंतर, त्रिकोणमितिके ज्ञान और अभ्यास द्वारा प्राप्त हुई हाथसफाईके संयोगसे अपने प्रतिपक्षीका पराभव कर देता है । नेपोलियन रणक्षेत्रकी चिकित्सा, युद्ध कलाके ज्ञान और संपादित अनुभवके कारणही कर सकता था । चित्रकार सूक्ष्म दृष्टिके निरीक्षण और सतत अभ्यासके कारण ही उत्तम चित्र बना सके और बनाते हैं । इसी तरह यंत्रका आविष्कारक भी पदार्थविज्ञान, यंत्रशास्त्र और दीर्घ अनुभवके कारण ही आविष्कार करता है । इन उदाहरणोंमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अपूर्व, अज्ञेय अथवा अनिर्वचनीय हो । इन बातोंमें विशेष यश प्राप्त होनेके लिये मानस शास्त्रके पूर्ण ज्ञानकी अवश्य आवश्यकता

है। क्योंकि केवल कलाके ज्ञानसे उसके कार्यमें अपूर्वता नहीं आ सकती। किस कृतिका, मनुष्यकी किस अंतःकरण वृत्तिसे संबंध है, वह वृत्ति किन २ बातोंको चाहती है और किन उपायोंसे वह तृप्त की जा सकती है इन बातों-का ज्ञान और कर्मकुशलता—इन दोनोंकी जोड़ मिल जानेपर न्यूमन जिसे अंतःस्फूर्ति कहता है वह उत्पन्न हो सकती है। यदि एडम्स, लव्हेरिया अथवा हर्शलको गुरुत्वाकर्षणका शास्त्रीय नियम मालूम नहीं होता तो सूर्यमालामें एकाधा ग्रह और होनेकी भावना उनमें कैसे उत्पन्न होती? और उस ग्रह-की खोज निकालनेकी अंतःस्फूर्ति भी कैसे होती?। इसी तरह जिस समय विद्युत् शक्तिकी कल्पना भी नहीं थी उस समय न्यूमन टेलिग्राफ, टेलिफोन आदिका आविष्कार किस प्रकार कर सकता था? और रोमके इतिहासकी चिकित्सा बिना उसके साधन रूप कागजपत्रों तथा चिन्ह लिपिके, नेहम्यूर किस प्रकार कर सकता था?। इन सब बातोंसे न्यूमनका दूसरा सिद्धान्त भी सत्य सिद्ध नहीं होता।

जब यह सिद्ध हो गया कि संस्कारोंके नियम निश्चित करनेमें मानसशास्त्र आवश्यकीय होनेपर भी अपूर्ण है इसी प्रकार न्यूमनने सुधारणाशास्त्रके प्रमाणरूपसे जिस अंतःस्फूर्तिके प्रमाणका आविष्कार किया था उसकी चिकित्सा करनेपर भी यह सिद्ध हुआ कि वह कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है किंतु केवल आधिभौतिक शास्त्र और मानसशास्त्रका मिश्रण है। एकके बाद एक शास्त्र अर्थात् इतिहास, आधि-भौतिकशास्त्र, मानसशास्त्रकी परीक्षा करनेपर यह सार निकला कि इन शास्त्रोंमेंसे कोई एक शास्त्र सुधारणाका प्रमाण नहीं माना जा सकता ऐसी दशामें यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वह प्रमाण कौनसा है?। इस प्रश्नका विचार आगेके प्रकरणमें किया जायगा।

प्रकरण चौथा।

सत्य प्रमाण।



सर्व साधारणके विश्वासके अनुसार जो प्रमाण माने जाते हैं उनका गत प्रकरणमें क्रमशः विचार किया गया है। मानव जाति जिस एक श्रेष्ठ साध्यकी ओर जा रही है अथवा उसे जाना चाहिये उस साध्यके प्राप्त करनेके जो समाज रचना, धर्म साधन राजकारण आदि मानवीय व्यवहारके भिन्न २ रूप हैं वे किन २ नियमोंसे परिणत होते हैं इसके जाननेकी अत्यंत आवश्यकता है। क्योंकि बिना उसके जाने उन भिन्न २ रूपोंमें जो मानवीय प्रयत्न दृश्यमान होते हैं वे मनुष्य जातिको योग्य स्थान पर ले जाते हैं या नहीं इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारणसे उन नियमोंको—साध्य प्राप्त करनेके भिन्न भिन्न मानवीयरूप जिनसे परिणत होते हैं उन नियमोंको अथवा यों कहिये कि सुधारणाशास्त्रके नियमोंको बतलानेवाले प्रमाणको ढूंढ़नेके लिये सर्व साधारणके विश्वासके अनुसार जो प्रमाण माने जाते हैं उनका गतप्रकरणोंमें विचार किया गया है और वे सब अपूर्ण ठहरे हैं अब हमारे मतानुसार सुधारणा शास्त्रका सत्यप्रमाण कौनसा है इसका विचार करना है परंतु इसके विचारके पहिले गतप्रकरणोंमें जो विवेचन किया गया है उसकी पुनरालोचना करना हम उचित समझते हैं। सबसे पहिले इतिहास शास्त्रकी परीक्षाकी गई है उस परसे यह सिद्ध हुआ है कि तीनों प्रकारका—वर्णनात्मक विवेचनात्मक और और मीमांसात्मक—इतिहास सत्यप्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उसके प्रमेयोंका ज्ञान वर्तमानकालके ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। इतिहासका प्रकाश वर्तमानकाल पर पड़नेके बजाय गतकालकी उन संस्थाओंका जिनकी केवल स्थिति रह गई है परिचय प्राप्त करनेके लिये वर्तमानकालकी संस्थाओंका ही तुलनात्मक अवलोकन करना पड़ता है। सारांश यह है कि अमुक परिस्थितिमें सुधारणाके साध्यकी ओर जानेके लिये व्यक्ति अथवा समुदायको किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, यह ज्ञान इतिहाससे नहीं मिलता। इसके बाद भौतिकशास्त्रका अवलोकन किया उससे मालूम हुआ कि इस शास्त्रके द्वारा सुधारणाके मार्गमें बहुत कुछ सहायता मिलने पर भी

यह अधूरा है क्योंकि मन, बुद्धि तथा इतर अतीन्द्रिय तत्त्वोंकी घटना इस द्वारा नहीं होती। मनुष्यका व्यवहार इच्छा शक्तिकी प्रेरणा पर अवलंबित है। और इच्छा शक्तिका आधार स्थान मन अथवा बुद्धि है। उस मन अथवा बुद्धिका ज्ञान भौतिकशास्त्रके द्वारा नहीं हो सकता, यह बात गतप्रकरणमें सिद्ध हो चुकी है। इतिहास और भौतिक शास्त्रके बाद मानसशास्त्र पर विचार किया गया। इस विचारसे यह निष्कर्ष निकला कि मनका, शरीरकी मज्जा रचनासे एक प्रकारका स्थूल संबंध होता है। उस संबंधके द्वारा मनके विकार साधारणतया जाने जा सकते हैं। और यह भी जाना जा सकता है कि शरीरके कौन कौनसे विकारो पर मनकी कौन कौनसी वृत्तिया अवलंबित हैं?। परन्तु केवल यह जान लेनेसे कि मनुष्यके मनकी गति क्या है?। यह नहीं जाना जा सकता कि यह गति किस समय किस ओर जावेगी? और इस लिये कार्याकार्य विचार तथा उनकी ओर प्रवृत्ति होने न होनेका कारण मानसशास्त्रके द्वारा नहीं जाना जा सकता इस कमी को पूरी करनेके लिये न्यूमनने जो " अंतःस्फूर्ति " नामक नवीन प्रमाण निकाला था उसकी भी मानसशास्त्रके साथ साथ परीक्षा की गई। परंतु वह भी अपूर्ण ही ठहरा। और सिद्ध हुआ कि यह कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है किंतु पूर्वोक्त दोनों तीनों तत्वोंका मिश्रण है। अब इस प्रश्न पर विचार करना उचित होगा कि फिर सुधारणाके नियमोंका प्रमाण कौनसा है?

यह प्रमाण जाननेके लिये अपनेको पहले सुधारना शास्त्रका विषय ठहराना उचित होगा। सुधारणा अथवा संस्कृति अत्यंत व्यापक शब्द हैं। इस शब्दका व्यापकत्व ध्यानमें रख किसी एक विशेष सुधारणाको ही संस्कृति मान लेनेके कारण पूर्वोक्त—ऐतिहासिक—भौतिक—मानसिक—पक्षवालोंने अपने २ विषयको ही महत्त्व दिया है। मनुष्य प्राणी समाज प्रिय है। सर्वसंग परित्यागी-योगियोंके सिवाय बाँकीके सब मनुष्योंको इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक समाजमें रहना ही पड़ता है। समाजमें एक ही समयमें अनेक भिन्न २ मार्गोंसे उनके व्यवहार होते रहते हैं। प्रत्येकको अपनी समाजमें रहनेवाले दूसरे व्यक्तिके साथ किस प्रकारका संबंध है और किस प्रकारका होना चाहिये, इसका विचार करना पड़ता है। समाज और उसके व्यक्तियोंका आरंभ कहाँसे और किस प्रकार हुआ यह देखना पड़ता है। और समाजमें सुव्यवस्था रखनेके लिये किसी व्यक्ति विशेषको श्रेष्ठ मानते हुए उसके हाथमें अधिकार सूत्र

देकर राज्यानुशासन कराना भाग होता है। इसप्रकार अनेक प्रकारके व्यापार मनुष्यको करना पड़ते हैं । इस लिये इन सब व्यवहारोंपर प्रकाश डालनेके लिये और इनका परस्परका संबंध तथा समाजकी मूलघटक रूप व्यक्तिका और इनका संबंध जाननेके लिये व्यक्तिके मन और समाजके समुदायके मन का ज्ञान होना आवश्यक है। यह ज्ञान जिस प्रमाणसे होता है वही प्रमाण "सत्य प्रमाण" है। मानसशास्त्रके द्वारा वैय्यक्तिक मनका ज्ञान होता है। मानसशास्त्रके नियमों द्वारा निश्चित होनेवाले व्यक्ति कृत्योंके तत्वोंकी सत्यता जाननेका सुभीता इतिहास रूपी अजायबघरमें मिलता है और मनुष्यकी सुख प्राप्तिकी इच्छाके साधनोंका ज्ञान आधि-भौतिक शास्त्रकी सहायतासे होता है। सारांश यह है कि मनुष्योंकी सर्वांगीण क्षतिकी चिकित्सा पूर्ण रूपसे पूर्वोक्त किसी एक भी शास्त्र द्वारा न होकर सबके मिश्रणसे होती है। बहुतोंको यह मालूम होगा कि यांत्रिक पद्धतिसे विद्युच्छक्ति किस प्रकार उत्पन्न होती है। विद्युत्कारक यंत्रको पहिले भिन्न २ द्रव्योंके द्वारा सम Positive और विषम (Negative) ऐसे दो प्रकारके प्रवाह उत्पन्न करने पड़ते हैं। उत्पन्न हो जानेपर वो भिन्न २ तारोंके द्वारा वे प्रवाह बहते हैं। परंतु इस प्रकार केवल दोनों प्रकारके प्रवाह उत्पन्न हो जानेसे ही विद्युच्छक्ति उत्पन्न नहीं होती। किंतु इन दोनों प्रवाहोंका संबंध होनेपर–मिश्रण होनेपर–विद्युच्छक्ति उत्पन्न होती है। जिसके कि द्वारा प्रकाशादि कार्य किये जा सकते हैं। इसी प्रकार ऊपर कहे हुये शास्त्र भी विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न करनेवाले यंत्रके समान हैं। और शास्त्रोंके मिश्रसिद्धान्त विद्युत्प्रवाहके समान हैं। जिस समय इन सब सिद्धान्तोंका एकीकरण अथवा मिश्रण होगा तभी सम्पूर्ण व्यवहारोपर प्रकाश डालनेवाला ज्ञानदीप प्रज्वलित हो सकेगा। तभी किसी मानव समाजके संबंधमें यह जाननेका साधन प्राप्त हो सकेगा कि वह इष्ट मार्गसे जा रहा है अथवा अनिष्टसे। और तभी समाजकी गति जाननेका प्रमाण अपनेको मिला, यह कहा जा सकेगा। संस्कृति शास्त्रके नियम जानेका यही सत्य प्रमाण है।

इस कथन पर स्वाभाविकतया यह आक्षेप होगा कि इसमें कौनसे नवीन तत्वकी शोधकी गई ?। कौनसा नवीन प्रमाण ढूंढा गया ?। और भिन्न २ शास्त्रोंको प्रमाण मूल माननेवालोंके मतोंके एकीकरण को ही अपना सत्य प्रमाण माननेमें ऐसी कौनसी अपूर्वता है ?। इसका उत्तर यही है कि न तो यह नवीन शोध है न नवीन प्रमाण है और न इसमें कोई अपूर्वता ही है।

आज तक किसी भी समाजकी संपूर्णतया परीक्षा इस प्रमाणके द्वारा शास्त्रीय पद्धतिसे किसीने नहीं की थी, उसे इस निबंधके द्वारा प्रारंभ कर-नेका हमारा यह प्रथम प्रयत्न है। गत किसी प्रकरणमें लार्ड बेकन द्वारा विशेष प्रचारमें आई हुई Induction पद्धतिका उल्लेख किया गया है। किसी भी पदार्थका सूक्ष्म निरीक्षण कर उसके गुणधर्मके संबंधमें अपने मनसे कुछ नियम निश्चित करने और उन नियमोंके अनुरोधसे प्रत्येक नवीन पदार्थकी परीक्षा कर प्रथम अनुमानित गुणधर्मकी सत्यता निश्चित करनेवाली यह बेकनकी पद्धति भी कोई नवीन पद्धति नहीं थी। प्रत्येक मनुष्य न्यूनाधिक प्रमाणसे इस पद्धतिका अवलंबन करता ही है। अधिक तो क्या विचार करनेकी जिनमें शक्ति नहीं है वे बालक न जानते हुए भी इस पद्धतिको स्वीकार करते हैं। दीपकके आसपास खेलते समय बालकोंको दीपकसे छू जाने पर जल जाते हैं ऐसा ज्ञान होते ही यह विश्वास हो जाता है कि दीपकमें जल-नेका धर्म है। और जब किसी दूसरेको अथवा अपने आपको दीपकसे जलते हुए देखता है तब उसका पहिला विश्वास दृढ हो जाता है। यही बेकनकी विचार पद्धति है। सो जिसे बालक तक जानते हैं उसे बेकनने प्रगट किया तो उसमें ऐसी कौनसी अपूर्वता थी। वास्तवमें अपूर्वता कुछ नहीं थी। परंतु ज्ञान प्राप्तिके कार्यमें इस पद्धतिका शास्त्रीय रूपसे अधिक उपयोग बे-कनने किया अतएव यह श्रेय उसीको प्राप्त है। इसी प्रकार इस सत्य प्रमा-णका यद्यपि नवीन आविष्कार नहीं हुआ है तो भी आज तक शास्त्रीय पद्ध-तिसे इसका अवलंबन न होनेके कारण इसमें एक प्रकारकी नवीनता ही कही जावेगी।

समाजका सशास्त्र अभ्यास करनेका प्रयत्न करनेवाले कुछ विद्वानोंका यदि उदाहरण लिया जाय तो उक्त विधानकी सत्यता प्रतीतिमें आ सकती है। आगस्ट कोंटने अपने ग्रंथ Positive Philosopy (पॉजिटिव्ह फिलासफी) में समाजशास्त्रकी सप्रमाण चिकित्सा करनेका उपक्रम किया है परंतु वह आधि-भौतिक वादको पार करके आगे न जा सका। उसका सिद्धान्त था कि जगत्के अंतर्यामी तत्त्व भी भौतिकही हैं। पर मनुष्यके अंतःकरणमें कुछ श्रेष्ठ भावनायें हो सकती हैं और उनकी पूर्ण तृप्ति अथवा समाधान होनेके लिये परमेश्वर जैसी सर्व श्रेष्ठ कल्पनाकी आवश्यकता है, इसका अनुमान वह न कर सका। इस मानसशास्त्रके तत्त्वकी ओर दुर्लक्ष करनेके कारण उसकी

मीमांसा पूर्ण न हो सकी। कार्लाइल नामक तत्ववेत्ता मानवजातिको तत्वतः आध्यात्मिक मानकर आगे बढ़ा। और उसने यह प्रतिपादन किया कि उस आध्यात्मिक श्रेष्ठताका आदर्श विभूति हुआ करती है अतः विभूति पूजाही सर्व श्रेष्ठ धर्म है। इसी धर्मसे मनुष्यको आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है अतएव सुधारणाके लिये विभूति पूजाके सिवाय दूसरी ओरध्यान देनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। परंतु उसके ध्यानमे यह नही आया कि विभूति सदा मनुष्योमे ही होती है। यह कुछ विशेष गुणोंमें उत्कृष्ट हो जाने पर भी सर्व गुण संपन्न नही होसकती। इसीलिये यह मनुष्यजातिकी सार्वत्रिक कृतिके लिए आदर्शरूप नहीं मानी जा सकती। वर्तमानकालकी परिस्थितिके अवलोकनसे विभूतिकी दुर्बलताएं ध्यानमें आने पर उसके प्रति श्रद्धा कम हो जाया करती है। इन त्रुटियोंके कारण कार्लाइलकी पद्धति भी सदोष रही। गत प्रकरणमें न्यूमनके सिद्धान्त पर विचार करके यह सिद्ध कियाही जा चुका है कि उसका सिद्धान्त भी अधूरा है। न्यूमनने आधिभौतिकशास्त्रकी उपेक्षा की है। यद्यपि यह सत्य है कि आधि-भौतिकशास्त्र भी अंत तक पहुंचानेवाला शास्त्र नहीं है, परंतु यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वह सुधारणाकी पहली सीढ़ी है। अंतिम सीढ़ी पर पहुंच जाने पर पहली सीढ़ीकी आवश्यकता नहीं होती, इस दृष्टिसे कोई पहली सीढ़ीको नष्ट नहीं कर सकता। यदि करेगा तो वह उसके लिये घातकही होगा। इसी तरह संस्कृति शास्त्रकी चिकित्सा कभी भ्रम रहित नहीं हो सकती। इस प्रकार विचार करने पर यह विश्वास होता है कि सुधारणाशास्त्रकी चिकित्साके कार्यमें चिकित्सकोंने हमारे कहे हुये सर्वांगीन सत्यप्रमाणको स्वीकार नहीं किया है इस लिये उनके द्वाराकी हुई चिकित्सा दोष युक्त हुई है।

इसके विरुद्ध उन कवियों, लेखकों अथवा तत्ववेत्ताओंका नाम लिया जा सकता है जो जगन्मान्य कहे जाते हैं। इन्होंने अपने काव्योंमें, ग्रन्थोंमें तथा विचारोंमे सर्वांगसंपूर्ण संयुक्त संस्कृतिके सत्य प्रमाणकोही स्वीकार किया है। इन कवियों अथवा लेखकोंका उद्देश्य टीकात्मक अथवा मीमांसात्मक न होनेके कारण इन्होंने उक्त प्रमाणका निर्देश स्पष्ट रीतिसे नहीं किया है। परंतु विचार करने पर यह बात सहजरीतिसे ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगी कि उन्हें जो कीर्ति अथवा श्रेष्ठता प्राप्त हुई है वह इस प्रमाणके अव्याहत रीतिसे स्वीकार करनेके कारण ही हुई है।

कालीदास अथवा शेक्सपियर जैसे अलौकिक कवियोंका विचार करनेपर मालूम होगा कि उनकी कीर्ति, भाषाप्रभुत्व, शब्द लालित्य उपमा-माधुर्य आदि अपूर्व बाह्य गुणोंपर अवलंबित नहीं है। किंतु मनुष्य स्वभावका चित्र खेंचते समय गतकालके उत्तम ऐतिहासिक प्रसंगोंका उन्होंने जो मार्मभाग दिखलाया है, मानसशास्त्रके ज्ञानसे चित्रके मुखपर जो अत्यन्त रमणीयता उत्पन्न की है और अपने एक चित्रमें भाषाके रूपसे जो अनेक प्रकारका रंग भरा है और इस प्रकार लेख अथवा काव्य स्वरूप अद्वितीय चित्र खड़ा कर दिया है, जिसे देखनेवालेको यह भास होता है कि मानों वह उसके हृदयकी बात ही कर रहा हो, इसी कलाकी खूबीपर उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जो मानवीय स्वभावका मर्म नहीं जानता वह उसे प्रगट भी नहीं कर सकता। जिसे मानवीय अंतःकरणके नियम सम्पूर्ण रीतिसे मालूम हो चुके हैं वही उन्हें यथार्थ रीतिसे कह सकता है। इसके संबंधमें एक समर्पक उदाहरण दिया जा सकता है, सितारमें सात तार हुआ करते हैं, पर जिसे साधारण रीतिसे सितार बजाना आता है वह केवल पहिला ही तार बजाता है। स्वर लहकोंमेंसे न्यूनाधिक स्वर निकालनेके लिये बायें हाथसे उसी तारको सदा पट्टीपर दबाये रखकर दाहिने हाथसे उसी तारको छेड़नेसे इच्छानुसार आवाज निकला करती है। परंतु जिसे अच्छी तरहसे बजाना आता है उसे एक ही तारसे संतोष नहीं होता। सम्पूर्ण तारोंपर अंगुलियां रखकर एकके बाद एक जल्दी जल्दी, भिन्न भिन्न लहकोंमेंसे सुस्वर निकाले बिना और दूसरे हाथसे क्रमानुसार सम्पूर्ण तारोंको छेड़ सकनेकी शक्ति बिना उत्तम गवईयोंकी मनमोहक आलापके अनुसार सितारमेंसे आलाप नहीं निकाली जा सकती। इसी प्रकार मानवीय व्यवहारोंके सब तारोंको सम्पूर्णतया बजानेका ज्ञान हुए बिना संस्कृतिशास्त्रके तत्त्वज्ञानका मर्म नहीं जाना जा सकता।

जर्मनकवि और नाटककार गटेकी भी यही स्थिति है। उसके नाटक और कविताके ग्रंथोंमें संदूकमें संभाल कर संग्रह किये हुए रत्नोंके समान मानसशास्त्रके सार्वत्रिक नियमोंका संग्रह हुआ है। पदार्थ विज्ञानशास्त्रमें कहे अनुसार जिस प्रकार विद्युत्शक्तिके सम और विषम ऐसे भिन्न प्रकारके दो प्रवाह होते हैं और उन दोनोंका धर्म एक दूसरेको आकर्षण करनेका होता है, उसी प्रकार मनुष्य-जातिमें स्त्री और पुरुष दो उपभेद होते हैं और उनका भी धर्म परस्पर आकर्षण करनेका होता है। मानसशास्त्रके इस तत्त्वको उक्त कविने अपने

Elective Affinities नामक नाटकमें बड़ी सुंदर रीतिसे और अनुपम स्वभाव वर्णन पूर्वक चित्रित किया है। उसने अपने Tasso नामक एक दूसरे नाटकसे कवि, तत्त्ववेत्ता वगैरह विचार प्रधान लोगोंके वर्गमें और व्यवहार-चतुर कर्तृत्व प्रधान लोगोंके वर्गमें जो निरंतर अंतर दिखाई पड़ता है उसका बड़ी सुंदर रीतिसे वर्णन किया है। इसी प्रकार फॉस्ट और विल्हेल्म माइस्टर नामक ग्रंथमें मानवजातिकी साध्य स्थितिकी महत्त्वाकांक्षा रूप कल्पनाके अंतरीक्षमें भी वह बहुत कुछ ऊँचा चढ़ा है।

गद्य लेखकोंमें बेकन और एमर्सन प्रमुख माने जा सकते हैं। बेकनने अपने निबंध संग्रहमें मानवीय मनोवृत्तिका सम्पूर्णतया उद्घाटन करनेका प्रयत्न किया है। उसने मनोवृत्तिका वर्गीकरण करके उन वृत्तियोंका कौनकौनसे व्यावहारिक कार्योंसे संबंध है और वह संबंध क्या है इसका वर्णन किया है।

जिस-प्रकार ऊंचे पर्वतपरसे नीचेके सम्पूर्ण मार्ग, दृष्टि पथमें एक साथ आ जाते हैं और वे दूसरेसे कहां मिलते हैं यह स्पष्टतया जाना जा सकता है उसी प्रकार विचार गिरिके उच्च प्रदेशपरसे बेकनने अंतःकरणकी वृत्तियोंके भिन्न भिन्न मार्गोंको एक दृष्टिसे देखा है।

एमर्सन नामक अमेरिकन तत्त्ववेत्ताने भी इसी मार्गका अवलंबन किया है। उसने भी जगतके सूक्ष्म निरीक्षण और मानसिक व्यापारोंके पृथक्करणको जगत्के सन्मुख स्पष्ट भाषाके द्वारा उपस्थित किया है। इसने अपने इंग्लैण्डके प्रवास रूपमें एक गाड़ीवालेसे लेकर तत्त्ववेत्तातक सब प्रकारके लोगोंकी सर्व-कालीन मनोवृत्तियोंकी जांचकर उन मनोवृत्तियोंके सामाजिक उन्नति अवनतिकी दृष्टिसे होनेवाले परिणामका बड़ी मार्मिक रीतिसे वर्णन किया है। यही कारण है जो ऐसे ऐसे ग्रंथकारोंके वचनोंको प्रमाण मानकर उनके द्वारा भावी पीढ़ीके मनुष्य अपने समयकी सामाजिक स्थितिकी परीक्षा करते हैं। एडमंड बर्क नामक एक राजनैतिज्ञने एक स्थानपर इस प्रकार उद्गार निकाले हैं कि "(Great) और विचारवान मनुष्य अपने समयके और भावी पीढ़ीके लोगोंके लिये मार्गके स्थल मापक खंभेके समान मार्गदर्शक होते हैं।*

---

* Great men are, during their time and generation the guide-posts and land-marks of Thought.

महापुरुषोंके व्यवहारोंका अवलोकन कर साधारण जन समाज, अपना मार्ग ठीक है या नहीं और प्रगतिका मार्ग कहांतक आक्रमित हुआ है, यह जान लेती है।

इस प्रकार मानसशास्त्रके नियमोंका सम्पूर्णतया एकीकरण कर उन्हें वर्तमान स्थितिपर पूर्ण तया घटित करते हुए उसकी पद्धतिके द्वारा वर्तमानकालीन स्थितिका विश्लेषण करनेवाले वास्तविक तत्वज्ञानी पुरुष, कवि, ग्रंथकार, चित्रकार आदिके रूपसे भिन्न भिन्न देशोंमें प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी इस पद्धतिके द्वारा की हुई चिकित्साका अनुमान उनकी कृति परसे होता है। उन्होंने समाजकी परिस्थितिका विचार और उसकी इस प्रमाणके द्वारा परीक्षा कर शिक्षारूपसे इस नियमको प्रकट नहीं किया है क्योंकि उनका प्रकट हेतु काव्य, ग्रन्थ अथवा चित्र निर्माण करनेका था। नकि जगतको शिक्षा देनेके लिये सुधारणाशास्त्रकी मीमांसा करनेका। जो सुधारणा अथवा संस्कृतिका शास्त्रीय पद्धतिसे विवेचन करना चाहते हैं उनका इस सर्व मान्य प्रमाणके द्वारा समाजका पृथक्करण किये बिना छुटकारा नहीं। कवि और उपन्यासकारकी कृतियोंमें जो सत्य प्रमाण मालूम पड़ता है वह एक अलंकार विशेषमें जड़े हुए अनेक रत्नोंके संग्रहके समान है। प्रत्येक रत्नकी सच्ची परीक्षा करनेके लिये उन्हें उस अलंकारसे से, निकालकर उन्हीं की जातिके दूसरे रत्नोंके पास रखना पड़ता है। उसी प्रकार नाटक, उपन्यास अथवा चित्रों या पात्रोंके भाषणोंमें गुंथे हुए सुधारणाके नियमोंको पृथक् कर जगत्के सन्मुख रखनेसे वे बोधप्रद हो सकते हैं।

इस संबंधमें भवभूति कविका एक छोटासा उदाहरण दिया जा सकता है। इस महाकविने " उत्तर रामचरित " नामक एक बहुत मनोहर नाटक लिखा है। उसमें कविने श्रीरामचंद्रके आचरणका अद्वितीय आदर्श पाठकोंके सन्मुख रक्खा है। कविने राजाका प्रजाके साथ क्या कर्तव्य है? इसका वर्णन महाराजा रामचंद्रके ही द्वारा इस प्रकार करवाया है।

स्नेहं दयां, तथा सौख्य यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥

यह केवल कहलाया ही नहीं गया है किन्तु कविने इस श्लोकके आदर्शके अनुसार रामचंद्रजीसे आचर्ण भी करवाया है। इसी प्रकार राजकीय अनुशासनके प्रकरणमें राजाके व्यवहार और राजाके प्रभवसे समाजपर होनेवाले

परिणामोंका भी तत्वरूपसे वर्णन किया है । यदि इस वर्णनको, जो कविने महाराजा रामचंद्रके आचरणमें ग्रंथित किया है पृथक्कर किसीने उसे स्पष्ट भावार्थ रूपसे जगतके सन्मुख रखा होता और उसके द्वारा उस (रामचंद्रके) समयमें इस नियमका क्या इष्टानिष्ट परिणाम हुआ इसकी चिकित्सा की होती तो उसकी यह कृति समाज शास्त्रके एक अच्छे निबंधके रूपसे आदरकी पात्र हुई होती । जब रामचंद्रके सन्मुख सीता परित्याग और प्रजावात्सल्य ये दो प्रश्न उपस्थित हुए और मनोविकारोंमें झगडा होने लगा तब अप्रतिम पत्नीप्रेम, सीताके निष्कलंक चरित्रका विश्वास और आरोप करनेवाले लोगोंकी क्षुद्रता आदि बातें सीता परित्यागके कार्यमें बाधारूप होते हुए भी प्रजावात्सल्यकी जय हुई और रामचंद्रने सीताका त्याग किया । रामचंद्रके इस आचरणको ग्रथित कर कविने रामचंद्रके अंतःकरणकी श्रेष्ठता, उससे होनेवाला राजनिष्ठा वर्धक परिणाम और उसके द्वारा समाजमें फैलनेवाली शांति व स्थिरता प्रगट करते हुए अपने मनकी अनेक विधता प्रगट की है । यदि इसी घटनाको चर्चात्मक पद्धतिसे किसीने ग्रथित की होती तो, यद्यपि उसमें भवभूतिकी बाह्य कृतिका प्रकाश नहीं दिखलाई पडता तो भी संस्कृति शास्त्रकी पद्धतिसे की जानेवाली समाज चिकित्साकी दृष्टिसे यह ग्रंथ प्रमाणभूत हुआ होता । साधारण जन समाजमें चिकित्सक बुद्धिकी न्यूनता होनेके कारण वह कवि और नाटककार आदिकी कृतिसे चित्तरंजन करनेके सिवाय दूसरा काम नहीं उठा पाते । किंबहुना कवियोंकी कृतिसे तत्व ग्रहण न कर सकनेके कारण ऐसे लोगोंके मनपर शुष्क तर्कोंका अनेक बार विपरीत परिणाम होता दिखलाई पड़ता है । सम्पूर्ण धर्मोंके मूलतत्व एक ही प्रकारके होने पर भी दो भिन्न धर्मी किन्तु एक ही धर्मके दो पंथोंके दो अनुयायी धर्मके नामसे एक दूसरेका गला काटनेको तयार हो जाते हैं । एक ही देशकी सेवा करनेकी उत्कट इच्छा रखनेवाले दो पक्षके लोग एक दूसरेकी छातीपर बैठनेका प्रयत्न करते हैं । ऊपरसे साधुपनका ढोंग बनाकर अपने वेषके वश पर मूर्ख स्त्रियोंको और सद्वृत्त पुरुषोंको ठगते हैं । इन सब बातोंका कारण सुधारणाके तत्व बतलानेवाले सर्व शास्त्र सम्मत प्रमाणका अभाव है । यदि लोगोंको यह बात मालूम हो जाय कि धर्म केवल श्रद्धात्मक ही न होकर सत्यान्वेषक होना चाहिए तो फिर भिन्न भिन्न धार्मिकोंकी विकार वश होकर परस्पर झगडे करनेकी प्रवृत्ति बहुत कुछ कम हो जाय । इसी तरह यह

माळूम हो जानेपर कि राजकीय अनुशासनमें अपने मतानुसार प्रत्येकको देश-सेवा करनेकी स्वतंत्रता है और किसीको जोर देकर कहनेका यह अधिकार नहीं है कि तुझे मेरा पक्ष स्वीकार करना चाहिये तो पक्षभेदकी आज जो तीव्रता दिखलाई पड़ती है वह भी बहुत कुछ कम हो जाय। तथा जब समय समयकी परिस्थितिके अनुभवसे प्राप्त हुए मानस शास्त्रीयज्ञानका लोगोंमें अधिक प्रचार हो जायगा और वे यह समझने लगेंगे कि बहुतसी बार दुर्गुण, सद्गुणरूपी वस्त्रमें ढँका हुआ रहता है और बदलती हुई परिस्थितिमें लोगोंको जिस २ प्रकारका वेष प्रिय माळूम होता है उसी वेषको धारण कर धर्म-प्राणलोगोंको यह (दुर्गुण) ठगता है तब ढोंगी साधुओंका व्यापार बंद हो जायगा। परंतु इस प्रकार परिस्थितिसे समीकरण किये हुए मानसशास्त्रके नियम, सम्पूर्ण रीतिसे और एक रूपसे समाज चिकित्साके कार्यमें आजतक प्रमाण रूपसे नहीं माने गये थे अतः सुधारणाके तत्त्वका सत्यप्रमाण भी आजतक उपलब्ध नहीं था, पर अब वह उपलब्ध हो गया है। और इस कारण सुधारणा शास्त्रकी परीक्षा कर कार्य बहुत सुगम हो जायगा, यह कहनेमें कोई हानि नहीं दिखलाई पड़ती।



द्वितीय परिच्छेद।



साध्य मीमांसा।



प्रकरण पहिला।

सुधारणाका साध्य।



गत परिच्छेदमें सुधारणाके तत्त्वोंके प्रमाणपर विचार हो जानेसे अब ग्रंथके मुख्य विषयका विवेचन करनेमें बहुत सुभीता होगा। मुख्य विषयका विवेचन करते समय पहिला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य, जगतके आरंभकालसेही सुधारणाके लिये प्रयत्न कर रहा है तो उस सुधारणाका साध्य स्वरूप क्या है ? किस इष्ट स्थितिपर पहुंच जानेपर यह समझा जायगा कि पूर्ण तया सुधारणा हो गई। यह नियम है कि मनुष्यप्राणीके प्रत्येक कार्य का कोई न कोई हेतु अवश्य रहता है जिसे वह साध्य करना चाहता है। " प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोपि कार्यांच प्रवर्तते " अर्थात् बिना हेतुके मूर्ख भी कार्य करनेको उद्यत नहीं होता इस नियमके अनुसार सुधारणाके हेतुके अंतिम साध्यका ज्ञान अवश्यही पहिले होना चाहिए। बिना ऐसा हुए यह बात कैसे जानी जा सकती है कि किसी समाजकी सुधारणा हुई या नहीं ?। जिस प्रकार रात्रिके समयमे निर्जन वनमें रास्ता भूला हुआ मनुष्य ध्रुवनक्षत्रकी स्थितिपरसे अपने गमनकी दिशा निश्चित करता है और उसके अनुसार जाता है अथवा समुद्रके महान तूफानके चक्करमें पड़ा हुआ नाविक, दूरसे दिखलाई देनेवाले स्थल प्रदेशपरके दीपकको देखकर अपने जहाजको उसी दिशाकी ओर ले जानेका प्रयत्न करता है उसी प्रकार अनंतकालरूपी महासमुद्रमें यात्रा करनेवाले सुधारणारूपी जहाजका भी कोई बंदर निश्चित होना चाहिए, जिसकी ओर वह गमन करता हुआ अपना मार्ग आक्रमण करे और

पहुंच जानेपर अपनी आशा पूरी हुई समझे। सुधारणाके साध्यका विचार कुछ उदाहरणोंके द्वारा करना उचित होगा। इन उदाहरणोंमें भी सरलतासे कठिनाईकी ओर लेजानेवाली पद्धति स्वीकार करनेसे बहुत कुछ सुभीता होनेकी संभावना है। बालककी स्थिति देखनेपर मालूम होता है कि इस स्थितिसे अच्छी स्थिति जगतमें दूसरी नहीं है। क्योंकि जगतकी असंख्य दुष्ट मनोवृत्तियों और दुर्गुणोंका इसके हृदयसे स्पर्श भी नहीं रहता है। उसे प्राय जगतके बड़े बड़े सुखोंकाही साधारणतः परिचय होता है और दुःखोंके पर्वतोंकी भावनासे यह दूर होता है। ऐसी रमणीय बालपनकी झांकीको, बड़ी उम्रमें इच्छा होनेके कारण " रम्य यह बालपन देव दीजे " इस प्रकारकी प्रार्थना करनेको जी चाहता है। कुटुम्ब संरक्षणकी चिंता, जगतका तीव्र जीवन कलह, दुर्गुण और दुष्कर्मोंका परिचय और इन सब कारणोंसे होनेवाले त्रासके कारण कुटुम्बके मुखिया पुरुषकी स्थितिकी अपेक्षा बालककी स्थिति बहुत कुछ निश्चित एवं बड़ी अवस्थावालोंके लिये स्पृहणीय होती है। परन्तु बालककी अपेक्षासे विचारा जाय तो उसे अपनी स्थिति स्पृहणीय नहीं मालूम होती। वह अपनी छोटी अवस्था और उसके कारण अपनेसे बड़ोंकी आज्ञा पालन करनेकी आवश्यकता तथा उनके द्वारा स्वातन्त्र्यका नियमन होना ही जानता है। वह अपनेसे बड़ोंको स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करते हुये देखकर अपनी स्थिति हीन श्रेणीकी समझता है। अतएव स्वतंत्र होने तथा कुटुम्बके बंधनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है। साराश यह कि समाजके एक छोटेसे अंग कुटुम्बके बंधनसे–स्वत की–व्यक्तिकी मुक्तता होनेको यह श्रेष्ठ स्थिति समझता है।

विचार करनेसे मालूम होगा कि बालकोंमें स्वभावतः दिखलाई देनेवाली उक्त भावना दूसरे स्थानोंपर भी उन्नतिका मार्ग निदर्शक मानी जाती है। सुशिक्षित कहलानेवाले रोमन साम्राज्यमें छोटे बालकोंका अस्तित्व उपेक्षणीय माना जाता था। छोटे बालकोंको मारनेपीटने–उनके प्राणोंको जोखिममें डाल देने तककी सत्ता कुटुम्बके मुखिया पुरुषको हुआ करती थी। साराश यह कि छोटे बालक कुटुम्बरूपी समाज विभागकी सत्ताके पूर्ण अधिकारमें थे। आगे जाकर रोमन लोगोंको ही यह स्थिति अस्वाभाविक जचती और अनिष्ट मालूम होने लगी अतः कानूनोंके द्वारा उन्होंने इस स्थितिको सुधारनेका प्रयत्न किया। बालकोंके सुधारके लिये जितनी शारीरिक शिक्षा देनेकी आव-

श्यकता हो उससे अधिक न देनेका तथा उनके प्राणोंकी जोखिम न होनेका कायदा बना कर रोमन लोगोंने कानूनके द्वारा छोटे बालकोंका व्यक्तिगत अस्तित्व स्वीकार किया ।

उस समय यह दशा छोटे छोटे बालकोंकी ही नहीं थी किंतु कुटुम्बके मुखियाके सिवाय दूसरे पुरुषोंकी एवं स्त्रियोंकी भी यही परतंत्रतापूर्ण स्थिति थी । इनके संबंधमें भी अनेक कानून बनाकर इनकी स्थितिका सुधार किया गया । इन मनुष्योंको कुटुम्बका मुखिया पुरुष शारीरिक दंड दे सकता था । उसका यह अधिकार कानूनके द्वारा नष्ट कर दिया गया । और उन मनु॰ ष्योंको अपने निजकी तौर पर नियमित मर्यादातक द्रव्य संग्रह कर सकनेका अधिकार प्राप्त हुआ । इस प्रकार उन्हें बन्धनोंसे मुक्त किया गया । वर्तमानमें किसी भी देशमें व्यक्ति कानूनन परतंत्र नहीं मानी जाती । और इस स्थिति-का गत स्थितिसे तुलनात्मक विचार करने पर यह कहना माना होता है कि वर्तमानकी स्थिति सुधरी हुई है ।

इस प्रकार समाजके सबसे छोटे-समूहात्मक विभागकी-कुटुम्ब-स्थिति देखनेके बाद मानवीय व्यवहारके इससे बड़े क्षेत्रकी स्थितिका विचार करना उचित होगा । अनेक कुटुम्बोंसे मिलकर समाज बनता है । उस समय उनके परस्प॰ रका संबंध किस प्रकार हो, यह प्रश्न स्वाभाविक रीतिसे होता है । और फिर स्थलांतर, दिग्विजय, शरीरसंबंध आदि कारणों व प्रसंगो द्वारा भिन्न देशीय अथवा भिन्न वर्णीय लोगोंका संबंध होनेपर ऊंच, नीच, श्रेष्ठ, हीन, अथवा कार्य भिन्नताका प्रश्न उपस्थित होता है । जेता-विजयी-को अपना वर्ग, जित वर्ग-पराजित वर्गसे सदा ऊंचा और श्रेष्ठ प्रतीत होता है । स्थलांतर करनेवालोंकी अपेक्षा मूलनिवासियोंको अपना वर्ग श्रेष्ठ मालूम होता है और इसी प्रकार पुरुष जातिके बलवान होनेके कारण कन्या पक्षकी अपेक्षा वर पक्ष अपनेको श्रेष्ठ मानता है । ऐसे भिन्न भिन्न वर्गोंका जब एक समाजके घटक बननेका समय आता है तब भेद उत्पन्न होते हैं । इसके सिवाय समाजमें कितने ही लोग धनवान होते हैं और कितने ही निर्धन । इस दृष्टिसे भी समाजमें श्रेष्ठ और हीनकी भावना उत्पन्न होती है । इसी प्रकार श्रेष्ठत्व और हीनत्वका भाव व्यापार पर भी निर्भर होता है । जो श्रेष्ठ धंदा करता है वह श्रेष्ठ माना जाता है और हलका धंधा करनेवाला

हीन। इस प्रकारके भेद उपस्थित हो जाने पर वह धीरे २ स्थायी होने लग जाते हैं और अंतमें एक दूसरेसे विरुद्ध रहनेवाले अनेक भेद समाजमें हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि समाजके जो विभाग श्रेष्ठ मान लिये जाते हैं, फिर वह चाहे सत्व, संपत्ति, जन्म, व्यापार आदि किसी भी कारणसे माने गये हों, उनके बंधनमें हीन माने जानेवाले वर्गोंको रहनेकी स्थिति प्राप्त होती है। और कनिष्ठवर्गके बुद्धिमान, कर्मण्य एवं सदाचारी व्यक्तिको भी समाजका यह बंधन दूर करना भारी हो जाता है। यह स्थिति कभी इष्ट नहीं मानी जा सकती और न सुधारणाकी स्थिति ही कही जा सकती है। और इस लिये प्रत्येक व्यक्तिको समाजके इन बंधनोंसे उसकी योग्यताके अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त होनेकी स्थितिही सुधारणाकी स्थिति कही जा सकती है। इन उदाहरणसे भी यही निष्कर्ष होता है कि समाजके कुटुम्बकी अपेक्षा बड़े विभागके बंधनसे व्यक्तिका छुटकारा होना ही संस्कृतिका-सुधारणाका लक्षण है। इससे आगे चलनेपर समाजमें सार्वजनिक शांति रखने और जनताकी रक्षा करनेके लिये राजकीय अनुशासनकी आवश्यकता विदित होती है। इस दृष्टिमें समाजके अधिकारी वर्ग और प्रजा वर्ग ऐसे दो भेद उत्पन्न होते हैं और उनकी श्रेष्ठता व हीनताका प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। जिस वर्गके हाथमें सत्ता होती है उस वर्गमें स्वाभाविक रीत्या एक प्रकारकी बडी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। और वह वर्ग अपने सामर्थ्यका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग कर सकता है। ऐसे अधिकारी वर्गके फिर चाहे वह वर्ग अनियंत्रित- राजसत्ताक हो, अभिजनसत्ताक हो अथवा अल्पसत्ताक हो—बंधनोंमें प्रजा वर्गको रहना प्राप्त होता है। यदि अधिकारी वर्ग प्रजामेंसे चुना हुआ हो और प्रजेच्छानुवर्ती हो तो उत्तम है नहीं तो प्रजाकी श्रेष्ठ व्यक्तियोंको आगे बढ़नेमें बड़े बड़े बंधनोंकी बाढ़ आये बिना नहीं रहती। निश्चित मर्यादाके बाहिर जाना कठिन हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो अपनी बुद्धि, शक्ति व इच्छाके अनुसार अपने देशकी और उसके बाद अखिल मानव जातिकी सेवा कर सकनेके सुभीते प्रत्येक व्यक्तिको प्राप्त होनाही सर्व श्रेष्ठ स्थिति है। यदि यह न हो और व्यक्तिके उत्कर्ष होनेमें अधिकारका प्रतिबंध हो तो वह स्थिति हीन मानते हुए भी कमसे कम देशसेवाके कार्योंमें अधिकारी वर्गके कृत्रिम प्रतिबंधोंकी अड़चन न आना और प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्रता होना भी सुधारणाकी स्थिति कही जा सकती है।

इसके बाद हम सबसे अधिक व्यापक विचारोंकी भूमि धर्म संस्थाका विचार करनेसे यह विश्वास हुये बिना नहीं रहेगा कि इस संस्थामें किसी भी प्रकारके कृत्रिम बंधनोंका होना अत्यन्त अनिष्टकारक है । जगत्के क्षुद्र एवं स्वार्थी मनोविकारों तथा नश्वर सुखका त्याग कर सम्पूर्ण विश्वके मूल कारणकी खोज करना ही धर्मरूपी संस्थाका उदात्त विषय है । इस पर भी धर्मसंस्थामें क्षुद्र भेदोंका होना, उन भेदोंके पक्षपातियोंका आपसमें एक दूसरे पक्षपर अत्याचार करना, एक दूसरेकी पक्ष झूठी सिद्ध करना और अपने विचार उनपर जबरन लादनेका प्रयत्न करना सिवाय जगलीपनके और क्या हो सकता है ? । प्रत्येक मनुष्यको अपनी निजकी योग्यताके अनुसार योग्य मार्गसे परमेश्वरके पास जानेकी पूर्ण स्वतंत्रता है । उसे विशिष्ट कृत्रिम पथोंके द्वारा बंधन डालकर अमुक मार्गसे जानेको कहनेका किसीको भी अधिकार नहीं है । परमेश्वरको सम्पूर्ण धर्म प्रिय हैं वह सब भाषाएं समझता है, उसे सम्पूर्ण वर्ण प्रिय हैं तथा छोटेसे लेकर बड़े तक पर उसका वात्सल्य भाव है । ऐसी दशामें किसीको यह कहनेका क्या अधिकार है कि तेरा मार्ग झूठा है और हमारा मार्ग ठीक है । मनुष्यको स्वतंत्रता है कि वह अपनी इच्छानुसार परमेश्वरकी उपासना करे । भगवद्गीतामें कहा है कि

यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहं ।
स तया श्रद्धया युक्तः तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हितान् ॥

सारांश यह कि जो जिस रूपसे परमेश्वरकी सेवा करता है, परमेश्वर उसी रूपसे सेवा स्वीकार कर सेवककी इच्छा पूर्ण करता है । कुछ ऐसे धर्म अथवा संप्रदाय हैं जो यह नहीं मानते कि परमेश्वर किसीकी सेवा स्वीकार करता है । और उससे प्रसन्न होता है । पर यह न मानते हुए भी गीताके उक्त कथनसे निकलते हुये इस सारको वे अमान्य नहीं कर सकते कि सब मनुष्योंको अपनी अपनी इच्छानुसार उपासना करनेकी या धर्मपालनकी स्वतंत्रता है । कोई किसीके मार्गको झूठा या बुरा नहीं कह सकता । धर्म कल्पनासे ऐसी उदार भावनाका होना सुधारणाका द्योतक है । उदार भावना, श्रेष्ठ कल्पना और अगाध विचारसे भरे हुए धर्म साधनोंमें क्षुद्र पक्षभेद, संकुचित बुद्धि

और दुष्ट मनोविकारोंका होना बिलकुल अस्वाभाविक अतएव तिरस्करणीय है। व्यक्तिको अपना साध्य सिद्ध करनेके कार्यमें किसी भी धर्म अथवा पंथ-रूप विभागोंका बंधन होना उचित नहीं है। और यदि बंधन हुए तो उनसे मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना श्रेय साधन करना ही संस्कृतिका लक्षण है।

धर्मरूपी समाज विभागके पश्चात् सम्पूर्ण विभागों, उपविभागोंसे बनी हुई समाजका निरीक्षण किया जाय तो विदित होगा कि उसमें समाजके घटक स्वरूप व्यक्तियोंका परस्पर संबंध नीतिशास्त्रकी कसौटीपर परखा जाता है। और उससे व्यक्तिका उत्कर्ष ही सुधारणाका चिन्ह प्रतीत होता है। श्रेष्ठ नीतितत्त्वोंके आचरण करनेवाले व्यक्तिका-फिर चाहे वह दूसरी बातोंमें कितना ही निर्बल क्यों न हो-सुधरी हुई समाजके द्वारा सन्मान होना क्या प्रकट करता है? जंगली समाज-जिनका सामाजिक धंदा प्रायः चोरी, रास्ता-जनी व डकैती करनेका है-परभी नीतिमान् पुरुषका दबाव होनेका कारण क्या है? यही कि व्यक्तिकी शारीरिक, नैतिक, धार्मिक आदि सब प्रकारके उत्कर्ष सुधारके चिन्ह माने जाते हैं। अतः सुसंस्कृत स्थिति प्राप्त होनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको उसके उत्कर्षके मार्गकी सामाजिक विघ्न बाधायें दूर होकर स्वतं-त्रता मिलना आवश्यक है।

मनुष्यप्राणीकी सम्पूर्ण कल्पनाओंका अन्त तत्त्वज्ञानमें होता है। सम्पूर्ण जगत्का बहुत कुछ ज्ञान करा देनेवाले आधिभौतिक शास्त्रका अध्ययन कर-नेके बाद जिन इन्द्रियोंके द्वारा भौतिक पदार्थोंका ग्रहण किया जाता है वे किस प्रकार उत्पन्न हुई तथा इन्द्रियोंका चित्त मन पर प्रभाव पड़ता है वह मन कहांसे उत्पन्न हुआ और उसकी गतिके नियम क्या हैं इन बातोंका ज्ञान मानस शास्त्रसे होता है। इस प्रकार आधिभौतिक और अधिभौतिक शास्त्रोंके संयोगसे चराचर सृष्टिके बाह्य स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर सृष्टिकी उत्पत्ति, सृष्टिका कारण, अन्त, शेष आदि गूढ़ प्रश्नोंके उत्तरके लिये तत्त्व-ज्ञानकी शरणमें जाना पड़ता है। तत्त्वज्ञानने इन सब बातोंके संबंधमें यह उत्तर दिया है कि आत्मा स्वतंत्र है, परंतु शरीरादिके कारण जिन बंधनोंमें वह पड़ गया है उन्हें नष्ट कर उत्कर्षके प्रति जानेको ही श्रेष्ठ स्थिति, सिद्धा-वस्था और सर्वोत्तम गति कहते हैं। यदि सर्व स्थानोंमें आत्मा ही है दूसरे पदार्थ केवल माया मात्र हैं, यह अद्वैत वादका सिद्धान्त ही माना जाय तो

...ा था। मनुष्यकी बुद्धि प्रगति-पर होती है और श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त कर-
और उसका सदा प्रयत्न रहता है। उसका श्रेष्ठ स्थितिके आदर्शरूपसे
प्रेरक पदार्थ अवश्य होता है। आस्तिक लोगोंकी दृष्टिमे वह पदार्थ
श्वर है। परन्तु कंट यह बात नहीं मानता। उसने इस स्थानके योग्य मानव
ज ही को माना है। उसने कार्याकार्यके सम्बन्धमे यह ठहराया है कि
जकी शुद्ध अंतःकरण पूर्वक सेवा करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ
य है। उसकी इस मानवी समाज अथवा जनता (Humanity)
देवताकी कल्पनाका सूक्ष्म रीतिसे अवलोकन करना उचित होगा।
ी भी प्राणीकी शरीर रचनाका विचार करने पर यह मालूम होता है कि
के अनेक अवयव व भाग हैं। और उन अवयवों अथवा भागोंको विशेष
प कार्य करना पड़ते हैं। इस कार्य कर्तृत्वकी दृष्टिसे उनमें परस्पर भेद
होता है। परन्तु प्रत्येक भाग अपने नियत कार्यको केवल स्वतःके व्यक्ति-
हितके लिये नहीं करता किन्तु शरीर धारणाके मुख्य कार्यके लिये ही
ता है। उसी प्रकार मानव समाजरूपी देहके अवयव भी अपने नियत
ासिक समाजकी धारणाके लिये करते हैं। इस कार्य भेदकी अपेक्षा
ने समाजके चार मुख्य भाग किये हैं। इन चारों भागोंका वर्णन उसीके
ोंमें सारांश रूपसे यहाँ किया जाता है।

इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजरूपी देवताकी प्रतिष्ठा कर देनेसे
ूर्ण मानव जाति पर निःसीम प्रेम करना और उसकी अहर्निश सेवा
ा ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य ठहरता है। प्रत्येक मनुष्यमें स्वार्थकी
नाएं वास करतीं हैं। इन भावनाओंका नाश कर उनके स्थान पर
ज सेवा रूपी तत्वकी दृढ़ स्थापनाका कार्य अत्यंत परिश्रम और आत्म
णसे ही साध्य हो सकता है। यह सेवा रूपी तत्वकी स्थापनाका काम
ी समान रीतिसे नहीं हो सकता क्योंकि सबकी मानसिक और नैतिक
ि समान नहीं होती। जिन थोड़ेसे लोगोंकी मानसिक और नैतिक
ि हो चुकी है, जो सत्य शोधनार्थ स्वार्थ और ऐहिक बातोंका त्याग कर
ी हैं उन्हें एक प्रकारसे ब्राह्मण अथवा पुरोहितका रूप प्राप्त होगा।
ए भविष्यमें सत्य वेत्ता लोग मानव समाज रूपी धर्मके पुरोहित होंगे।
उनके नैतिक व्यवहारकी शुद्धता पर समाजके संपूर्ण भागोंका योगक्षेम
र रहेगा। संसार और राज कार्योंसे परान्मुखता ही धार्मिक और नैतिक

प्रकरण दूसरा।

सुधारणाका मार्ग।

—••⚘⚘••—

गत प्रकरणमें यह सिद्ध हो चुका है कि व्यक्तिका उत्कर्ष और उस उत्कर्षमें बाधा उपस्थित करनेवाले सामाजिक कृत्रिम बंधनोंका निराकरण ही सुधारणाका साध्य है। अब यह देखना है कि उस सुधारणाका मार्ग कौनसा है?। साथ ही साथ इस पर भी विचार करना है कि उक्त तत्वको नियमन करनेवाली कोई मर्यादा है या नहीं?। अदूरदर्शी लोगोंमें सुधारणाके पूर्वोक्त लक्षणसे भ्रम फैल जानेकी संभावना है। क्योंकि यह निश्चित हो जानेपर कि व्यक्तिका उत्कर्ष प्राप्त करना ही सुधारणा है और सामाजिक बंधनोंका कांटा निकल जाना ही उचित है सर्व साधारणमें मन मानी करनेकी बुद्धि होनेका भय है। कोई व्यक्ति यदि धनी होना चाहेगा तो वह अपने इस उत्कर्षके लिये दूसरे व्यक्तियोंको लूटनेमें फिर कसर क्यों करेगा? क्योंकि सुधारणाके उक्तलक्षणसे समाज बंधन तो रहेगा ही नहीं। इसी प्रकार व्यक्तिविशेष यदि सामाजिक श्रेष्ठता चाहेगा तो वह अपनेसे उच्च आचरणवालोंके सिरपर भी बैठनेका प्रयत्न करेगा। धार्मिक क्षेत्रमें उत्कर्ष प्राप्तिकी आकांक्षा रखनेवाला परमेश्वर आदिको और धर्मके उदार तत्वको एक ओर हटानेका साहस करेगा। राजकीय बंधनका विरोधी अराजक बनकर उत्कर्ष लाभ करनेकी कोशिश करेगा। साराश यह कि उक्तलक्षणसे अप्रबुद्ध व्यक्तियोंके द्वारा विपर्यास होनेकी संभावना की जा सकती है। यह ठीक है कि इस ढंगसे इस विचारसरणीका प्रतिपादन करनेपर कोई इसे नहीं मानेगा, परन्तु इन्हीं विचारोंको अधिक प्रशस्त भाषा तथा हेत्वाभास युक्त सदोष तर्क शास्त्रकी सहायतासे लोगोंके सन्मुख रखनेसे अनिष्ट परिणाम होनेकी संभावना की जा सकती है। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि ऊपर कही हुई पद्धतिसे नास्तिक वाद किसीको स्वीकार नहीं हो सकता, परंतु उसे दूसरे स्वरूपमें रखनेसे उसके मान्य हो जानेकी संभावना है। जैसे कि मानो उसी नास्तिक वादके तत्वको लेकर कहा गया कि परमेश्वर क्यों मानना चाहिये? क्या वह इन्द्रिय गोचर है?

यदि नहीं है तो उसे एक कल्पना मात्र ही समझना चाहिये। फिर उस कल्पनाको झूठ अथवा सत्य कैसे मान सकते हैं। साधुश्रेष्ठ तुकारामने भूतकी कल्पनाकी उत्पत्तिके संबंधमें कहा है कि अपने पैरोंके आवाजसे लोगोंको पीछे किसीके आनेकी कल्पना हुआ करती है, यह कल्पना झूंठी होते हुए भी जबतक समाधान न हो जाय तबतक सचही मानते हैं। इसी तरह ईश्वरकी भी कल्पना झूंठी नहीं होगी इसका प्रमाण क्या ?। और यह भी नहीं है कि ईश्वरके अस्तित्वकी परीक्षाकी कसौटी न हो। उसे दयालु कहते हैं परंतु महान् भयानक विपत्तियोंके समय पर अनेकानेक प्रार्थनाएं करनेका कुछ भी फल नहीं होता। फिर उसका अस्तित्व और उसे दयामय कैसे माना जाय ? यदि कहा जाय कि यह सब कर्मोंका फल है, वह भोगना ही चाहिये तो फिर परमेश्वरके माननेकी आवश्यकता क्या है। हम जैसा करेंगे वैसा भरेंगे इस प्रकार अथवा इसीसे मिलते जुलते रूपसे नास्तिकत्वकी कल्पना लोगोंके सन्मुख रखनेसे साधारण बुद्धिके लोगोंको उस कल्पनाका निराकरण करना कठिन होगा। साधारण लोगोंकी दूसरे विषयोंके संबंधमें भी यही स्थिति है। अतएव व्यक्तिके उत्कर्षकी उक्त प्रकार विपरीत कल्पना न होने देनेके लिये सुधारणाके साध्यकी सिद्धिका मार्ग जान लेना उचित है।

समाजके प्रत्येक व्यक्तिमें महत्वाकांक्षाका होना स्वाभाविक है। उस महत्वाकांक्षाको पूरी करनेके भले और बुरे दोनो तरहके मार्ग होते हैं। इन मार्गोंमेंसे किस मार्गका अवलंबन किया जाय, यह प्रश्न व्यक्तिके सन्मुख रहता है। जगतकी सदोष और अपूर्ण स्थितिपर लक्ष देनेसे बहुतसी बार "अत्याचारः क्षेमकरः" के तत्वके अनुसार अपना कार्य साधलेनेकी इच्छा होती है। और उसके अनुसार आचरण भी होता है तो भी मनुष्यके मनमें सद्गुण और सन्मार्गोंकी कुछ कल्पना निश्चित रहती ही है। बुरे मार्गोंका अवलंबन करते हुए भी वह यह जानता है कि मैं दुष्कृत्य कर रहा हूं। और अपने कृत्योंकी अपेक्षासे उसे यह भी ज्ञान रहता है कि अमुक मार्ग अच्छा है। यद्यपि व्यक्तिकी भले बुरेकी कल्पना स्थल और कालपर बहुत कुछ अवलंबित है। किसी समयमें अथवा किसी देशमें भली मानी जानेवाली कल्पना दूसरे देश और दूसरे समयमें बुरी मानी जाती है। परंतु यह बात सत्य है कि जिस समय जो विचार भले बुरे माने जाते हैं व्यक्तिकी कल्पना भी तदनुसार होती है। और प्रत्येक सामाजिक व्यक्तिकी वैसी ही कल्पना होनेके कारण यह

कल्पना साम्प्रदायिक कल्पना बन जाती है और फिर उसे सामाजिक सदसद्विवेक बुद्धिका स्वरूप प्राप्त हो जाता है। इस सार्वजनिक बुद्धिके प्रभावके कारण व्यक्तिको अपने उत्कर्षकी योग्य दिशा ग्रहण करना पड़ती है। और ऊपर कही हुई विपरीत कल्पनाओंके समान कल्पना स्वीकार न कर वह अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करनेके लिये समाजकी सदसद्विवेक पूर्ण कल्पनाके अनुसार चलता है और वह कुमार्ग गामी नहीं हो पाता। इस सब विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि समयानुसार सामाजिक नीतिशास्त्रकी पद्धतिसे व्यक्तिगत उन्नति करनाही सुधारणाके साध्यका–व्यक्तिकी उन्नतिका–मार्ग है। इस तत्त्वके स्पष्टीकरणार्थ कुछ उदाहरणोंपर विचार करना उचित होगा। छोटे लड़के खेलके प्रारंभमें वर्तुलाकार खड़े हो जाते हैं और खेलका दाम कुदम किसपर आया यह जाननेके लिये उनके निश्चित मार्गोंका अवलंबन करते हैं। इस समय लड़कोंको यह इच्छा होती है कि दाम अपने ऊपर न आवे, अत किसी प्रकारकी चालाकी करनेकी भी उन्हें बुद्धि होती है; परंतु साथ ही यह भय भी रहता है कि अगर कोई साथी जान लेगा तो सब साथी बद मास कहेंगे इस दबावके कारण प्राय वे लड़के अपने नियमके विरुद्ध कार्रवाई नहीं करते और उनकी यह दुरिच्छा दब जाती है। पहलवानोंकी कुस्तीमें भी यही बात दिखलाई पड़ती है। कुस्तीके नियमानुसार मर्म स्थानपर प्रहार करनेकी मनाई है। जब कुस्ती खेलते समय किसी पहलवानका पराभव होने लगता है तब वह अपने प्रतिपक्षीके मर्मस्थानपर आघात करनेकी इच्छा करता है, परन्तु दर्शकोंके दबावके कारण वह ऐसा नहीं कर पाता और अपना पराभव स्वीकार कर लेता है। इससे भी अधिक महत्त्वका उदाहरण प्रसिद्ध मानसशास्त्रवेत्ता विलियम जेम्सके " Psychology " नामक ग्रंथमें देखनेको मिलता है। ग्रंथकारने इटलीके मुख्य प्रधान कॉव्हूरके चरित्रके एक प्रसंगका वर्णन किया है कि जब इटली सन् १८५९ में इटलीके पीडमॉंट संस्थानके लोग राज्यक्रांतिकारक पक्षसे सहानुभूति दिखलाने लगे तब कॉव्हूरके मनमें वहां फौजी कानून-मार्शललॉ–प्रचारित करनेकी इच्छा हुई। और ऐसा करनेके लिये बहुतसे लोगोंने उसे प्रोत्साहन भी दिया, परंतु पुन विचार करनेपर उसने सोचा कि प्रजाके द्वारा कानून भंग होनेके पहिले उसके सब स्वातंत्र्यको दबानेसे साधारण जनसमाज और राजनीतिज्ञ लोगोंमें अपनी निंदा होगी अत उसने अपने पहिलेके विचार छोड़ दिये और कहा कि

"नहीं इस प्रकार तो हरएक राज्य कर सकता है। मैं तो न्याय और नियमानुसार ही व्यवहार करूंगा" इस उदाहरणको लेकर जेम्स विलियमने वैय्यक्तिक आचरणका मानसिक नियम इस प्रकार माना है कि "व्यक्तिगत व्यावहारिक आचरण, अंतःकरणकी साहस वृत्ति और उसपर रहनेवाले लौकिक प्रभावका मिश्र परिणाम है" *।

प्रत्येक मानवीय व्यवहारमें यही बात दिखलाई पड़ती है। शिष्टाचार भी इसी पद्धतिसे निश्चित किया जाता है। जगत्में शिष्टाचारकी कल्पनामें भिन्न २ देशोंके अनुसार जितना अंतर दिखलाई पड़ता है उतना और किसी कल्पनामें नहीं दिखलाई पड़ता। भारतमें मस्तक ढांक लेना सन्मानका लक्षण माना जाता है। भारतमें किसी बड़े अवसर पर जूते निकाल देना उचित माना जाता है, परंतु पाश्चात्य देशोंमें जूते रहित रहना जंगलीपन कहा जाता है। यूरोपियन लोग परस्परमें मिलते समय हाथ मिलाते हैं; परंतु भारतवासी नमस्कार करते हैं। इस प्रकार भिन्न २ देशोंमें शिष्टाचारकी भिन्न २ कल्पनाएं हैं। और वे सार्वजनिक इच्छा पर अवलंबित हैं। वास्तवमें उनमें भला बुरापन कुछ भी नहीं है। व्यक्ति विशेषके किसी आचरणमें कुछ महत्व अथवा उत्तमता न होने पर भी वह जो सार्वजनिक नियमके अनुसार व्यवहार करता है, उसका कारण उस पर पड़नेवाले सार्वजनिक मतका प्रभाव ही है। समाज अथवा देशके नियमानुसार प्रचलित शिष्टाचारका पालन करना ही समाजमें सुधारणाकी स्थिति मानी जाती है। इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नियमित शिष्टाचारोंका पालन करना भाग होता है। और इसका कारण भी शिष्टाचारकी सार्वजनिक कल्पनाका दबाव ही है।

धर्म कल्पनामें भी यही बात दिखलाई पड़ती है। किसी धर्ममें मूर्तिपूजा विहित मानी गई है और किसीमें निषिद्ध। परंतु जिस धर्ममें जो कल्पना अच्छी मानी गई है उस अच्छी कल्पनाके अनुसार—स्वतःकी इच्छाको दबा कर-व्यवहार करनेसे ही सामुदायिक उन्नति होती है।

---

* Individual voluntary action is at all times the Resultant of the compounding of our impulsions with our inhibitions.

W. M. James' "Psychology."

उक्त वर्णनसे यह बात ध्यानमें आती है कि व्यक्तिकी उच्छृंखल मनोवृत्तियोंपर समाजके सद्वर्तनकी कल्पनाका प्रभाव पड़ता है और उसीके कारण व्यक्ति व समाजका उत्कर्ष होता है । अलेक्झांडर नामक ग्रंथकारने भी अपने नीतिशास्त्रसंबंधी " मारल आर्डर एण्ड प्रोग्रेस " " Moral order and Progress " ग्रंथमें समाजकी नैतिक प्रगतिकी चिकित्सा इसीप्रकार की है । वह लिखता है कि " नीतिमान मनुष्य, समाजकी नैतिक कल्पनाओंका प्रतिबिंब होता है । समाजकी व्यक्तिकी नीतिमत्ता, व्यक्तिकी केवल स्वतंत्र इच्छापर अवलंबित नहीं है किंतु उसका नियंत्रण सार्वजनिक सद्सद्विचारकी कल्पनासे होता है " * प्रसिद्ध तत्ववेत्ता जेम्स मिलने भी अपने लेखमें ऐसा ही सिद्धान्त माना है ।

गत प्रकरणमें यह बात ठहराई गई थी कि उत्कर्षमें बाधा डालनेवाले सामाजिक बंधनोंका नाश होना ही सुधारणाका लक्षण है और इस प्रकरणमें यह बात निश्चित होती है कि समाजकी सत्कल्पनाओंके दबावसे व्यक्तियोंका व्यवहार होना सुधारणाका मार्ग है तो ऊपरसे देखनेपर इन दोनों लक्षणोंमें विरोध दिखलाई देनेकी संभावना है । परन्तु वास्तवमें इनमें विरोध नहीं है । क्योंकि व्यक्ति समाजका अंग है और व्यक्तियोंका समुदाय समाज है इस प्रकार परस्पर संबंध होनेके कारण इन दोनोंमेंसे किसीके भी अधिकारका अतिक्रमण एक दूसरेके द्वारा न होना ही सर्वोत्तम स्थिति है । मार्टिनो नामक नीतिशास्त्रज्ञने कहा है कि " समाज और व्यक्तिके साम्यमें समतोल स्थिति ही सुव्यवस्थित स्थिति है । तत्त्वज्ञोंके प्रगति और सुव्यवस्था—यह दो अंग हैं । व्यक्तिके उत्कर्षमें बाधा डालनेवाले समाजके अयोग्य प्रत्यवाय निकाल डालनेसे व्यक्तिकी और पर्यायसे समाजकी प्रगति होती है । और व्यक्तिको स्वेच्छाचारी न बनने देकर उसकी गति पर दबाव रखनेसे समाजमें सुव्य-

---

* The moral individual is thus the reproduction in small of the social order ...what constitutes good individual life is therefore not a matter to be settled only within his own mind, but is determined by social conscience

Alexander's " Moral Order and Progress "

वस्था रहती है। इस प्रकार दोनों अंगोंका पोषण होनेसे समाज संक्रांतिके प्रति जाता है।" इस संबंधमें रेलगाड़ीका उदाहरण ठीक होगा। कई डब्बोंको एकत्रित करनेसे ट्रेन-गाड़ी बनती है उन्हे एंजिनके द्वारा गति मिलती है और ब्रेकके कारण उस गति पर दबाव रहता है। यदि ब्रेक न होकर सिर्फ एंजिन ही गाड़ीमे हो तो वह एकसी दौड़ती हुई अंतमें खड्डेमें जाकर गिर सकती है। यदि केवल ब्रेक हो तो गाड़ी आगे बढ़ न सकेगी। इस लिये गाड़ीमें दोनोंकी—एंजिन और ब्रेककी—आवश्यकता है। दोनोंके द्वारा आवश्यक प्रगति और सुव्यवस्था रहती है। तथा अंतमें अपने साध्य स्थानको पहुंच जाती है उक्त विद्वान अलेकझांडरने इन दोनों अंगोंकी आवश्यकताका अपने पूर्वोक्त ग्रंथसे बहुत सुंदर वर्णन किया है। वह लिखता है कि "समाजका व्यक्ति रूपसे पृथक्करण और व्यक्तिका समाज रूपसे एकीकरण ही सुधारणा है।

सुसंस्कृत समाजमें व्यक्ति स्वतंत्र होने पर भी उच्छृंखल नही होती और दूसरोंसे उसका (व्यक्तिका) पृथक्त्व कम दिखनेपर भी वास्तवमे वह अधिक होता है। और सुव्यवस्थाके कारण उसमें अधिक माधुर्य उत्पन्न हो जाता है×"। इस प्रकार सुधारणाका साध्य और मार्ग मालूम होनेपर उस मार्ग पर चलनेके पहिले और किन २ बातोंका विचार करना चाहिये, इसका आगामी प्रकरणमें विवेचन करना उचित होगा।

× The Test of civilization is that of increasing differentiation of parts...... ...along with a process of integration............In such an organization, the individual will still be independent, but he may become less capricions from others may be apparently limited, it will really be greater, but more nicely adjusted, because regulated by a principle of harmony.

Alexander's "Moral Order and Progress"

प्रकरण तीसरा।

नियामक तत्त्व।

यह निश्चित हो जाने पर कि समाजकी सदसद्विवेक बुद्धिके नियंत्रणसे अपने स्वत के—व्यक्तिगत—आचरणोंको सुधारकर तथा सम्पूर्ण अयोग्य और कृत्रिम बंधनोंको तोड़कर अपनी-व्यक्तिकी और समाजकी उन्नति करना ही संस्कृतिका लक्षण है, यह प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि समाजकी उक्त सदसद्विवेक बुद्धि, और तदनुकूल चलनेकी व्यक्तिगत इच्छा किस स्थितिमें होती है और किस उपायसे होती है ? तथा यह स्थिति प्राप्त करना किन बातोंपर अवलंबित है ?। शास्त्रीय भाषामें इन प्रश्नोंको इस प्रकार कह सकते हैं कि " इष्ट स्थितिके नियामकतत्त्व कौन कौनसे हैं ?। इन प्रश्नोंका उत्तर दो पक्षवाले अपने अपने ढंगसे अलग अलग देते हैं। एक पक्ष कहता है कि यह कार्य धार्मिक और नैतिक उपदेशोंके द्वारा हो सकता है। मनुष्यका सबसे बडा शत्रु अज्ञान है। सदसत् आचरणोंके हानि लाभका ज्ञान उपदेशके द्वारा करा देने पर मनुष्यको सहजमें अपने कर्तव्यका ज्ञान हो सकता है और फिर तदनुसार चलनेकी इच्छा उसे हो सकती है। साधारणतया—सत्य, प्रामाणिकता, परापहारण न करने आदिके नियमोंका शुष्क ज्ञान व्यक्तिको होने पर भी वह समाजधर्म अथवा राजनीतिके जटिल पेंचीले प्रश्नोंको हल करते समय, सत्य और तुलनात्मकज्ञानके अभावमें कर्तव्यमूढ हो जाती है ऐसे समयमें यदि उसे योग्यायोग्य, न्याय्यान्याय्य और कर्तव्याकर्तव्यका उपदेश दिया जाय तो उसे अपना मार्ग स्पष्टतासे दिखने लगेगा। इसी लिये इस प्रकारके उपदेश करनेवाले धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र ही सुधारणाके नियामक तत्त्व माने जाना चाहिये।

दूसरा पक्ष कहता है कि उपदेश ग्रहण करने योग्य सामाजिक और मानसिक परिस्थिति प्राप्त होने तक उपदेशसे कुछ काम नहीं हो सकता। और न समाज तथा व्यक्तिपर उसका कुछ परिणामही होता है। इसलिये सुधारणाके मार्गका नियामक तत्त्व वर्तमान परिस्थिति है। शारीरिक, सांपत्तिक, सामाजिक और राजकीय आदि सब प्रकारकी परिस्थितिमें सुधारणा हुए

बिना कोरे उपदेशसे चित्तको-कभी समाधान नहीं हो सकता। जिस प्रकार किसी मनुष्यको बिच्छूके काटनेपर क्लेशकी परिस्थितिमें शारीरिक क्लेशकी अपरिहार्यतापर व्याख्यान देनेसे संतोष नहीं हो सकता उसी प्रकार समाजकी भी सब प्रकारकी स्थितिका सुधार हुए बिना श्रेष्ठ कल्पनाओंका उपदेश व्यर्थ है।

उक्त पहिले पक्षका आश्रय कान्डोर्सेट और कोंटने अपनी विचार सरणीमें किया है। इन्होंने उसके संबंधमें क्या लिखा है? इसका यहां विचार करना उचित होगा। कांटके मतानुसार सुधारणा करनेका मुख्य मार्ग नैतिक उपदेश है। कोंट, भौतिक परिस्थितिके सुधारको अनावश्यक न समझने पर भी गौण अवश्य समझता है। राजसत्ता और अभिजन सत्ताकी अपेक्षा लोकसत्ताको श्रेष्ठ समझना, समाजकी उन्नतिके लिये सार्वजनिक शिक्षा आवश्यक मानना प्रत्येक व्यक्तिका योग्य स्वातंत्र्य अमर्यादित होना, व्यक्तिके योग्य मत स्वातन्त्र्यपर किसी प्रकारकी रोकटोक न होना आदि अपने द्वारा ठहराए हुए समाज योजनाके तत्वोंको कोंटने भौतिक परिस्थितिकी श्रेणीमें रखा है और इन अंगको सुधारणाकी विचार श्रेणीमें उसने गौण स्थान दिया है। इसी कारणसे उसने इस विषयका सांगोपांग विचार नहीं किया है। तथा जिन पूर्वोक्त बातोंको—लोकसत्ता, सार्वजनिक शिक्षा आदिको—उसने आवश्यक माना है उन्हींके आनुषंगिक सिद्धान्तों और उपप्रमेयोंको उसने अनावश्यक ठहरा दिया है। समाजमें किसी वर्गका अवास्तविक प्राबल्य न होना, राष्ट्रमें प्रतिनिधि सभाके चुनावके समयमें प्रत्येक मनुष्यको स्वतंत्र मत देनेका अधिकार होना, एक व्यक्ति दूसरे पर अयोग्य रीतिसे प्रभाव न डाल सके अतएव चुनावके समय बेलेट पद्धति द्वारा गुप्त रीतिसे मत लेना, मतदाताओंके संघका किसी पक्ष विशेषका अनुयायि न होना आदि योजनाएं ऊपर कहे हुए कोंटके सिद्धान्तोंकी सहायक एवं उपसिद्धान्त रूप हैं। कोंटका कहना है कि जनता, स्वतंत्र अधिकार प्राप्त एवं प्रमुखतया स्वतन्त्रका भिन्न अस्तित्व प्रतिपादन करनेवाले व्यक्तियोंका समुदाय न होकर वह सेन्द्रिय और सजीव प्राणियोंके समान है। जिस प्रकार शरीरके प्रत्येक अवयव स्वतंत्र न माने जाकर केवल शरीरके घटक माने जाते हैं और इस लिये उन अंगोंको शरीरके इतर भागोंपर क्षुब्ध न कर सबोंको मिलकर शरीरके पोषण रूप एक कार्यकी ओर ही लक्ष रखना पड़ता है और इस बातका सूक्ष्म विचार करनेकी आव-

श्यकता (यह तत्व सर्व मान्य होनेके कारण) शरीर विज्ञान शास्त्रियोंको प्रतिभासित नहीं होती उसी प्रकार समाज अथवा राष्ट्ररूपी शरीरके व्यक्ति रूपी भिन्न अवयवोंके परस्पर संबंध तथा एक दूसरे परके अधिकार वगैरहका सूक्ष्म विवेचन भी उसे (कांटको) आवश्यक प्रतीत नहीं होता। परंतु इसका परिणाम यह होता है कि कांटने जिनप्रमेयोंको पहिले आवश्यक माना है वे भी इस विचारसरणीसे अनावश्यक ठहरते है। जो समाज अथवा राष्ट्रके मनुष्योंको व्यक्तिगत अधिकार नहीं तो लोकसत्ताकी अपेक्षा राजसत्ता बुरी कैसे मानी जा सकती है। किसी भी शासनपद्धतिके सुख कर होने पर कॉटके मतसे फिर उसके सूक्ष्म विवेचनकी आवश्यकता नही है। मतदारसंघ विशिष्टपथका अनुयायि हुआ तो उससे भी क्या हानि है? और संपत्तिका विभाग राष्ट्रमें यदि सम विषम रीतिसे हुआ तो उससे भी समाजको क्या हानि हुई क्योंकि समुदायकी अपेक्षा समाज तो धनिक ही रहा। ये और इस प्रकारकी दूसरी आपत्तियां कांटके मतानुसार उपस्थित हो सकती हैं। तत्वोंको मानकर उसके परिणामोंको नहीं माननेसे वे तत्व, व्यवहारमें कैसे परिणत हो सकते हैं?। व्यक्तिगत अधिकार न माननेसे व्यक्ति पर दूसरेके उन्ही अधिकारोंको माननेकी जवाबदारी भी नहीं आ सकेगी। और परिणाम यह होगा कि व्यक्तिके अधिकार और कर्तव्य दोनों नष्ट हो जावेंगे। अतएव कॉटके तत्व व्यावहारिक रूप धारन न कर सकेंगे। उदाहरणके लिये कॉटके एक तत्वपर विचार करना उचित होगा। उसने ठहराया है कि प्रजा सत्तात्मक राज्यपद्धति उत्तम है परन्तु यदि प्रजाको अपने प्रतिनिधि राज्यके कार्यकारी मंडलसे नियुक्त करनेका अधिकार नहीं होगा तो अधिकारी वर्ग प्रजाको उत्तरदायि कैसे होगा। और अधिकारी वर्गपर प्रजेच्छानुसार व्यवहार करनेका उत्तरदायित्व नहीं हुआ तो वह वर्ग प्रजासे क्यों डरेगा? अतएव कांटके ही मतानुसार कॉटकी राजपद्धति व्यवहारमें नही आ सकेगी। कॉट कहता है कि " अधिकारियोंको प्रजेच्छानुवर्ती चलनेके लिये उपदेश दो और प्रजाको समाजके लाभ एवं उत्कर्षके अनुसार चलनेके लिये कहो तो दोनो, जनताके कल्याणके लिये सर्वमान्य तत्वोंके अनुसार चलनेको तय्यार होंगे " कॉटके। मतानुसार जगत्‌की आजतक जो प्रगति हुई है वह धर्मतत्व, नीतितत्व, स्वार्थत्याग और समाजहितके उपदेशके कारण हुई है। धर्मक्रांतिके लिये मनुष्यसमाजको चिह्नपूजा, अनेक देवपूजा, एक देवपूजा और सृष्टि तत्त्वपूजा रूप चार

अवस्थाओंमें भ्रमण करना पड़ता है। ज्यों ज्यों मनुष्यसमाज एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें आता है त्यों त्यों उसकी जंगलीपनकी भौतिक परिस्थिति बदलती जाती है। जिस समय मनुष्य चिह्नपूजाकी अवस्थामें होता है उस समय वह वृक्ष, पाषाण, पशुपक्षी आदि पदार्थोंको देव समझता है। वह प्रत्येक जातिके पदार्थोंमें तदनुसार भिन्न भिन्न देवोंकी कल्पना करता है। वृक्षमें अमुक देव, पाषाणमें अमुक देव मानकर उन पदार्थोंमे वास करनेवाले देवोंका पदार्थकी जातिके अनुसार पृथक पृथक् कुटुम्ब मानता है। इसी कल्पना परसे जब वह अपनी इस जंगली स्थितिसे निकल कर सुधरी हुई स्थितिमें आता है तब उसमें भी कुटुम्बावस्थाका प्रारंभ होता है क्योंकि जैसा देव होता है वैसे ही उसके अनुयायि होते हैं। इस अवस्थाके बाद मनुष्य दूसरी अवस्थामें आता है जिसमें वह अनेक देवपूजा करता है। इस अवस्थामें आनेपर उसका यह विश्वास होता है कि स्थूल पदार्थमें संचार करनेवाले देवताओंके अनेक संघ हैं और वे आपसमें अपने गुणकर्मानुसार प्रेम करते अथवा लड़ते झगड़ते रहते हैं। इस कल्पनाके ही आधारपर मानवीय समाजमें छोटे छोटे राष्ट्र बने थे और वे राष्ट्र ग्रीस देशके छोटे छोटे राष्ट्रोंके समान अपने गुण धर्मानुसार संधि अथवा विग्रह करते थे। जब इस अवस्थासे भी मनुष्य एकदेवपूजा की तीसरी अवस्थामें आता है तब समाजके भिन्न भिन्न पंथी मिल जाते हैं और महम्मदी धर्म, हिन्दूधर्म या क्रिस्तीधर्मके समान व्यापक धर्मकी रचना होती है। उस समय एक देवत्वकी कल्पनाके समान सम्पूर्ण पदार्थोंमें भी एक देवकी ही स्फूर्ति मनुष्य समाज मानने लगता है। इस कल्पनाके ही फलसे भिन्न भिन्न सुसंगत धर्मोंके रूपोंमे दिखलाई देनेवाली एक धर्मकी कल्पना है। अंतमें जब सम्पूर्ण मानव समाजका धर्म सृष्टी पूजात्मक होगा तब एक प्रकारके विश्वबंधुत्वकी कल्पनासे सम्पूर्ण जगत एकत्रित हो जायगा। इस प्रकार कॉम्टके मतानुसार धर्मका स्थित्यंतर हुआ करता है। और यही स्थित्यंतर सामाजिक कल्पनामें भी परिणत होता है। तथा जिस प्रकार धार्मिक कल्पनाका विस्तार उपदेशसे होता है उसी प्रकार समाजकी उन्नत स्थिति भी उपदेश और बुद्धिवादसे होना ही कॉम्ट मानता है।

कार्लाइलने भी इस मतको माना है। कार्लाइल भी भौतिक परिस्थितिके सुधारकी साधारण आवश्यकता मानता हुआ समाजकी संस्कृतिके लिये वह

इस सुधारको दूसरी श्रेणीको मानता है। हमने भी कोंटके ही अनुसार मानव समाजको चैतन्य युक्त शरीरके समान माना है और इस लिये सामाजिक व्यक्तिके परस्पर बन्धन, प्रेममय, नीतियुक्त, एवं सात्विक गुणों पर अवलम्बित होनेकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए उसने प्रतिपादन किया है कि इन बातोंके लिए समाजको अनुनय पूर्वक उपदेश करना ही उचित है और उसीसे कार्यकी सिद्धि हो सकती है। इस तत्वके पोषके लिये उसने इतिहाससे कुछ उदाहरण भी दिये हैं। वह लिखता है कि क्रिश्चियन धर्मके उत्पादक यीशु क्राइस्टने धर्म स्थापना कर उस धर्मके श्रेष्ठ तत्वकी सहायतासे उस समयकी समाजको जो उन्नतिके सम्मुख किया वह उपदेश देकर ही किया था। यीशुके समान द्रव्यहीन और अधिकारहीन पुरुष समाजकी आर्थिक और राजकीय परिस्थिति कभी बदल नहीं सकता था। और इस लिये इस सम्बन्धमें उसने किसी प्रकारका उद्योग नहीं किया। उसका तो यह सिद्धान्त था कि भौतिक स्थिति कैसी भी होने पर धर्म और नीतिके बल पर प्रत्येक व्यक्ति उन्नति कर सकता है। इस लिये भौतिक परिस्थितिकी सुधारणाको सबसे आवश्यक बतानेवाला तत्व ठीक नहीं है। दूसरा उदाहरण वह फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिका इस प्रकार देता है कि राज्यक्रान्तिके बाद फ्रान्समें जो सुस्थिति हुई वह भी स्वातंत्र्य, समता, बन्धुता आदि तत्वोंके उपदेशसे ही हुई थी। अतएव नैतिक अनुनय और धार्मिक बुद्धिवाद ही समाजकी प्रगतिके नियामक तत्व हैं।

परन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं माना जा सकता। किसी भी जमीन में उत्तम फसल लानेके लिये केवल अच्छे बीजसे ही काम नहीं चलता किन्तु उसके सर्वथा अनुकूल भौतिक परिस्थितिकी भी आवश्यकता होती है। अर्थात्, उपजाऊ भूमि, अच्छी खाद, पानी आदि बातोंकी आवश्यकता है उसी प्रकार सुधारणा रूपी फसलके लिये आर्थिक, सामाजिक, राजकीय आदि सब प्रकारकी भौतिक परिस्थितिकी अनुकूलता होना आवश्यक है।

व्यावहारिक उदाहरणों परसे यही सिद्ध होता है कि किसी भी कार्य करनेके लिये उपदेशकी अपेक्षा परिस्थितिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। जो माता-पिता अपने बालकोंको नीतिवान् बनाना चाहते हैं उन्हें उपदेशकी अपेक्षा उनकी अच्छी संगति होनेकी ओर ही अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। इसी तरह जो सरकार यह चाहती है कि रोगका परिहार हो

और लोग उत्तम नागरिक बने वह सरकार इन तत्वोंका उपदेश देकर ही चुप नहीं हो जाती किन्तु प्रजाके रहने योग्य स्वच्छ और शुद्ध हवावाले मकानोंका प्रबन्ध करती है । स्थान स्थानपर पाठशालायें स्थापित कर प्रजाका अज्ञान दूर करती है । तथा मादक पदार्थ एवं वेश्याओंकी परिस्थितिका—जिससे कि समाजकी नीति बिगड़नेका भय है, नाश करती है । अमेरिकामें गुला-मोंका जो नाश हुआ वह उपदेशसे ही नहीं हुआ किन्तु अन्तःकलह पूर्वक प्रकार् अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करना पड़ी थी । शंकराचार्यसे १६०० चौदह सौ वर्ष पहिलेसे बौद्ध धर्मका भारतमें अस्तित्व था और यह बात भी नहीं है कि शंकराचार्यसे पहिले वैदिक धर्मानुयायियोंने उसके प्रतिकारका प्रयत्न न किया हो परन्तु वे सफल न हो सके और शंकराचार्यको सफलता मिली । उनकी इस सफलताका कारण केवल यही नहीं है कि उनके उपदे-शसे लोगोंको बुद्ध धर्मके तत्वोंकी हीनता और वैदिक धर्मकी श्रेष्ठताकी प्रतीति हुई हो किन्तु बौद्ध धर्ममें शंकराचार्यके समयमें अनाचारकी अधिक वृद्धि होगई थी और सामाजिक स्वतंत्रताको निरंकुशताका रूप प्राप्त होगया था । बौद्ध धर्मानुयायि, भगवान् बुद्धके उज्वल तत्वोंको भूल गये थे । यही कारण उस धर्मके ह्रासका हुआ । रोमन साम्राज्यके आरम्भमें जिन रोमन लोगोंने क्रमशः संपूर्ण जगत्को जीता और अपने साम्राज्यमें उदार, वीर्य-शाली और नीतिवान् नागरिक उत्पन्न किये उन्ही रोमन लोगोंको रोमन साम्राज्यके पतनके समयमें उपदेशकी क्या कमी थी ? परन्तु उनकी उस समय दशा हीन होगई थी । उनकी दुर्व्यसन, आलस्य, विषय लालसा, शक्तिहीनतारूप परिस्थिति होनेके कारण उन पर कर्तव्य सम्बन्धी उपदेशका कुछ परिणाम नहीं हुआ और उन्हे पराजित होना पड़ा । फ्रान्सकी राज्य-क्रान्ति, समत्व और स्वातंत्र्यके उपदेशसे नही हुई किन्तु जनताके प्रयत्नोंसे उस उपदेशको ग्रहण करने योग्य मानसिक परिस्थिति उत्पन्न होनेके कारण हुई थी । राजा और सरदारोंका जुल्म, दारिद्र्य, अपमान, सामाजिक विष-मता आदि दुःसह परिस्थितिके कारण ही वह राज्यक्रान्ति हुई । राष्ट्रके सुखसंपन्न, सधन और सुव्यवस्थित होने पर राज्यक्रान्तिका उपदेश ऊसरमें डाले हुए बीजके समान निष्फल होता है ।

केवल नीति तत्वके उपदेशसे ही सुधारणा न होकर उसके अनुरूप भौ-तिक परिस्थिति उत्पन्न करनेकी आवश्यकता प्रगट करनेवाले इस प्रमेयके

लिये दूसरे एक तत्वका और आधार है। वह यह कि जगत्में सम्पूर्ण पदार्थों अथवा वस्तुओंका परस्पर सम्बन्ध अपने आप निश्चित होता है। उसी प्रकार प्रत्येक कार्यकी नैतिक भूमिका भी अपने आप बनती है। अंगरेजीमें एक कहावत है कि Water seeks its own level, अर्थात् पानी अपनी समता (चौरसाई) आप खोजता है। एक पानी भरे हुए बर्तनको तिरछा रख देनेसे पानी एक ओर ऊँचा और एक ओर नीचा दिखलाई पड़ता है परन्तु उस बर्तनका कृत्रिम तिरछापन दूर हो जाने पर पानीकी लेविल समान हो जाती है। इसी प्रकार जगत्के अनेक शक्तिसंपन्न पदार्थोंकी परस्पर शक्तिके कारण पदार्थोंको एक प्रकारकी स्थिति अपने आप प्राप्त हो जाती है। रसायनशास्त्रमें दो रासायनिक द्रव्योंको एकत्रित करने पर उनके संयोगका प्रमाण अपने आप निश्चित हो जाता है और उसी प्रमाणसे वे संयुक्त हो जाते हैं। सम और विषम विद्युत्प्रवाहका आकर्षण होना तथा उन दोनोंके एक जातिके होनेपर आकर्षण होना, स्त्री पुरुषकी सम्बन्ध करनेकी इच्छा होना आदि कार्य अपने आप होते हैं। बाजारमें जिस चीजकी जितनी माँग होती है व्यापारी गण स्वाभाविकतया उस चीजकी उतनी ही पूर्ति करते हैं; यह परिस्थिति भी अपने आप निर्माण होती है। प्रजाके मुख संपत्तिकी जिस प्रकार वृद्धि होती जाती है उसी प्रकार अपराधोंकी संख्या घटती जाती है। परोपकारी और दानी पुरुष भी परोपकार करते समय अपने घरकी स्थितिकी ओर देखता है। इसका कारण यह नहीं है कि उसमें परोपकार बुद्धि कम है और इस लिये उसे उपदेश देनेकी आवश्यकता है, किन्तु उसे उसकी गृह परिस्थिति उसकी दान बुद्धिको नियंत्रित करती है। सृष्टिका ज्ञान जिस जिस प्रकार बढ़ता जाता है उस उस प्रकार लोगोंका भ्रम दूर होता जाता है। इस प्रकार समाजकी नीति, धर्म कल्पना, विश्वास आदि भौतिक परिस्थितिसे ही अपने आप निश्चित होते हैं। और यह सिद्ध होता है कि भौतिक परिस्थिति ही सामाजिक प्रगतिका नियामक तत्व है।

इस नियमके सर्व व्यापी और भ्रम रहित होनेका ही यह फल है कि किसी भी कालकी भौतिक परिस्थितिका ज्ञान हो जाने पर उस समयकी मानसिक और नैतिक परिस्थितिकी ठीक कल्पना की जा सकती है। विद्वानोंका कहना है कि भूगर्भशास्त्रकी दृष्टिसे एक ऐसा समय था कि जब संपूर्ण पृथ्वी पर वनस्पतिका बहुत अधिक विस्तार था और उस कालकी प्राणी

सृष्टि भी आकार प्रकारसे वनस्पतिके समान ही बड़ी लम्बी चौड़ी हुआ करती थी । उस समयके आकारके सामने आजकलके हाथियोंका आकार भी कुछ नहीं के समान है । यह बात प्राचीन प्राणियोंके मिले हुए अस्थिपंजरोंके द्वारा विद्वानोंने सिद्ध की है । इस वनस्पति सृष्टि पर अवलंबित रहनेवाली प्राणि सृष्टिके प्रमाणके समान ही परिस्थिति और प्रगतिका प्रमाण है । समाजकी चालू रीतियो, सुखोपभोगके प्रकार, मनोविनोदके साधन आदि जंगलीपनके हुए तो उस समाजके धर्म, कर्तव्य और आचार विचार भी जंगलीपनके ही होंगे । परिस्थितिके व्यूहसे बाहिर आनेकी सामर्थ्य किसी में नहीं होती । जिस जिस प्रकार परिस्थिति में अंतर पड़ता जाता है उसी प्रमाणके अनुसार कल्पनायें भी अंतर पड़ता जाता है । इसी कल्पना पर धर्म और नीतिकी इमारत खड़ी होती है । और उनकी प्रगतिको ही सुधारणा कहते हैं । सारांश यह है कि अनुभवमें यही आता है कि सबकी जड़ भौतिक परिस्थिति है । सेनाकी पंक्तिके पद्धति पूर्वक अगाड़ी बढ़नेके लिये जिस प्रकार उसके प्रत्येक सैनिकको दूसरे सैनिकोंके साथ साथ बराबरीसे आगे बढ़ना पड़ता है और सब सैनिकोंके पद्धति पूर्वक अगाडी बढ़नेसे ही सैन्यकी प्रगति होती है उसी प्रकार परिस्थिति और कल्पनाकी साथ साथ उन्नति होनेसे ही समाजकी सुधारणा होती है ।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी शास्त्रकी नवीन शोधोंसे समाज, नीति, धर्म आदिकी कल्पनाओंमें क्रान्ति हुआ करती है । आकाशके ग्रहोंकी तेज किरणोंका तथा उनके परस्पर सम्बन्धका मनुष्यकी आयुपर परिणाम होता है इससे ग्रहोंको देव मान कर उनकी पूजा करनेकी रिवाज हिन्दू धर्ममें पड़ गई है । इस विश्वासके आरंभ कालमें ग्रहोंकी संख्या सात ही मानी जाती थी परन्तु आगे जाकर दूरबीनकी सहायतासे यूरेनस और नेपच्यून (राहु-केतु) नामक दो ग्रहोंकी शोध हुई । तब प्राचीन भक्त, श्रद्धालु लोगोंके आगे यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन दो ग्रहोंकी योजना कहां की जाय, इन्हें देव माना जाय या नहीं ? । अथवा जिन्हें पहिले देव मानते थे उन्हें देव न मान कर इन नवीन ग्रहोंकी पंक्तिमें बैठाया जाय ? इस प्रकार परिस्थिति बदलनेके साथ ही साथ धर्म कल्पनामें क्रान्ति उत्पन्न हो गई । सारांश यह कि परिस्थितिसे कल्पना उत्पन्न होती है और कल्पनासे नवीन परिस्थिति प्राप्त

है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है परन्तु इसके मूलमें परिस्थिति होनेके कारण प्रगतिकी नियामक भी वही मानी जाने योग्य है।

कॉंट कहता है कि नीति तत्त्वके केवल उपदेशसे ही समाजकी प्रगति होती है। और कार्लाइल कहता है कि विभूति जन्म लेकर अपने आचरणोंके द्वारा समाजको प्रभावान्वित कर समाजकी प्रगति करती है। परन्तु वास्तवमें भौतिक परिस्थितिके अनुकूल हुए बिना कितना ही कंठ-शोष किया जाय, पर उपदेश कार्य कारी नहीं होता और न अपने आचरणसे समाजको प्रभावान्वित करनेवाली विभूति ही उत्पन्न होती है। धार्मिक सुधारणार्थ विभूतिके रूपसे परमेश्वरके उत्पन्न होनेके लिये भी भगवद्गीतामें कहे अनुसार परिस्थितिकी आवश्यकता है। भगवद्गीताका वह कथन इस प्रकार है.—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि होने लगती है तब तब अधर्मके नाशके लिये मैं अवतार ग्रहण करता हूं।"

श्रेष्ठ विभूतिमें किन किन गुणोंकी आवश्यकता है यह जानते हुए भी परिस्थितिके बन्धनको तोड़ कर बाहिर जानेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं होती। यदि किसी व्यक्ति विशेषमें होती भी है तो उस समयकी परिस्थितिके कारण लोगोंकी मनोवृत्तियाँ उस सामर्थ्यको सहन करने योग्य न होनेके कारण उस व्यक्तिका श्रेष्ठत्व भी छुपा हुआ रह जाता है। इसके लिये पाश्चात्य देशोंका उदाहरण योग्य होगा। पाश्चात्य देशोंके विचार ऐहिक सुखके पीछे लग जानेके कारण एवं संपत्तिके अतिरेकके कारण अध्यात्म विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो गये हैं। ऐसी स्थितिमें आत्माको अविनाशी और ऐहिक सुखोंको नश्वर माननेवाला कोई श्रेष्ठ आचरणका मनुष्य उत्पन्न भी हुआ तो उस बेचारेका कहना वहाँ कौन सुनेगा? प्रत्येक रविवारको पादरी लोग क्राइस्टकी इस आज्ञा पर कि "पहिले जगत्की संपूर्ण वस्तुओंका त्याग करो तभी मेरे साथ बैठनेके तुम योग्य होगे" हजारों मनुष्योंके साम्हने व्याख्यान देते हैं परन्तु उन क्राइस्टके धर्मानुयायि कहलानेवालोंमेंसे कितने लोगोंने जगतकी वस्तुओंका त्याग किया है? । भारतवर्षमें कथाकार और पौराणिक लोग प्रतिदिन "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" के तत्त्वका उपदेश करते

हैं; परन्तु इन उपदेशोंके कारण कितने लोगोंने संसारको छोड़ा है ? । सम्पूर्ण मनुष्योंको परमेश्वरकी संतान माननेवालोंमेंसे कितनोंने दूसरे मनुष्योंको अपना भाई समझ कर गलेसे लगाया है ? । इनका उत्तर सिवाय नहीं के और क्या हो सकता है ? । तत्वोंका व्यवहारमें परिणत न होनेका कारण परिस्थितिकी प्रतिकूलता है । जिन्हें अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होती है उन पर उपदेशका परिणाम होता है । भवभूतिने एक स्थान पर ऐसा वर्णन किया है कि गुरु, मंद और कुशाग्र-दोनों प्रकारकी बुद्धिके शिष्योंको एक ही प्रकारसे उपदेश देता है परन्तु परिणाम भिन्न भिन्न होता है । रत्न और मिट्टीके ढेले पर सूर्यका प्रतिबिम्ब समान पड़ता है, परन्तु एकमें प्रतिबिंबकी परछाईं पड़ती है और दूसरेमें नहीं । अर्थात् परिस्थितिका परिणाम दूर करनेकी सामर्थ्य पदार्थमें नहीं है । यही तत्व भवभूतिने प्रतिपादन किया है । इसीलिये व्यक्ति स्वातन्त्र्यका महत्व लोकसत्ताकी श्रेष्ठता, शिक्षाके लाभ, नीतिमत्ता और बुद्धि सामर्थ्यपर सामाजिक स्थितिका अधिकार ठहरानेकी आवश्यकता आदि बातें सब कालके लोगोंको मालूम होने पर भी और उनके कानोंपर उपदेशका डंका बजानेपर भी भौतिक परिस्थितिकी प्रतिकूलताके कारण वे उन तत्वोंको काममें न ला सके । जब कालान्तरमें परिस्थिति बदलती है और कल्पना ग्रहण करने योग्य मानसिक—विचार भूमि तैयार हो जाती है, तब उन कल्पनाओंकी वृद्धि होती है और बीजवाले होती है । ऊपर कहा जा चुका है कि गुलामीका नाश केवल उपदेशसे नहीं हुआ । इस सम्बन्धमें लार्ड मोर्लेने अपने Compromise नामक ग्रंथमें जो विवेचन किया है वह माननीय है । वे कहते हैं कि गुलामीका नाश चुटकी बजा देनेसे ही नहीं हो गया । गुलामीका रूपान्तर बेगारमें और उसके बाद स्वतंत्र मजदूरी में क्रमशः हुआ है । क्रिस्तीधर्मके विश्वबन्धुत्वके उपदेशका प्रारंभ हो जानेपर भी अनेक शताब्दियोंतक गुलामीकी प्रथा चलती रही थी । क्रिस्तीशककी नौवीं और दशवीं शताब्दिमें भूमध्य समुद्रके द्वारा गुलामीका व्यापार बहुत जोर पकड़ गया था । इस समय यूरोपसे आफ्रिका, सीरिया और ईजिप्ट नामक देशोंमें जानेवाला मुख्य व्यापारी माल " गुलाम " था । परन्तु कालान्तरमें यूरोपकी लोकसंख्या कम होगई, संपत्तिका नाश होने लगा और इस लिये गुलामीका व्यापार करनेवाले पूंजीवालोंके पेशो आराममें कमी होगई । परिणाम

यह हुआ कि धनी और नौकरोंमें सांपत्तिक,अन्तर कम होगया। और इस लिये गुलामोंको कुछ श्रेयत्व प्राप्त हुआ। इसके बाद भिन्न भिन्न कायदे कानूनोंके द्वारा गुलामोंको थोड़े थोड़े हक देनेका आरम्भ हुआ इसी सम्बन्धमें प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान फिन्लेने यह स्पष्ट लिखा है कि खिस्ती धर्मके उपदेश अथवा जीवदयाके विचार, इनमेंसे एकका भी परिणाम, गुलामगिरीके नाशके कार्यमें पर्यवसित भी नहीं हुआ। * इस फिन्लेके मतानुसार ही लार्ड मार्लेने भी अपना अभिप्राय प्रगट किया है कि "केवल नैतिक और बौद्धिक उपदेशोंसे ही समाजमें प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। किंबहुना उसका (उपदेश) निश्चयात्मक परिणाम भी नहीं होता। किन्तु राजकीय और भौतिक परिस्थितिकी मर्यादामें ही सदुपदेशका परिणाम होता है।"

न केवल ऐहिक उन्नतिके ही लिये परिस्थिति नियामक है, किन्तु पारमार्थिक प्रगतिके कार्यके लिये भी यही तत्त्व नियामक है। तत्त्वज्ञानकी भाषामें इस तत्त्वका प्रारब्ध अथवा कर्म—इनके नामसे उल्लेख किया जाता है। मनुष्य जो कर्म करता है वह स्थूल परिस्थितिके रूपसे फलीभूत होता है। यहाँ तक कि मनकी दृढ़ सदिच्छा अथवा दुरिच्छा भी तदनुसार परिस्थितिके रूपमें रूपान्तर हो जाता है। ये परिस्थिति रूपी कर्मोंसे मनुष्यका बन्धन होनेके कारण उसकी आत्माकी स्वाभाविक स्वतंत्रतामें बाधा आती है। इनका नाश, फल भोगनेसे ही होता है। अर्थात् परिस्थितिकी शृंखला तोड़ कर अपनी उदार कल्पनाके अनुसार मनुष्य एकदम स्वतंत्र नहीं हो सकता। जो कर्म पीछे किये हैं उनका फल आज भोगा जा रहा है। और आजके कर्म भविष्यमें फल देंगे। इस कर्म प्रणालीको ही व्यवहारमें दैव कहते हैं। वास्तवमें अपनी कृतिके सिवाय आकस्मिक रीतिसे आकर अपने बंधनमें लेनेवाला कोई दूसरा दैव नहीं है। इस दैव अथवा परिस्थितिको "दैवमेवात्र पञ्चमम्" की उक्तिसे वेदान्तमें पदार्थकी कारण चिकित्सामें महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि स्थूल और सूक्ष्म सृष्टिमें व्यक्तिका उत्कर्ष ही सर्वोत्तम साध्य है और साध्यको सिद्ध करनेवाले व्यक्तिको नियमन

* Neither the doctrine of christianity, nor the sentiments of humanity have ever succeeded in extinguishing slavery........

करनेवाली परिस्थिति है अतएव संस्कृतिकी नियामक तत्व परिस्थिति ही है, यह स्पष्ट होता है । *

यह निश्चित हो जाने पर कि व्यक्तिका उत्कर्ष साध्य है, उस व्यक्ति पर समाजकी नैतिक कल्पनाका दबाव डालकर उसे सुमार्ग गामी बनाना, मार्ग है और इन दोनोंका नियमन करनेवाला तत्व परिस्थिति है, और यह सब सुधारकी उपपत्तिके प्रमेय हैं, तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब परिस्थिति ही व्यक्तिके एवं समाजके उत्कर्षको नियंत्रित करती है तो संस्कृतिकी श्रेष्ठ कल्पना, उदात्त ध्येय और उच्च तत्वोंका उस परिस्थितिसे समीकरण किस प्रकार किया जा सकता है ? । क्योंकि परिस्थितिके प्रतिकूल होनेपर श्रेष्ठ कल्पनाओंके उपदेशका कुछ प्रभाव नहीं हो सकता । ऐसी अवस्थामें यह जानना उचित है कि किन उपायोंसे परिस्थिति बदल कर श्रेष्ठ कल्पनाओंकी सहगामिनी हो सकेगी बिना इसके सुधारणाकी आशा व्यर्थ है । इस लिये आगेके प्रकरणमें भौतिक परिस्थिति और सुधारणाके समीकरण करनेके उपायोंपर विचार किया जायगा ।

---

* Moral and intellectual conditions are not the only motive forces in a community, nor are they even the most decisive. Political and material conditions fix the limits at which speculation can do either good or harm.

Morley's "Compromise," page 234.

प्रकरण चौथा.

परिस्थिति का समीकरण.

प्रतिकूल परिस्थितिमें नैतिक व धार्मिक कल्पनाकी प्रगति नहीं होती और प्रगति हुए बिना उसकी आनुषंगिक नवीन परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार इन दोनोंका अविनाभावी सम्बन्ध है। अब प्रश्न यह है कि इन दोनो—परिस्थिति और कल्पना—की संगति किस प्रकार होती है? । परिस्थिति और कल्पना तराजूके दोनों पलड़े हैं यदि ये पलड़े समतोल नहीं हुए तो तराजू किस प्रकार स्थिर रह सकती है। इन्हें समतोल करनेका एक उपाय होता है। कम वजनके पलड़े में भारी पलड़ेके अधिक वजनके बराबर कोई पदार्थ–पासंग–रख देनेसे दोनों समान हो जाते हैं। इसी कल्पनाका नाम समीकरण है। और इसी पद्धतिसे परिस्थिति और तात्विक कल्पनाकी भी संगति बैठती है। इस समीकरणके तत्वपर धर्म कल्पनामें किस प्रकार उत्क्रान्ति होती है?, इसका वर्णन आगेके 'धर्म साधना' के प्रकरणमें किया जायगा। और वहाँ भी इसी तत्वका सम्बन्ध दिखलाई पड़ेगा। यहाँ केवल यही देखना है कि यह नियम किस प्रकार सर्व व्यापी है।

गणितका स्थिति शास्त्र (Statics) नामक एक भाग है। इस शास्त्रमें भिन्न भिन्न शक्तियोंके द्वारा पदार्थके आकर्षित होने पर भी उनका समतोल हो जानेसे पदार्थका स्थिरी करण किस प्रकार होता है? अथवा उन शक्तियोंमें किसी शक्ति विशेषके बलवान् होनेपर पदार्थ उसकी ओर किस प्रकार खिंचता है? इसका वर्णन किया गया है। एक पदार्थ पर यदि ऊर्ध्व गामी (Vartial) और अधो गामी, दोनो शक्तियोंका समान बल होगा तो पदार्थ स्थिर रहेगा, परन्तु यदि इनमेंसे एक का बल अधिक हुआ तो पदार्थ उसकी ओर ही खिंचेगा।

टग आफ वार नामक एक खेल होता है। उसके दोनों सिरों पर कुछ कुछ आदमी होते हैं और दोनों अपनी अपनी ओर खींचते हैं। दोनोंका यदि समान बल हुआ तो कोई किसीको नहीं खींच सकता और जहांके तहां

दोनों स्थिर रह जाते हैं। परन्तु यदि किसी एक ओरका बल ज्यादह हुआ तो वह रस्सीको खींच ले जाता है। और उस पक्षकी जय होती है। कम बलकी ओर ज्यादह बलवालों जितना बल और लगा दिया जाता है, तो फिर समीकरण हो जाता है और किसीको कोई नहीं खींच सकता। इस समीकरणकी पद्धति पर विश्वके पदार्थोंका परस्पर सम्बन्ध रहता है। नही तो पदार्थोंका मेल कभी होने ही न पावे। समाजमें बुद्धिहीन वर्गसे देशके प्रतिनिधि मंडलमें प्रतिनिधि चुन कर आनेकी संभावना कम होती है। इस बुद्धि—बलकी कमीका समीकरण करनेके लिये स्वतंत्र—मतदार—संघ बनाना समीकरणके तत्वका राजनैतिक उदाहरण है। पूंजी वालोंके एकत्रित होकर यह निश्चय करनेपर कि अमुक तनख्वाहकी अपेक्षा अधिक तनख्वाह मजदूरोंको न दी जाय, पूंजी वालोंका जो बल अधिक हो जाता है उसके प्रतीकारार्थ मजदूर लोगोंका भी अपने संघ निर्माण कर अमुक वेतनसे कम वेतन मिलने पर काम न करनेका निश्चय करना और इस प्रकार पूंजी वालोंको मात करनेकी शक्ति अपनेमें उत्पन्न करना आर्थिक क्षेत्रमें समीकरणके तत्वका उदाहरण है। प्राचीन कालमें हिन्दू समाजका शूद्रादि वर्ग अपने कार्यमें सदा लगे रहनेके कारण वेद शिक्षा आदि कर्म करनेमें हीन बल होनेसे, जिन समाधि कारियोंने आत्मिक उन्नतिके लिये ब्राह्मणोंको वेदध्ययनादि करनेकी आवश्यकता दिखलाई उन्होंने शूद्रोंको केवल ईश्वर नाम स्मरण मात्रसे वही आत्मिक उन्नति का होना प्रतिपादन कर धार्मिक क्षेत्रमें समीकरण किया। यह धार्मिक क्षेत्रके समीकरणका उदाहरण है। गर्भ धारण, प्रसूति आदि शारीरिक क्लेशोंके कारण बलहीन स्त्रियोंको मातृत्वके अधिकारके द्वारा श्रेष्ठता देना कौटुम्बिक अथवा सामाजिक रचनाके समीकरणका उदाहरण है। एक समाजके उपविभागोंमें ही केवल समीकरण नहीं होता, किन्तु स्थिरताके लिये भिन्न भिन्न समाज और राष्ट्रोंमें भी समीकरण करना पड़ता है। हिन्दू समाजमें ऐहिक और भौतिक सुखोंके साधनोंकी कमीको दूर करनेके लिये पारलौकिक कल्पनाकी अधिकताकी गई है और इस प्रकार दोनो समाजों—हिन्दू समाज-और वह समाज जिसमें ऐहिक सुख साधनोंकी कमी नहीं है-की सुख भावनाओंका समीकरण किया गया है। यूरोपके राष्ट्रोंमें परस्पर युद्ध प्रसंग करनेके लिये उन्नीसवीं शताब्दिमें एक शक्ति साम्यका (Balance of Power) तत्व उपयोगमें लाया जाता था। और उन राष्ट्रोंके परस्पर प्रेम, सहानुभूति अथवा सामान्य

उद्देशसे जो जो वर्ग होते थे उनमें परस्परमें न्यूनाधिक बल न होने पावे इसका निरन्तर प्रयत्न किया जाता था। यदि एक वर्गमें दूसरा कोई नवीन राष्ट्र मिल जाता था, तो दूसरा वर्ग उसी शक्तिके दूसरे किसी राष्ट्रको अपनेमें मिलानेका प्रयत्न करता था। यदि एक राष्ट्र अपनी शक्ति बढ़ाता था तो दूसरा भी किसी न किसी तरह शक्ति बढ़ाकर समता कर लेता था। और इस पद्धतिसे यूरोपियन राष्ट्रोंकी राजनीति चलती थी।

यह स्थिति न केवल जिसे सामान्यतः वर्तमान काल कहते हैं उसीमें किन्तु बहुत प्राचीनकालमें भी इसी तत्वकी व्यापकता दिखलाई पड़ती है। समाजकी रचना किस किस प्रकार होती है इसका वर्णन आगेके प्रकरणमें किया गया है परन्तु यहां पर समाज रचनाकी उत्क्रान्तिके सम्बन्धमें वर्तमान मान्यताके अनुसार संक्षिप्तसे विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है। पहिले ही जंगली लोगोंमें जो कि परस्परमें स्थायी सम्बन्ध कभी नहीं करते-सब लोगों पर आनेवाले सामान्य संकटके कारण एक्य करनेकी इच्छा होती है। इस इच्छाके पहिले वे लोग स्वतन्त्रतासे अपने अपने निजके लिये काम करते और समय व्यतीत करते हैं। ये ही लोग परस्परमें मिल कर सामान्य संकटके नाशके उपायोंका विचार करने लगते हैं। इस समय यदि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका विश्वास नहीं करे तो समाजके नाशके लिये सबोंकी शक्ति कभी नहीं मिल सकती अतः परस्परमें विश्वास कर वे लोग अपना एक मुखिया बनाते हैं। और फिर उसके नेतृत्वमें संकटको दूर करनेकी तैयारी करते हैं। उस अगुआ या मुखियाको अपने अनुयायियोंके परस्पर झगड़े तोड़नेकी सत्ता प्राप्त होती है और उस सत्ताके बल पर वह अप्रमाणिक एवं दुष्ट लोगोंका शासन करता है। इस तरह उन लोगोंमें एक प्रकारका स्थूल दृष्टिका न्यायालय स्थापित हो जाता है। और वह पहिली स्थिति-जिसमें उद्दण्डता ही अधिकार निर्णयका मार्ग होता है नष्ट हो कर नवी परिस्थिति-उत्पन्न होती है जिसके द्वारा दूसरोंके अधिकारोंके प्रति मान और अपने कर्तव्यकी जानकारी रखनेवाली मनोवृत्तिका उद्गम हो जाता है। इसके बाद उस समाजको राजकीय स्वरूप प्राप्त होने लगता है और उसके कारण अधिकार विभाजित करनेकी आवश्यकता होती है। तब राजा, सेनापति प्रधान आदिकी व्यवस्था होती है और अधिकारका पृथक्करण किया जाता है। फिर राजा न्यायाधीशोंकी सलाहसे अथवा स्वयं न्यायालयमें

अधिष्ठित हो कर प्रजाके झगड़ोंका निर्णय करता है; परन्तु राज्य विस्तार, लोक संख्याकी वृद्धि, जीते हुए राष्ट्रका मूल राष्ट्रमें समावेश आदि कारणोंसे एक व्यक्तिके द्वारा न्याय कार्य होना कठिन हो जाता है। अतः भिन्न भिन्न स्थानोंमें न्यायालय स्थापित किये जाते हैं। कानून अधिक बनते हैं और एकीकरण हो जानेके कारण सब लोग उन्हें समझने लगते हैं। तथा प्रत्येक मनुष्यको अपने हक और कर्तव्योंका पूरा पूरा ज्ञान होनेसे उन कानूनोंके पालन करनेके साधन सुलभ हो जाते हैं। अन्तमें सबसे सुधरी हुई स्थिति प्राप्त होती है जिसमें कानून बनानेका अधिकार भी लोक प्रतिनिधियोंको मिलता है जिसके द्वारा सर्व सम्मत कानूनोंकी रचना होती है और सबोंकी साम्य स्थिति करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार समाजकी क्रमशः सत्कृति बढ़ते बढ़ते उसे श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त होती है।

इस उत्क्रान्तिका सूक्ष्म अवलोकन करनेसे विदित होगा कि इसकी प्रत्येक सीढ़ी पर समीकरणका तत्व कार्य कर रहा है। वन्यस्थितिमें लोग अपनी न्यूनाधिक शक्तिके अनुसार झगड़ोंको मिटाते हैं; परन्तु जब वे इस स्थितिसे बढ़कर ऊपरकी स्थितिको आते हैं तब अपना मुखिया नियत कर उसके द्वारा झगड़ोंका निर्णय होता है और कम शक्तिकी व्यक्तिको मुखियाकी सहायता मिल जाती है और इस प्रकार अधिक बलके प्रति-पक्षीकी शक्तिका समीकरण हो जाता है। जिससे पहलेकी अपेक्षा समाजमें झगड़े कम होने लगते हैं और समाजमें स्थिरता उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार पहिलेकी परिस्थिति जिसमें भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको अपनी ही शक्तिका आश्रय रहता है नष्ट हो जाती है और नेताकी शक्तिके बलसे न्याय, अन्यायकी कल्पनाका समीकरण होकर नवीन उत्तम परिस्थितिमें, उसके अन्य प्राप्त सामर्थ्य व एक ढंगसे चलनेवाली व्यावहारिक नियमितता आदिकी कमी हो जाती है और उस परिस्थितिका न्यायके निश्चय एवं प्रजाधिकारके अबाधित रखनेकी श्रेष्ठ कल्पनासे समीकरण होता है। जिससे समाज अधिक प्रगति पर हो जाता है। इसके बादकी स्थितिमें न्याय प्राप्त होनेकी अधिक सुगमता उत्पन्न होती है और समाजमें वैयक्तिक स्वतंत्रताको कानून द्वारा दिया हुआ निश्चित रूप प्राप्त होता है। अन्तकी स्थितिमें स्वतःके ही हाथोंमें कानून बनानेकी सामर्थ्य आ जानेसे समाजके दुर्बल लोगोंकी शक्तिका पलड़ा भारी हो जाता है। और इस प्रकार सुधारणाके साध्य स्वरूप व्यक्तिके उत्कर्ष व बंध विमोचनका-सहा-

चक उदात्त कल्पनाओंसे सामाजिक परिस्थितिका—समीकरण हो जाता है जिसके फलस्वरूप समाज, सुधारणाके शिखर पर आरूढ़ हो जाता है।

यह समीकरणकी क्रिया न केवल एक ही प्रकारकी समाजोंमें होती है किन्तु भिन्न भिन्न जातीय अथवा अनेक प्रकारकी समाजोंमें भी इस तत्वका परिणाम हुआ करता है। किसी भी कारणसे भिन्न वर्गीय लोगोंके एकत्रित होनेपर उनमें परिस्थितिके अनुरोधसे तीव्र भेद पड़ जाते हैं। धर्म भिन्नता, आचार भिन्नता, भाषा भिन्नता एवं इतिहास भिन्नता आदिके कारणोंसे दोनोंके अन्तःकरणमें उच्च नीच भावोंकी तीव्रता अतिशय प्रखर रूपसे होती है। ऐसी स्थितिमें बिना दोनोंकी भौतिक परिस्थितिमें समता उत्पन्न किये दोनोंका मेल अथवा साम्य भाव होकर उन्नति होना असम्भव होजाता है। जिस समय रोमन साम्राज्यमें पीछे हुए प्रदेश शामिल किये गये उस समय रोमन लोगोंमें और उन नवीन लोगोंमें अत्यन्त भिन्नता थी। रोमन लोगोंने उन्हें गुलाम बनाकर और उन्हें अत्यन्त हीन श्रेणीके मान कर अपनी और उनकी कल्पनाओंमें मत भेदका एक महा सागरही निर्माण कर दिया था। रोमन लोग अपने शरीरको पवित्र और दूसरेके शरीरको अपवित्र समझते थे तथा मनुष्य जातिके संपूर्ण अधिकारके ठेकेदार अपने आपको मानते थे और विजित मनुष्योंकी कुत्ते-कीसी दशा कर दी थी। उन लोगोंमें शक्ति, संपत्ति, शिक्षा, ऐक्यता आदि न होनेसे रोमन उन्हें जैसा नचाते थे वैसा वे नाचते थे। उनके प्रतीकार करने योग्य सामर्थ्य उनमें नहीं थी और न नैतिक कल्पना ही का बल था जिससे वे जेताओंको दबा सकें। अतएव इस विषम परिस्थितिके रहने तक उन लोगोंकी प्रगति न हो सकी। परन्तु जब साम्राज्यकी आधीनतामें रहकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, संपत्तिका उपार्जन किया और शौर्य तथा स्वार्थत्यागके कृत्यो द्वारा जेता लोगोंको अपनेमें इन गुणोंका अस्तित्व है यह विश्वास दिला दिया तब परिस्थितिका समीकरण हुआ। उनका दर्जा साम्राज्यमें बढ़गया और कालान्तरमें वे नवीन लोग भी रोमन लोगोंके ही वर्गमें शामिल हो गये। ग्रीस देशमें भी यही हालत थी। वहांके खास निवासियोंको नागरिक और उनसे भिन्न लोगोंको Helot अथवा गुलाम कहते थे। स्पार्टन लोगोंमें श्रेष्ठ नीति मत्ताके कारण मद्य प्राशनका व्यसन लज्जास्पद माना जाता था और पूर्वोक्त Helot दास लोगोंका यह एक सर्व साधारण व्यसन था। हिन्दुस्तानमें भी जब आर्य लोग आये तब उन्होंने अपने श्रेष्ठ पराक्रम और बुद्धिमत्ताके गुणोंके कारण बहुत

हिंदुस्तानकी भूमि क्रमश: जीतली और संपत्ति ऐश्वर्य, अधिकार, विद्वत्ता से युक्त अपनी परिस्थिति बना ली। इनकी परिस्थितिकी समानता करने पर जिन लोगोंकी परिस्थिति न होनेके कारण कुछ समय तक वे लोग भी उन्नति न कर सके। परन्तु फिर धीरे धीरे आर्योंका और यहाँके मूल निवासियोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे आर्योंकी श्रेष्ठता कम होने लगी और यह लोगोंके हिस्सेमें आई तथा उन्होंने आर्योंकी संगतिसे विद्या प्राप्त की, उद्योग धंदोंके द्वारा आर्थिक स्थिति भी सुधार की और इस प्रकार उनका भेद नष्ट हो कर वे क्रमश: एक रूप बनते गये। अमेरिकामें गोरे और नीग्रोमें परिस्थितिकी दृष्टिसे जमीन आसमानका अन्तर था और अब भी है। परन्तु 'अमेरिकन सिव्हिल वार' के द्वारा उन्हें स्वातंत्र्य दान किया गया। अधिकारके सर्व मार्ग उनके लिये भी खोल दिये। उनके लिये शिक्षा संस्थाएं स्थापित हुईं जिनसे बौद्धिक परिस्थितिमें क्रान्ति हो सकी। स्वतंत्र उद्योग करनेकी छूट हो जानेसे अपने एड़ीसे सिर तकके खूनको पसीना करके कमाई हुई संपत्ति उन्हींके पास रहने लगी अत: वे मालदार होने लगे और इस प्रकार सांपत्तिक स्थिति सुधरी। कानूनोंसे काले गोरेका अन्तर निकाल डालनेसे उन्हें अपने कर्त्तव्योंका ज्ञान होने लगा। और जिस प्रकार राक्षसकी लकड़ी फिरानेसे जगत्‌के उलटने पलटनेका भय होता है वही बात अमेरिकाके और निग्रोके सम्बन्धमें हुई। परिणाम यह हुआ कि निग्रो लोगोंकी नीतिमत्ता और उनकी धर्म कल्पनाके परिणामका झुकाव निग्रो लोगोंकी प्रगतिकी ओर होगया। यद्यपि आज तक उन्हें पूर्ण साम्य स्थिति प्राप्त नहीं हुई है तोभी परिस्थितिका समीकरण युद्ध और उसके बादके कायदोंके कारण होनेसे उनका समाज, संस्कृतिकी ओर जाने लगा है। समीकरण-त्मक तत्त्वके सम्बन्धमें इतिहासके उक्त उदाहरण अपूर्व और मननीय हैं।

यह समी-करण एक प्रकारसे आपसका समझौता है जिस प्रकार दो पक्षों-में समझौता होते समय दोनोंको 'स्वार्थ, परार्थ,' की नीतिके अनुसार कुछ न कुछ छोड़ना पड़ता है और इस प्रकार दोनोंकी परिस्थितिका समीकरण करना पड़ता है उसी प्रकार जगत्‌में भी नैतिक तत्त्व और परिस्थितिका समीकरण होते समय परिस्थितिको अपनेमेंसे केवल स्वार्थ दृष्टि कुछ कम करना पड़ती है। और नैतिक तत्त्वोंको कुछ ढीला होना पड़ता है। परिस्थितिके मूलोंकसे नैतिक श्रेष्ठताके स्वर्गमें आनेको एक दम छलांग नहीं मारी जा सकती। एक-

मंड बर्क नामक राजनीतिज्ञने भी ऊपर कहे मुताबिक ही जगत्की सुस्थिति का कार्य समीकरण अथवा समझौतेके तत्व पर ही अवलंबित बतलाया है। वह कहता है कि "यह कहना कि किसी भी राजनैतिक अथवा स्वतंत्रताके तत्वकी अंतिम सीमातक मनुष्य जाति एक दम पहुंच सकती है, भ्रम पूर्ण है। संपूर्ण देशोंकी राज्यव्यवस्था, यहाँ तक कि सर्व सद्गुण, मानव जातिकी सुख स्थिति और सुखोपभोग भी समझौता या लेन देनके तत्व पर चलते हैं। अपन एक दूसरेकी न्यूनताका समी-करण करते रहते हैं।"*

इस प्रकार परिस्थितिके समीकरणसे परिस्थिति सुधरती है और यह समाजको श्रेष्ठ तत्वोंके ग्रहण करने योग्य पात्र बनाती है। व्यक्तिके उत्कर्ष-रूप श्रेष्ठ साध्यको प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिपर सामाजिक नीति शास्त्रका प्रभाव पड़ता है और सुधारणाके मार्गमें आनेवाली व्यक्तिका परिस्थिति विषमता करती है अतएव उसका समीकरण करनेसे ही अंत में इष्ट स्थिति प्राप्त होती है। यह सत्कृति शास्त्रकी चतुःसूत्री है। इस सूत्रीके अनुरोधसे मानवीय व्यवहार किस प्रकार चलना चाहिये इसका वर्णन आगेके परिच्छे-दमें किया जायगा।



---

* It is a very great mistake to imagine that mankind follow up practically any speculative principle either of government or of freedom so far as it will go in argument and logical equation All government, every human benefit and enjoyment every virtue and prudent act are founded on compromise and barter. We balance inconvinienences.

तृतीय परिच्छेद.

विषय विवेचन.



प्रकरण पहिला.

समाज रचना.



मानवीय व्यवहारोंका क्षेत्र समाज है। मनुष्यके संपूर्ण उद्योग समाजके रूपसे संकाचेत तोर पर दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिये मनुष्यके वैयक्तिक कृत्योंके वेग समाजमें व्यक्त होते हैं। मनुष्यके परस्परके सम्बन्धों, सृष्टिके बाह्यतत्वके साथ के सम्बन्धों एवं समाज धारणाके लिए आवश्यकीय राष्ट्रीय अधिकारके भेदकी अपेक्षासे दूसरे मनुष्योंके साथके संबन्धोंका विचार समाजकी संस्कृतिकी चिकित्सामें करना पड़ता है। क्योंकि ये मानवीय व्यवहारके दृश्य स्वरूप हैं। इनमें जो अन्तर होता रहता है वह ऊपर ठहराये हुए सुधारणाके नियमोंके अनुसार होता है या नहीं इसकी परीक्षा अपनेको अवश्य करते रहना उचित है। इसी परीक्षाके द्वारा उपपत्ति रूपसे जाने हुए तत्वोंका वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। इसलिये सुधारणाके तत्वोंके अनुसार प्रथमतः इस प्रकरणमें इसका विचार करेंगे कि समाजकी रचना किस प्रकारकी होना चाहिये। संभव है कि जगत्के प्रारंभकालमें सब मनुष्य समान अधिकारोका उपभोग करते रहे हों; परंतु इतिहासमें इसका कोई उल्लेख नहीं है। इतिहासमे जो प्रमाण मिलते हैं उनपरसे तो यही निश्चित होता है कि प्राचीनकालसे ही उच्च नीच भावकी कल्पना, फिर चाहे वह किसी तत्वपर क्यों न उठाई गई हो, मौजूद है। कहीं इस कल्पनाकी जड़में सांपत्तिक तत्व मिलता है और कहीं धार्मिक। ऐसी दशामें यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या यह उच्च नीच भाव अपरिहार्य हैं?। यदि अपरिहार्य हैं तो किस तत्व पर उनका होना प्रभाव दूसरे तत्वके श्रेयस्कर है और

अपरिहार्य नहीं है तो उसे नष्ट किस मार्गसे करना उचित है और अंतमे समाजकी सर्वोत्कृष्ट-स्थिति किस प्रकारकी होना चाहिये ?

समाजरचना, समाजशास्त्रका एक अंग है। पाश्चात्य राष्ट्रोंमे कुछ समय पहिले तक भी समाजशास्त्रको सुसंगतता प्राप्त नहीं हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दिमें आगस्ट कोंट नामक फ्रेंचतत्वज्ञने समाजकी विस्तृत व्याप्तिका संकलित स्वरूप ध्यानमें लेकर इस विषय पर पहले ही पहले 'पाजिटिव्ह फिलासफी' नामके अपने ग्रंथमें विवेचन किया है। इसके पहिले तर्कशास्त्रकी पद्धतिसे समाजकी चिकित्सा किसीने नहीं की थी। सोशियालॉजी अर्थात् 'समाजशास्त्र' यह शब्द ही पहिले पहिल कोंटने प्रकाशित किया। इस विद्वानने अपने मूल ग्रंथकी आवृत्तिके चौथे खंडमें १८२ वें पृष्ठ पर इस शब्दका इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है कि " मनुष्यसमाजकी गति स्थितिके आद्य-तत्वके एकीकरणका एक शब्दसे उल्लेख करनेके लिये और भौतिक ज्ञानकी सहायतासे जिस शास्त्रके द्वारा समाजकी चिकित्सा की जा सके उस शास्त्रके उल्लेखके लिये मैंने पहिले पहिल " समाजशास्त्र " शब्दका उपयोग किया है "।

कोंटके साथ. समकालीन विद्वान जोन्स स्टुअर्ट मिल नामक अंगरेज ग्रन्थकारको समाजका शास्त्रीय दृष्टिसे अध्ययन करनेकी कल्पना उत्पन्न हुई थी और उसने इस विषयपर परिश्रम किया था। और वह इस शास्त्रके लिये कोई उपयुक्त नाम ढूंढना चाहता था। परन्तु उसे कोई एक शब्द नहीं मिला। इस कारणसे अथवा अन्य कारणसे उसने 'सोशल एकानामी'—सामाजिक अर्थशास्त्र" शब्दका व्यवहार किया। इस शब्दसे व्यापक अर्थका बोध नहीं होता। किन्तु यह एक विवक्षित विषयके एक देशका ही बोधक है। इसकी अपेक्षा कोंटका शब्द अधिक व्यापक था। अतः यही शब्द—इस शास्त्रका व्यापक शब्द बन बैठा।

समाज शास्त्रकी व्याप्ति बहुत व्यापक है। भला मानवीय समाजके व्यापारमें किस भावका अंतरंग भाव नहीं होता ?। धर्म, राजनीति, समाजरचना, नीतिशास्त्र, अर्थ शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि विषय मानवीय बुद्धिके अथवा कर्तृत्वके परिणाम होनेके कारण इन सब शास्त्रोंका अंतर्भाव समाज शास्त्रमें हो सकता है। इन सब शास्त्रोंके परस्पर सम्बन्धको एवं इन शास्त्रोंके उत्कर्षापकर्षसे मानवीय जातिके रचनात्मक स्थित्यंतरोंको देखनेका काम समाज- । है। इस लिये समाज शास्त्र उक्त शास्त्रोंसे भिन्न न होकर उनके एकी-

करणका ही यह पर्यायवाची—समाजशास्त्र—नाम है । फेमरबँक्स नामक ग्रंथकारने भी इस शास्त्रका उपलक्षण अपने "समाज शास्त्रकी प्रस्तावना" नामक ग्रंथमें इसी प्रकार दिया है । *

लेस्टर वार्डने भी यही बात कही है कि "जिस प्रकार सृष्ट पदार्थोंका वर्गीकरण करते समय सामान्य बातोंमें विशेषोंका अन्तर्भाव हो जाता है उसी प्रकार समाज शास्त्रमें भी ज्ञानके स्वतंत्र शास्त्र रूपी अनेक विशेषों-का अंतर्भाव हो जाता है ।" कॉंट और मिलके बाद इस विषयको ऊँचा उठानेवाले हर्बर्ट स्पेन्सर थे । इन्होंने अपने "समाज शास्त्रके मूल तत्त्व" नामक ग्रंथमें स्पष्ट कहा है कि "मनुष्यकी सर्वांगीन शक्तिकी चिकित्सा करनेवाला शास्त्र ही समाज शास्त्र है । ×

इस दृष्टिसे समाज शास्त्रका अवलोकन करने पर, वह मनुष्य जातिके सार्वत्रिक व्यवहारका मुख्य स्थान प्रतीत होता है । उत्क्रान्ति शास्त्रका सिद्धा-

---

* Economy, Politics, and a series of so called comparitive sciences deal, each with a particular class of social phenomena, while we have to discover the relation of these different classes for one people and one age and examine the development of a people from age to age Sociology defined as a science of social phenomena includes all these sciences. so this general use of the term, it is not a distinct science but rather the name for a body of knowledge including several sciences.

"Arthur Fairbank's Introduction to sociology" Intro. chap II

× We may regard sociology as one of the great orders of cosmical phenomena under which we may range the next most general, departments as so many genera, each with its appropriate species.

Lester Ward's " outlines of Sociology"

ग्य है कि समुदाय रूपसे मानव समाज अपकर्षसे उत्कर्षकी ओर जाता है अथवा उसकी सुधारणा और उन्नति हो रही है। यदि इस नीच स्थितिसे उच्च स्थितिकी ओर जानेकी प्रक्रियाको सुधारणा कहा जाय तो समाजके गति-शास्त्रको सुधारणा कहना चाहिये। और इस लिये समाजशास्त्र तथा सुधारणा—इन दोनोंका मानवीय समाज ही एक अधिष्ठान ठहरता है। समाजकी स्थिति समझ कर उसकी विवेचना करना समाजशास्त्रका विषय है और वह—मानव समाज—अपनी इष्ट साध्य स्थितिकी ओर जा रहा है, इस कल्पनासे उसकी गतिकी चिकित्सा करने वाली पद्धतिको सुधारणा कहना चाहिये। इन दोनोंका मूलाधार एक ही है। सूर्य, चन्द्र, मंगल आदि ग्रहोंकी रचना, घटना, प्रकाश, उष्णता, महत्व, गति आदिका वर्णन गणित ज्योतिषमें किया जाता है और ग्रहोंकी गति अवस्थामें उनका पृथ्वी पर अथवा प्राणियों पर जो इष्टानिष्ट परिणाम होते हैं उसका वर्णन फलित ज्योतिष करता है परन्तु इन दोनों शास्त्रोंका अधिकरण एक ही ग्रह गोल है। उसी प्रकार समाज शास्त्र तथा सुधारणा शास्त्र इन दोनोंका अधिकरण मानव समाज है।

इस प्रकार मनुष्य जातिको समाज शास्त्रमें मुख्य स्थान माननेसे उस-शास्त्रके अभ्यासके समय दूसरे शास्त्रोंका किस प्रकारका सम्बन्ध होता है इसका यहीं विचार करना उचित होगा। मनुष्य प्राणी किस विशिष्ट प्रकारका प्राणी है इसका सविस्तार वर्णन करनेवाले मानव जाति वर्णन शास्त्र (ethnography) का सम्बन्ध होता है। फिर मनुष्य जातिके शारीरिक चिन्ह आकार, गठन, स्वरूप आदिके भेदोंसे मनुष्यकी कौन कौनसी और कितनी मुख्य शाखाएँ हैं इसका विवेचन करनेवाले मानव जाति विभेद शास्त्र' (ethnology) सम्बन्धमें आता है। इसके पश्चात् विशिष्ट शरीर-रचना सूक्ष्म वर्णन करनेवाले शरीर शास्त्र (Physiology), गत कालके-शिल्प शास्त्रादि पर प्रकाश डालनेवाले "पुरातत्व शास्त्र" (archaeology) मनुष्य द्वारा किये हुए राष्ट्रीय कृत्योंको दिखानेवाले इतिहास शास्त्र, मनुष्योंकी व्यक्ति विषयक मनोरचनाका वर्णन करनेवाले 'मानस शास्त्र' (Psychology) और उसकी—मानव समाजकी—अतीन्द्रिय कल्पना शक्तिपर प्रकाश डालनेवाले धर्म शास्त्र और तत्वज्ञान सम्बन्धमें आते हैं। और अंतमें मानव जातिके समूहके ऊँच, नीच, व्यापार आदि कल्पनाओंके कारण जो भेदोपभेद होते हैं उसका ज्ञान समाज रचना शास्त्र कराता है।

इस पद्धतिसे एक विषयके स्थूल अध्ययनका प्रारंभ करने पर उसके अंगो-पांगके अनुरोधसे भिन्न भिन्न शास्त्र उदयमें आते हैं। इनमेंसे कुछ शास्त्रोंका स्वतंत्र रूपसे और कुछ का सामुदायिक रूपसे इस ग्रंथमें विवेचन किया गया है। इस भागमें केवल समाज रचनाका अपनेको विचार करना है। किसी भी समाजको देखने पर उसमें भिन्न भिन्न वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। इन वर्गोंके व्यक्तियोंका परस्पर सम्बन्ध किस पद्धतिसे होता है और वह किस प्रकार होना उचित है, इसका विचार इस भागमें करना है। इस दृष्टिसे समाज रचना शास्त्र समाज शास्त्रका एक अंग होने पर भी विवक्षित विषयका विवेचन करनेवाला होनेके कारण वह भिन्न भी कहा जा सकता है।*

जगत्के आरम्भ कालसे लेकर आजतककी किसी भी समाजको देखने पर यह विदित होगा कि उसमें किसी न किसी कारणसे उच्चनीच भेद उत्पन्न हुए हैं और विषमता उत्पन्न हो गई है। आज कलकी खोजसे सिद्ध हुआ है कि सब समाजोंमें अत्यंत प्राचीन समाज हिन्दुस्तानकी आर्य लोगोंकी वेद कालीन समाज है। इस समाजमें आर्य और दस्युका भेद और फिर पुरुष सूक्तमें कहे अनुसार चातुर्वर्ण्य पद्धतिका अस्तित्व हमारे उक्त कथनका साक्षी है। इसका विवेचन आगे किया ही जायगा। इसके सिवाय ईजिप्ट अथवा मिश्र, खाल्डिया वगैरह देशोंमें धर्माध्यक्ष—पुरोहितोंका वर्ग, राजन्यों-क्षत्रियोंका वर्ग, तथा इतर वर्ग, ग्रीस रोम आदि देशोंमें अभिजन वर्ग और गुलाम वर्ग और इंग्लैंड सरीखे देशोंमें सरदार और साधारण वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। जापानमें सामुराई—क्षत्रिय वर्ग सब दूसरे वर्गोंसे भिन्न माना जाता है। सारांश यह है कि किसी भी देश और किसी भी कालमें पूर्वोक्त प्रकारके भेदोपभेद अवश्य दिखलाई पड़ते हैं फिर चाहे उनकी उत्पत्ति किन्हीं कारणोंसे हुई हो। मुख्य विचारणीय यह है कि ये भेदोपभेद स्वाभाविक हैं या नहीं। क्योंकि यदि स्वाभाविक और अपरिहार्य नहीं हैं तो यह सिद्ध है कि इन्हें नष्ट कर देनेसे ही समाजकी सुधारणा होगी यदि ये स्वाभाविक और अपरि-

---

* Sociology besides the Adjectival Name sociological has a shorter one viz. Social, which conveys a different idea.........

Ward's " Outlines of Sociology".

हार्य हैं तो इनकी स्थापना योग्य तत्वोंपर होनेसे ही सुधारणा हो सकेगी। इन दो विचार सरणियोंके कारण समाज रचना वादियोंमें भी दो भेद हैं। जिनमेसे एक भेद तो सामाजिक वर्गोंको आवश्यक और इष्ट मानता है और दूसरा भेद इसके विरुद्ध है। इन दोनों पक्षवालोंके कहने पर आगे विचार किया जायगा।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि आगस्ट कंटके पहिले संपूर्ण मानव समाजका सामुदायिक एकत्व नहीं माना जाता था। जिस प्रकार अनेक पक्षियोंका समूह सामाजिक सम्बन्धोसे नियमित नहीं हो सकता उसी प्रकार पहिले मानव समाजकी भी स्थिति समझी जाती थी परन्तु विवेचक ऑगस्ट कंटने पहिले पहिल मानव समाजके सम्बन्धमें यह कल्पना निश्चित कर कि यह समाज यंत्र रचनाके समान अथवा प्राण विशिष्ट देहधारी प्राणीके समान परस्पर सम्बन्द्ध है उसने अपनी मानव समाजकी उत्पत्तिकी इमारत खड़ी की। कंटका जन्म सन् १७९८ मे जनवरीकी १९ वीं तारीखको फ्रांसके मोंट पेलियर नामक ग्राममें हुआ। अभ्यास क्रममें इसने गणित और भौतिक शास्त्रका अध्ययन उत्कृष्ट रीतिसे किया था। इसकी आजीविका स्कूल रीतिसे शिक्षकका कार्य करनेसे चलती थी। ऊपर कहे अनुसार इसे मनुष्य एकत्व पर विचार करनेकी कल्पना हुई तब फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिके पहिलेके जिन जिन ग्रंथकारोंने समाजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कल्पना और मार्गोंका अपने ग्रंथोंमें वर्णन किया था इसने उन सबका मनन किया। उनमें कंडार्से नामक ग्रंथकारके लेखोंमें कंटको यह कल्पना अव्यक्त रूपसे पहिले पहिल मिली कि मानवीय समाज सामुदायिक व्यक्तिके समान है। और उसकी प्रवृत्ति प्रगमन शील है।" इसी कल्पनाको फैला कर इसका रूपकरण पूर्वक वर्णन कॅटने अपने "पाजिटिव फिलासफी" नामकग्रंथमें किया है। इसने मनुष्य समाजकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें लिखा है कि वह सृष्ट पदार्थोंमें सबसे श्रेष्ठ और उदात्त है तथा संपूर्ण मनुष्यके पूजने एवं सेवा करनेके योग्य है। यहां पर यह कह देना उचित होगा कि कंट निरीश्वरवादी था। उसे यह पूर्ण विश्वास था कि जगत्का नियंता कोई नहीं है। इस विषयका विवेचन आगेके धर्मविषयक प्रकरणमें हम भी करेंगे। परन्तु परमेश्वरके अस्तित्वको न मानकर उसके स्थान पर वह मानवीय समाजको मानता था, यह जान लेनेसे यह बात समझमें आजायगी कि वह मनुष्य समाजको क्यों पूजनीय

मानता था। मनुष्यकी बुद्धि प्रगति-पर होती है और श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त कर-
नेकी ओर उसका सदा प्रयत्न रहता है। उसका श्रेष्ठ स्थितिके आदर्शरूपसे
कोई प्रेरक पदार्थ अवश्य होता है। आस्तिक लोगोंकी दृष्टिमें वह पदार्थ
परमेश्वर है। परन्तु कोंट यह बात नहीं मानता। उसने इस स्थानके योग्य मानव
समाज ही को माना है। उसने कार्याकार्यके सम्बन्धमें यह ठहराया है कि
समाजकी शुद्ध अंतःकरण पूर्वक सेवा करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ
कर्तव्य है। उसकी इस मानवी समाज अथवा जनता (Humanity)
रूपी देवताकी कल्पनाका सूक्ष्म रीतिसे अवलोकन करना उचित होगा।
किसी भी प्राणीकी शरीर रचनाका विचार करने पर यह मालूम होता है कि
उसके अनेक अवयव व भाग हैं। और उन अवयवों अथवा भागोंको विशेष
विशेष कार्य करना पड़ते हैं। इस कार्य कर्तृत्वकी दृष्टिसे उनमें परस्पर भेद
भी होता है। परन्तु प्रत्येक भाग अपने नियत कार्यको केवल स्वतःके व्यक्ति-
गत हितके लिये नहीं करता किन्तु शरीर धारणाके मुख्य कार्यके लिये ही
करता है। इसी प्रकार मानव समाजरूपी देहके अवयव भी अपने नियत
कार्य अखिल समाजकी धारणाके लिये करते हैं। इस कार्य भेदकी अपेक्षा
कोंटने समाजके चार मुख्य भाग किये हैं। इन चारों भागोंका वर्णन उसीके
शब्दोंमें सारांश रूपसे यहां किया जाता है।

"इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजरूपी देवताकी प्रतिष्ठा कर देनेसे
सम्पूर्ण मानव जाति पर निःसीम प्रेम करना और उसकी अहर्निश सेवा
करना ही मनुष्यका सर्व श्रेष्ठ कर्तव्य ठहरता है। प्रत्येक मनुष्यमें स्वार्थकी
भावनाएं वास करती हैं। इन भावनाओंका नाश कर उनके स्थान पर
समाज सेवा रूपी तत्वकी दृढ स्थापनाका कार्य अत्यन्त परिश्रम और उत्तम
शिक्षणसे ही साध्य हो सकता है। यह सेवा रूपी तत्वकी स्थापनाका कार्य
सबमें समान रीतिसे नहीं हो सकता क्योंकि सबकी मानसिक और नैतिक
स्थिति समान नहीं होती। जिन थोड़ेसे लोगोंकी मानसिक और नैतिक
उन्नति हो चुकी है, जो सत्य शोधनार्थ स्वार्थ और ऐहिक बातोंका त्याग कर
सकते हैं उन्हें एक प्रकारसे ब्राह्मण अथवा पुरोहितका रूप प्राप्त होगा।"
अर्थात् भविष्यमें सत्य वेत्ता लोग मानव समाज रूपी धर्मके पुरोहित होंगे।
और उनके नैतिक व्यवहारकी शुद्धता पर समाजके संपूर्ण भागोंका योगक्षेम
निर्भर रहेगा। संसार और राज कार्योंसे पराङ्मुखता ही धार्मिक और नैतिक-

उन्नतिका मूल मंत्र है। व्यवहार और परमार्थ पूर्ण तया एक स्थान पर नहीं रह सकते इसलिये यह पुरोहित—वर्ग सत्य, शुद्ध, और पवित्र आचरणके आदर्श रूपसे, समाजका शिरोमणि एवं स्वतंत्र होना चाहिये। जगत्के सम्पूर्ण व्यवहार छोड़ देनेके कारण, सांसारिक सुखमें निमग्न रहने वालोंसे इनका अधिकार बहुत अधिक होता है। मनुष्य जातिको उन्नतिकी ओर ले जाने वाले कार्योंकी ये धुराके समान हैं। नैतिक शास्त्र, काव्य शास्त्र, नीति शास्त्र आदि शास्त्रोंका स्वत.के आचरणोंमें उपयोग कर ये लोग दूसरोंको अपने उदाहरणसे उपदेश करेंगे।"

"परमेश्वरके स्वरूप और अस्तित्वके सम्बन्धमें जो कल्पनाएँ सर्व मान्य हैं उन्हें एकत्रित करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वरका जगतमें प्रत्यक्ष कार्य कुछ नहीं होता। उसका निवास अंतरीक्षमें अथवा कल्पनीय एवं अगम्य स्थानमें माना जाता है। उसकी उत्कट भक्तिको कालान्तरमें विरक्तता एवं जगत्के विषयमें पराङ्मुखताका रूप प्राप्त हो जाता है। परन्तु मानव धर्मके पुरोहित, समाजके कल्याणके आकांक्षु होनेके कारण उन्हें व्यावहारिक कार्य ही करना पड़ेंगे। लोक शिक्षाका कार्य करनेके लिये इस पुरोहित वर्गका दूसरे वर्गोंसे बिलकुल पृथक और स्वतंत्र रहना उचित है। वर्ण संकर हो जानेसे उनका स्वातन्त्र्य और नैतिक उन्नति स्थायी नहीं रह सकेगी। वर्णोंकी परस्पर भिन्नता ही उनकी शुद्धताकी जड़ है।

"तात्त्विक कल्पना और उनके उपयोग करनेवाले व्यवहारका अधिष्ठान सदा भिन्न ही रहना उचित है। जगत्के नित्य व्यवहारोंको देखनेसे श्रेष्ठ कल्पना और कृतिमें सदा अंतर ही दिखलाई पड़ता है। उत्तम इमारत बनानेवाला शिल्पज्ञ कभी मजदूरीका काम नहीं कर सकता। यदि उससे मजदूरी कराई जायगी तो उसकी कल्पकताका नाश हो जायगा। कल्पना और कृतिमें, कल्पना कृतिका उद्गम स्थान है। अत.वह श्रेष्ठताकी पात्र है और इसी लिये तत्ववेत्ताओंका वर्ग स्वतंत्र ही रहना उचित है।—"

"संभव है कि उक्त कथन पर यह आक्षेप किया जाय कि इस प्रकार एक को विशेष अथवा व्यक्ति विशेषकी—बुद्धिके निश्चयके अनुसार चलना और उनकी अधिकारिता मान्य करना एक प्रकारसे अपने मन स्वातन्त्र्य पर तिलांजलि देना है। परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। विधिवाक्य अथवा

परंपरा प्राप्त नियमोंकी सर्वथा उपेक्षा कर देना इष्ट नहीं है। यदि कभी कुछ भी हुआ तो ऐसा करना शक्य नहीं है। अपनी बुद्धिके अनुसार किसीका भी उपदेश यदि वह नीति तत्त्वके विरुद्ध नहीं है तो वह अमुकका उपदेश होनेसे हम इसे नहीं मानेंगे ऐसा कहनेमें कुछ सार नहीं है। दीर्घ अनुभव, शुद्ध चारित्र्य और समाज संबंधी प्रेम, इन गुणोंके कारण विशिष्ट वर्ग सदा अनुकरणीय और श्रेष्ठ ही रहेगा।"

"इस प्रकार जगतके योग क्षेमका व नीति तत्त्वका भांडार पुरोहित वर्गके सिपुर्द कर देनेके पश्चात् अब व्यवहार और अर्थकी ओर देखना चाहिये। धन-द्रव्य-राष्ट्रका रक्त है। इसरक्तको राष्ट्र पुरुषके शरीरके एक भागसे दूसरे भागमें संक्रमण करनेवाली रक्त वाहिनी नाड़ियोंके समान व्यापारी वर्ग है। अनेक पीढ़ियोंके अनुभव और नित्य व्यवहारके अवलोकनके कारण द्रव्यका विनिमय योग्य रीतिसे करनेकी कला जाननेवाला श्रेष्ठवर्ग प्रजाके आर्थिक कल्याणका उपाय द्वार है। यह वर्ग समाजका दूसरा बड़ा वर्ग है। द्रव्यकी कामना मदिराकी लालसाके समान मनुष्यके लोभको अनिवार्य कर सकती है। अाए लोभके फंदेमें आकर यह व्यापारी वर्ग दूसरेको पीस सकता है। अतएव इसके स्वैर वर्तन पर नैतिक अधिकारका दबाव होना उचित है और इस दबावके लिये पुरोहित वर्गकी आवश्यकता है। इन दोनों वर्गके परस्पर प्रेमसे समाजमें सुख शान्ति और संपत्तिकी वृद्धि होगी।"

"समाजका शीर्ष स्थान पुरोहित वर्ग और हृदय स्थान व्यापारी वर्ग मान लेने पर ऐसे वर्गकी भी आवश्यकता है जो हाथ पांवके समान कार्य करे। यह वर्ग मजदूर वर्ग है। बिना इस वर्गके कोई कार्य नहीं हो सकता अतएव इस वर्गकी भी बहुत आवश्यकता है। समयके अभाव और द्रव्यकी कमीके कारण ये लोग राजसूत्र नहीं चला सकते और न अपूर्ण बुद्धिमत्ता तथा तात्त्विक कल्पनाओंके अभावके कारण यह वर्ग समाजका मार्गदर्शक हो सकता है। यह वर्ग सदा कार्य कर्ता ही रहेगा। इनका बल इनकी संख्या पर निर्भर है। इस दृष्टिसे बुद्धि सामर्थ्य युक्त पुरोहित वर्ग और धनबल युक्त श्रेष्ठि वर्गसे संबन्ध रखनेवाला यह तीसरा मजदूर वर्ग है।"

"समाजके मुख्य वर्गोंके उक्त प्रकारसे विभाग होते हैं "यद्यपि यह सत्य ठीक है कि सृष्टिके इतर प्राणी वर्गकी अपेक्षा मनुष्यकी श्रेष्ठता बुद्धि विषयमें है। परन्तु केवल बुद्धि बल ही पर मनुष्यके विचार सामर्थ्यकी इमा-

रस खड़ी हुई नहीं है । उसके साथ ही साथ मनो विकारोंकी भी उतनी ही प्रबलता होती है । दया, वात्सल्य, प्रेम, भक्ति आदि उत्तरोत्तर ऊपर ले जाने वाली सीढ़ियाँ मनो-रचनाके एक महत्व पूर्ण भागकी निदर्शक हैं । संसारमें इन मनो विकारोंका मुख्य स्थान ही जाति है । सबलोंने दुर्बलोंकी, धनियोंने गरीबोंकी और पुरुषोंने स्त्रियोंकी रक्षा करना, यह सृष्टिका नियम है । स्त्रीजाति स्वभावतया दुर्बल है । गर्भ धारण, प्रसूति, आदि शारीरिक आपत्तियोंका प्रसंग स्त्रियों पर बारंबार आनेके कारण तथा उनकी स्वाभाविक कोमलताके कारण उनके भरण पोषणका भार पुरुषोंको उठाना चाहिये । और उसके बदलेमें स्त्रियोंको गृह कृत्य में दक्ष रह कर पुरुष जातिके प्रेमको बढ़ाना चाहिए । यही दोनोंका उत्तम संबंध है । ”

आगस्ट कोंट कहता है कि यदि समाज रचना उक्त प्रकारकी होगी तो मानव समाजको अवश्य सुख प्राप्त होगा ।

समाज रचनाकी इस पद्धति पर विरुद्ध पक्षोंका बहुत कुछ आक्षेप है । इन पक्षोंका कहना है कि यह रचना चूक भरी हुई है । इस रचनाकी जड़में जो विचार सरणी है उसमें सृष्टिके दो मुख्य नियमोंका उल्लंघन किया गया है । और इस लिये सबकी सब विचार मालिका भ्रम पूर्ण हो गई है । कंट पहिले ही यह बात चूक गया है कि सब मनुष्य, प्राणी स्वभावके धर्मानुसार तत्वत एक समान हैं । महासागरके पृष्ठ पर उठने वाली असंख्य लहरें आकार प्रकारसे भिन्न दिखलाई देने पर भी तत्वत. समान हैं और यह भिन्न दिखलाई पड़नेवाला भेद गौण है । इसी प्रकार मानव समाजका घटक स्वरूप प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यके ही समान है । सब मनुष्योंके हृदय, उदर, फुप्फुस, अस्थि, मज्जा आदि सब समान होते हैं । इसी प्रकार मनो विकार और अंतः करण भी समान ही होते हैं । क्या ऐसा कोई विषय है जो शिक्षाके द्वारा मनुष्यप्राणी न सीख सके ? शिक्षासे और उसके अभावसे क्या मनुष्यप्राणी बड़ेकी ऊंच नीच स्थितिको प्राप्त नहीं हो सकता ? जब मनुष्य परिश्रमसे बड़ेका ज्ञान प्राप्त कर सकता है तब वह तत्वज्ञानका आकलन क्यों नहीं कर सकेगा । तत्वज्ञानमेंसे पारिभाषिक कठिनता निकाल देने पर उसके प्रमेय भी फिर कठिन नहीं रहेंगे । तथा मनुष्यजातिका व्यक्तिगत भेद समानताके मानसे बहुत क्षुल्लक है । ऐसी दशामें संपूर्ण मानवजातिको एक सचेतन शरीरकी उपमा देकर भिन्न भिन्न व्यक्ति समूहोंको उनके

भिन्न भिन्न भाग मानना और उनमें अवास्तविक तारतम्य उत्पन्न करना क्या अज्ञानका लक्षण नहीं है ?। प्राणी शरीरके भिन्न भिन्न अवयवोंका ऐसा कुछ अंतः संबंध होता है कि उनमेंसे किसी भी एक अवयवकी क्रियाका परिणाम दूसरे अवयवों पर भी होता है। और बहुत अंशोंमें मानवजातिकी भी यही दशा है। उसके भी एक भागकी क्रियाका परिणाम दूसरे पर प्रायः होता है। और इसीसे संभवतः मानव जातिको सचेतन शरीरकी उपमा देनेकी कल्पना सूझी होगी, परन्तु इसी एक कारणसे उसके भागोंका उच्चत्वनी-चत्व ठहराना पागलपन है। पृथ्वीके गोले पर पर्वतादि उच्च-उठे हुए प्रदेश और महासागरादि नीच-भीतरे प्रदेश होते हैं। परन्तु पृथ्वीकी परिधाके मापसे उसकी यह निम्नोन्नता उपेक्षणीय मानी जाती है और इसके कारण उसके गोलत्वको किसी प्रकार बाधा नहीं आती। उसी प्रकार मानवजातिकी समानतामें वर्णिक, शारीरिक आदि भेदोंसे किसी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती। इसके सिवाय मानव जातिको ऊपर दी हुई सजीव शरीरकी उपमा एक और दृष्टिसे भी भूल भरी हुई है वह यह कि शरीरकी रचना नियमित है। पांवोंपर कमर, कमर पर पेट, पेट पर छाती आदि उसके अवयव सब नियमित हैं इनमें अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार इन अवयवोंका कार्य भी नियमित है। जिस अवयवका जो कार्य्य है उसके सिवाय दूसरा अवयव वह कार्य्य नहीं कर सकता। पैरोंके द्वारा. भोजन नहीं खाया जा सकता। हाथसे चला नहीं जा सकता। परन्तु मनुष्य समाजकी प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा और अभ्याससे प्रत्येक कार्य कर सकती है। राजनीतिमें कुशल मनुष्य प्रसंग पड़नेपर शस्त्र धारण कर सकता है। और शिक्षाके द्वारा एक किसान लोक नायक बन सकता है। ऐसी दशामें व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहको विशेष जकड़ कर उसकी योग्यता और कर्तृत्व शक्तिको कुंठित करना, बंधनोंसे मनुष्य जातिकी उन्नति करनेके बजाय उसको अवनति करना है। जंगलीलोगों और धर्मांध हिन्दुओंकी स्थिति कोदेखो। उन्होंने ऐसे ही हानि कारक तत्त्व पर जाति भेदकी कल्पना प्रचलितकी जिसके कारण उनका समाज एक रुके हुए पानीके डबकेके समान गति रहित हो गया है। क्या प्लेट भी हिन्दु-ओंके अध-मार्गकी पुनरा वृत्ति करना चाहता है ?। यद्यपि प्लेटने सबको समान शिक्षा देने और अपनी इच्छा नुसार चाहे जिसवर्गमें शामिल होनेका सुभी-तारखा है तो भी वह जातिभेद प्रेमी- ही था और मनुष्य जातिके स्थूल

व सर्वव्यापी साधर्म्यकी अपेक्षा क्षुल्लक और संकुचित वैधर्म्यकी ओर ही उसकी दृष्टि अधिक थी। इसी लिये उसमें पड़े हुए कैदीके समान मनुष्य जातिको तीन प्रकारके वर्गोंकी तीन बड़ी २ कोठरियोंमें बदकर उसकी प्रगति रोकनेका श्रेय उसने प्राप्त किया। परन्तु हमको आशा करना चाहिये कि मनुष्य प्राणी इन कृत्रिम बंधनोंमें न फँस कर मन चाहे वृक्ष पर अपना घर बनानेकी स्वतंत्रता रखने वाले पक्षियोंके समान, स्वतंत्र रहेगा और यह आशा पूर्ण होनेका समय भी शीघ्र ही प्राप्त होगा।

प्लेटकी समाज रचनामें आक्षेपक पक्ष एक दूसरा दोष और बतलाता है। प्लेटके मतानुसार मनुष्य, धातु कल्पनाके अनुसार ही व्यवहार करनेवाला प्राणी है। उसमें स्वतः स्फूर्ति बिल्कुल नहीं है। ऊपर बतलाई हुई जाति वर्ण, कल्पना, यदि कोई राष्ट्र, समाजके श्रेष्ठ पुरुष अथवा बहुजन समाज स्वीकार भी करले तो भी यह मानना बड़ी भारी भूल होगी कि मनुष्य प्राणी उस धातु कल्पनाके अनुसार अपना व्यवहार रखेगा, उसे अपनी स्वतः—स्फूर्तिसे उसमें फर्क करनेकी इच्छा तक न होगी और उसकी दूसरी पीढ़ियां भी उसी मान्यताके अनुसार व्यवहार करती रहेंगी। मनुष्य स्वभावको इस प्रकार परतंत्र, निरिच्छ और निर्विकार मानना भूल नहीं तो क्या है?। पुरोहित वर्गके सब लोगोंके स्वसुख निरभिलाष अथवा विरक्त होने, धन सम्बद्ध वर्गके आगे पीछे सत्य मार्गसे च्युत न होने और मजदूर वर्गके परम गहन सेवाधर्मके सदा अनुयायी रहनेकी कल्पना मनुष्यके मनोविकार और महत्वाकांक्षाके अस्तित्व पर कुल्हाड़ीके समान है। मुर्गीको बेच कर बकरी और बकरीको बेच कर गाय, गायको बेच कर विवाह, विवाहके बाद बाल बच्चे आदिकी कल्पना करने वाले शेखचिल्लीके समान मनोराज्य उक्त उपपत्तिकी जड़में भी मौजूद है। एककी बुद्धिका निर्णय दूसरा मनुष्य पसंद करेगा यह कोई निश्चित नहीं है। जो बात अपने मनो विकारोंको प्रिय मालूम होती है उसे ही करनेकी ओर मनुष्यकी प्रवृत्ति रहती है। मनो विकारोंका प्राबल्य व्यवहार सिद्ध है। ऐसी दशामें कृत्रिम बंधनों युक्त समाज पद्धतिका स्वीकृत करना असंभवनीय है। अतएव उक्त दोषोंसे युक्त आगस्ट प्लेटकी समाज रचना अव्यवहार्य है।

आगस्ट प्लेटके तत्वपर किये हुए उक्त आक्षेपोंमें दो सिद्धान्त बतलाये गये है। पहिला तो यह कि मनुष्यजाति समान्यतः शरीर, मन, बुद्धि कर्तृत्व

आदि संपूर्ण दृष्टियोंसे समान है। और दूसरा यह कि मनुष्य, परंपरागत विचारों अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियोंके उपदेशकी अपेक्षा स्वतःके मनोविकारों पर ही अधिक अवलंबित रहता है। इन दोनों सिद्धान्तोंपर भी आधुनिक समाज शास्त्रज्ञोंने कुछ आक्षेप किया है। उनका भी विचार कर लेना उचित होगा।

आक्षेपकोंका कहना है कि.–यदि सुधरे हुए देशोंके इतिहास की सूक्ष्म दृष्टिसे परीक्षा की जाय तो मालूम होगा कि वहाँके प्रत्येक व्यवहारोंकी इमारत मनुष्य जातिकी विषमता पर खड़ी हुई है। जन्मसे प्राप्त होनेवाली श्रीमंती अथवा गरीबी उस विषमताका चिन्ह है। वंश परंपराकी जागीरपर अथवा राज्यकी गादी पर बड़े लड़केका हक होना, उस विषमताका और भी बड़ा चिन्ह है। किसी भी देशके लोगोंकी परकीय लोगोको नीच और अपनेको ऊंच समझनेकी बुद्धि होना भी असमानताका ही दर्शक है। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इतिहासमे भी ऐसे उदाहरणोंकी कमी नहीं हैं। इटलीके रोमन लोग ग्रीक लोगोको ग्रेक्युलस (Greeclus) छोटे ग्रीक ऐसे हीनत्वदर्शक नामसे संबोधित करते थे। और उन्हें डरपोक तथा वृथा बकवाद करनेवाले समझते थे। आर्यावर्तमें उत्तर ध्रुवसे आये हुए—आर्य-लोग—मूल निवासियोंको अनार्य, दस्यु आदि विशेषणोंसे उल्लिखित कर अपनेसे हीन समझते थे। इसी प्रकार यूरोपमें मध्य कालीन नार्मन राजा गण फ्रांसके मूल निवासियोंको तुच्छ दृष्टिसे हीन वर्ग मानते थे। सारांश यह कि मनुष्य जातिकी समानताके तात्त्विक सिद्धान्तके साथ ही साथ परिस्थितिके अनुरूप स्वभाव जन्य अंतरके कारण विषमताका तत्त्व दृढ़ होता गया है। अतएव इस प्रश्नपर शास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ विचार करेंगे।

* मनुष्य जातिका निरीक्षण करनेपर उसमें भिन्न भिन्न समूहके शरीरोंकी दृष्टिसे कुछ परस्पर भिन्न स्थूल वर्ग दिखलाई पड़ेंगे। साधारणतकी दृष्टिसे सबसे कनिष्ट वर्ग निग्रो अथवा कृष्ण वर्णके लोगोंका वर्ग है। इनका शिरो-भाग ठोढ़ीकी अपेक्षा बहुत पीछे रहता है। उनमें बुद्धि अथवा मानसिक शक्तिका प्रायः अभाव होता है। परन्तु इनके मनोविकार बहुत प्रबल और

---

* यह विवेचन 'काउंट आर्थर द गोबिनो' नामक फ्रेंच ग्रंथकारके The Inequality of Human Race मानव जातिकी विषमता' नामक ग्रंथके आधारसे प्रायः अक्षरशः किया जाता है।

भयंकर होते हैं। क्योंकि बुद्धि और नैतिक हीनतासे मनोविकारोंकी प्रबलताका दृढ़ संबंध है। ये लोग किसी भी वस्तुको अखाद्य नहीं समझते। जो गंध दूसरोंको असह्य होती है वह इन्हें अत्यन्त प्रिय होती है। इनके मनोविकार बुद्धिसे निर्णीत न होनेके कारण चंचल होते हैं। इन्हें प्राणोंकी पर्वाह नहीं होती। मरने और मारनेमें इन्हें कुछ भी गंभीरता नहीं मालूम होती। इस प्रकार इस वर्गमें शरीर रचना और तज्जन्य मन:सामर्थ्यकी विशेषता होती है।

इस वर्गके बाद पीतवर्णी मनुष्योंका वर्ग है इनका शिरोभाग उन निग्रो लोगोंसे बिलकुल विरुद्ध होता है। अर्थात् ठोडीकी अपेक्षा आगे झुका हुआ रहता है। इनका मस्तक चौड़ा और ऊंचा होता है। चेहरा तिकोना होता है। तथा इनका शरीर साधारण स्थूल हुआ करता है। इनके अंगमें उत्साह शक्ति कम होती है। ये लोग प्राय: आलसी हुआ करते हैं। इनकी इच्छा शक्ति भी दुर्बल होती है। और भौतिक सुखकी लालसा प्रसंग विशेष पर तीव्र होनेपर भी असमर्यादित नहीं होती। सृष्टिके पदार्थोंकी उपयोगिताकी ओर ही इस वर्गका झुकाव होता है। बुद्धि अधिक व्यावहारिक परन्तु मोटी, हुआ करती है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि सुस्वस्थता एवं चैनमें जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा इस वर्गके मनुष्योंमें अधिक होती है। किसी भी राष्ट्र अथवा समाजके मध्यम वर्गकी पात्रता इन पीत—वर्णी लोगोंमें होती है।

तीसरा वर्ण आर्य वर्ण है। इसमें बुद्धिकी प्रगल्भता, स्वतंत्र इच्छा शक्ति एवं विवेचनात्मक शक्ति होती है। इस वर्गके लोगोंमें पदार्थोंकी उपयोगिताके अनुसार ही पदार्थके सौंदर्यकी और दूसरे पदार्थोंकी तुलनासे उनकी श्रेष्ठता एवं हीनताकी कल्पना होती है। आत्म संरक्षणके साथ साथ परोपकार बुद्धि भी इनमें होती है। तथा किसी भी संकटकी पर्वाह न कर उससे निकलनेका मार्ग ढूंढ निकालनेका धैर्य, प्रसंगावधान और बुद्धि कौशल्य होता है। इनमें मानापमानकी कल्पना तीव्र रहती है। शारीरिक दृष्टिकी तुलनामें ये ऊपरके दोनों प्रकारके मनुष्योंसे श्रेष्ठ हैं। गौर वर्ण, उच्च-ललाट, सरल नाक, लम्बा चेहरा, कटी और प्रमाणानुसार देहयष्टि आदि सौंदर्यके कारणोंसे ये लोग दूसरोंसे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार मनुष्य समाजके साधारण तथा तीन वर्ग हैं।

इन जन्म सिद्ध और नैसर्गिक भेदोंके कारण इनकी बुद्धि, कल्पना, समाज रचना और सुधारणामें भी भेद होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्थामें सपूर्ण मनुष्य समाजको एक ही नियमका अनुवर्ती बनाना एक ही कसोटी पर कसना और एक श्रेणीमें बैठानेका प्रयत्न करना अप्रयोजकताका सूचक होगा।

अब इन परस्पर भिन्न जातियोंके परस्पर संबंधका परिणाम समाज रचनापर कैसा होता है ? इस पर विचार करना आवश्यक है।

विरो नामक सुप्रसिद्ध शरीर शास्त्रज्ञने मनुष्य जातिका अत्यंत सूक्ष्म अवलोकन किया है। और उसकी प्रगति तथा अधोगतिकी चिकित्सा करते समय अपना अनुभवजन्य सिद्धान्त इस प्रकार प्रगट किया है कि " सुधारणाका बीज मनुष्यजातिके अंतरंगमें ही छुपा हुआ है। मानवीय समाजके भिन्न भिन्न भागोंकी भिन्न भिन्न सुधरी हुई अवस्थायें होती हैं। उन भागोंका अपनी अंतःस्थ इच्छाके अनुसार मार्ग विशेषमें जाना सहज और कठिन होता है। अतएव सम्पूर्ण समाजको एक नियमका अनुगामी बनाना अशक्य है। समाजमें पृथक्करणकी प्रवृत्ति इतनी ऊंची होती है कि उसके कारण एक समाज, दूसरी समाजसे शरीर संबंध करनेसे अत्यन्त अप्रसन्न होती है अरब लोगोंकी समाजकी ओर देखने पर विदित होगा कि वे अपनेको हॅम-बोमके वंशज बतलाते हैं परंतु अपनी जाति दूसरी जातिसे अलग रखनेके कार्यमें वे बड़े दक्ष रहते हैं। स्पेनदेश पादाक्रांत कर वहाँ अपने अधिकारकी पताका फहराने पर भी व्हॅलेन्शिया, टॉलेडा, कार्डोवा और ग्रेनडामें इनकी जातियोंके सब एक दूसरेसे पृथक् रहते थे। तुर्क, पर्शियन, हिन्दू आदि सब अपने अपने समाज—भिन्नत्वको बनाये रखना चाहते हैं। फ्रांसदेशमें भी जहाँ कि विवाह दृष्टिसे सामाजिक बंधन बहुत शिथिल हैं कुछ मुख्य शहरोंको छोड़ कर देशके दूसरे भागके लोगोंकी प्रवृत्ति अपनी छोटी छोटी उपजातियोंके बाहिर विवाह न करनेकी ओर अधिक देखी जाती है। सारांश यह है कि परिस्थितिकी अपरिहार्यताके कारण समाज रचना उभनीच भावनामय—विषमरूप-ही प्रायः दिखलाई पड़ती है।

शरीरशास्त्र और मानस शास्त्रकी दृष्टिसे भी इस भेद-प्रवृत्तिको सम्पूर्णतया विघातक नहीं कह सकते। क्योंकि पृथक्करणकी रीति छोड़ देने और भिन्न भिन्न समाजोंके एक हो जानेसे, उनकी स्वतंत्र अवस्थामें उत्कर्षके

योग्य जो गुण उनमें (समाजोंमें) रहते हैं उनका ह्रास होता जाता है। और उन समाजोंमें एक प्रकारकी शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता आने लगती है। सामाजिक भेदका एक उत्तम उदाहरण हिन्दुओंकी ब्राह्मण समाज है। इस समाजने जातीय निर्बंधनों और धार्मिक नियमोंके कारण अपनी जातिको शुद्ध बना रखा है इस लिये इसकी बौद्धिक शक्ति भी बनी हुई है। इस विवेचनसे यह सिद्धान्त निकलता है कि कोई भी समाज, रचनाकी दृष्टिसे यदि अविकृत रहातो उसके नष्ट होनेका भय कभी न ही हो सकता ×। यदि अरबेलाकी लड़ाईके समय दरायसकी सेनामें शुद्ध रक्तके पर्शियन होते और सेपियाईके युद्धके समान रोमन सेनामें एक जातीय सेना होती तो इन राष्ट्रोंका नाश कभी नहीं होता। और यदि राष्ट्र इतिहाससे नष्ट भी हो जाय तो भी समाज अथवा उसकी संस्कृति कभी नष्ट नहीं हो सकती। चीन देशके उदाहरणसे यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि उस देशपर अनेक चढ़ाईयाँ होने पर भी उनकी समाज-शुद्धताके कारण ही वहाँकी चीनी समाज अभीतक जीवित है। युद्धके समान बाह्य आपत्तियोंसे समाजका जीवन कभी नष्ट नहीं होता। किंतु समाजकी मूलरचनामें अंतर पड़ जानेसे तथा उसकी शुद्धतामें मिश्रण हो जानेसे उसका मरण निश्चित रीत्या होता है। समाज अशुद्ध हो जाने पर समझना चाहिये कि उसके अस्तित्वकी एवं उसके साथ साथ समाजके पृथक्त्वकी भी अवधि पूर्ण हो गई

× I can say positively that a people will never die if it remains eternally composed of the same racial elements.

So long as the blood and institution of a nation keep to a sufficient degree the impress of the original that nation exists.

But if like the Greeks and Romans of the latter Empire the people have been absolutely drained of its original blood and the qualities conferred by the blood, then the day of its defeat is the date of death"

जायें सब सम्हाल

और उसके स्थान पर विसदृश समाज उत्पन्न हुआ। इस लिये जगत्के आरंभसे यही सिद्धान्त अनुभवमें आ रहा है कि जगतमें विषमताका होना अनिवार्य है।

इस कहनेपर यह आक्षेप होनेकी संभावना है कि ऊपर कहे अनुसार समाजोंके परस्पर भिन्न होने पर भी सुधारणाके मार्गमें जाते समय उनके भेदभाव धीरे धीरे नष्ट होना और उनमें सादृश्य उत्पन्न होना आवश्यक है। किसी खेड़ेसे जब वहांके बहुतसे लोगोंको दूसरे गाँव जाना होता है, तब कोई गाड़ी, कोई घोड़ा, कोई ऊंट, कोई पैदल आदि भिन्न भिन्न सवारियोंसे आता है और फिर रेलवेमें चढ़ने पर सब समान हो जाते हैं। इसी प्रकार सुधारणाके मार्गमें सबको समान होना उचित है। सुधारणाके तत्व और मार्ग समान होनेके कारण वे प्रगमनशील समाजोंको भी समान कर देंगे। परंतु यह कल्पना भ्रमपूर्ण है। क्योंकि प्रत्येक समाजकी सुधारणाके मार्गमें उसके मूल गुण धर्मानुसार ही प्रगति होती है। इस लिये सुधारणाके मार्गमें भी उनमें समानता उत्पन्न नहीं होती। समांतर पटड़ियोंपरसे जानेवाली दो रेलें कभी कभी बिलकुल पास आई हुई दिखती हैं परंतु उनमें भिन्नताही रहती है इसी प्रकार समाजमें भी भिन्नता ही रहेगी, इतिहासके सिद्धान्तोंका भी यही कहना है। इतिहासके इस संबंधमें कुछ उदाहरण देकर इस सिद्धान्तकी यहां परीक्षा करना उचित होगा।

युद्धके समय ईरान और ग्रीस, ग्रीस और रोम, रोम और इजिप्त, अरब और अर्वाचीन यूरोप आदि भिन्न भिन्न देशोंकी संस्कृतिका परस्पर संसर्ग होने पर अपनेको क्या बात दिखलाई पड़ती है?। इनोंकी तरह जोड़ियोंमेंसे पहिली जोड़ीकी यहां परीक्षा करें। ग्रीस और ईरान देशोंके इतिहास देखनेसे विदित होगा कि ग्रीस देशके कितनेही समृद्ध और स्वतंत्र प्रान्त, ईरान देशके एशियामाइनर और सीरिया इन दो प्रदेशोंके अत्यन्त समीप थे। ईरान देशसे इन प्रान्तोंका व्यापार, प्रवास आदि कारणोंसे संबंध भी अत्यंत निकट था। परन्तु तो भी इन दोनोंकी संस्कृति कभी एक धर्मीय अथवा एक प्राण नहीं हुई। दोनों देशोंके राजकार्योंका स्वरूप सर्वथा भिन्न था। ईरानकी राजपद्धति, राजसत्ताक, एकतंत्री और वंशपरंपरागत थी और ग्रीसके स्पार्टामें वह मर्यादित राजसत्ताक थी। अथेन्समें प्रजासत्ताक थी, सिसिलीमें अधिकजनसत्ताक थी और मेसिडोनियामें जुलमी राज्यपद्धति थी। पर्शियामें सार्वदेशीय धर्मपद्धति पैकेश्वर-

धातुकी थी। परंतु ग्रीसमें सृष्टिके भिन्न भिन्न रूपोंको ही विभूति मानकर उनमें एक प्रकारके श्रेष्ठ श्रेणीके मानवीय पराक्रम और तेजकी कल्पनाकी जाती थी और इस प्रकार पर्यायांतरसे मानवीय महत्ताकी पूजा पद्धति प्रचारमें थी। धर्मसंबंधी सब बातें राजशासनने ठहरा दी थीं और उस मुताबिक निश्चित समय और स्थान पर आवश्यक विधि कर देनेसे धर्म कृत्योंका संपादन करना मान लिया जाता था। वहाँ धर्ममें श्रद्धा और भक्तिकी आवश्यकता नहीं समझते थे। आचार विचार भी लोगोंके भिन्न भिन्न थे। और एक देशके द्वारा दूसरे देशके आचार विचार अथवा पहिराव ओढ़ावका अनुकरण होनेपर वह उसका छिछोरपनका लक्षण माना जाता था।

सिकंदर बादशाहके आगमनसे मालूम पड़ा कि इस स्थितिमें अवश्य क्रान्ति होगी। उसके द्वारा एक रात्रिमें पर्शियाकी मूर्तियाँ तथा अन्य स्मरणीय वस्तुओंका नाश और ग्रीसके आचार विचारोंको पर्शिया पर लादनेका उसका लक्षण देखकर यह भास होता था कि पर्शियाका तत्व ग्रीसके तत्वमें मिल जायगा। परंतु स्वयं सिकन्दरको तुरंत ही अपना मार्ग बदलनेकी बुद्धि हुई। और वह स्वयं पर्शिया देशकी संस्कृतिका अनुकरण करनेको तैयार हुआ। शरीरमें ढीला अंगरखा सिर पर फेंटा और आसपास खोजाओंका परिवार रखकर मालूम हुआ कि सिकंदर अपनी मातृभूमिको पृथक्मातृदेशकी दासी बनना चाहता है परन्तु सिकंदरके साथियोंको यह बात पसंद न होनेके कारण सिकंदरको अपना यह नवीन ढंग भी बदलना पड़ा और अंतमें एक आधुनिक पाश्चात्य कविका यह कथन सत्य ठहरा कि East is East and West is West, and the twain shall never meet अर्थात् पूर्व पूर्व रहेगा और पश्चिम, पश्चिम। इन दोनों देशोंका पूर्ण मिलाप होना अशक्य है।

यही स्थिति दूसरे देशोंकी भी हुई। इस संबंधमें एक और नवीन उदाहरण पर विचार करें। अरब लोगोंकी संस्कृति और यूरोपियन अर्वाचीन संस्कृतिका झगड़ा यूरोपमें हुआ। महम्मदने नवीन धर्म स्थापित कर जो लोग मुसलमान बनाये उनके राष्ट्रोंकी संस्कृति एक जातीय नहीं है। मूल केन्द्र अरब लोग हैं। महम्मदके इस्लाम धर्मका उन लोगोंमें नवीन चैतन्य आनेके कारण उन लोगोंकी सब प्रकारसे उन्नति हुई और युद्ध, वाणिज्य, शिल्पशास्त्र, कला आदि सब गुणोंमें उन्होंने अपनी प्रगति की। प्रगतिके साथ

इन्होंने दिग्विजय करना भी प्रारंभ कर दिया था। जिसके फलसे यूफ्रेटिस और टायग्रीस नदीसे लेकर पश्चिमकी ह्याइन नदी पर्यंत उन्होंने अपना शासन जमा लिया था। दिग्विजयके इस पूरके रुक जाने पर और उसकी प्रतिक्रियाका प्रारंभ होनेके पहिले कुछ शताब्दियोंतक यूरोपियन और अर्वियन संस्कृतियोंका सहवास रहा। अर्वीलोगो द्वारा स्थापित कोर्दोवाके विद्यालयमें उस समयके यूरोपियन अपने बालकोंको पढ़ानेके लिये सैकड़ों वर्षोंतक भेजते रहे। तो भी इन दोनोंकी संस्कृतिमें रच मात्र भी सादृश्य नहीं दिखलाई पड़ता। अर्वियन लोगोंकी एक सत्तात्मक राज्यपद्धति, राज्य-रक्षाकी अपेक्षा युद्ध कलाकी कुशलता, अनेक विवाह करनेकी रीति, पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको हीन समझनेवाली कुटुम्बपद्धति, अर्वियन संस्कृतिके नमूने हैं। यूरोपियन संस्कृति इससे सर्वथा विरुद्ध है। यहां लोकसत्ताक राज्यपद्धति, राज्य संरक्षणमें कौशल्य, एक विवाह पद्धति और स्त्रियोंको सन्मान देनेकी रिवाज है। यही अन्तर इन दोनोंके साहित्य, आचारविचार आदिमें भी दिख-लाई पड़ता है। सारांश यह है कि इन सब उदाहरणोंसे यही निष्पन्न होता है कि मानव समाजोंमें गुणधर्मकी विचित्रताके कारण जो उनकी संस्कृति और सामाजिक संस्थाकी भिन्नता अनुभवमें आती है वह सिद्धान्त रूप ही है।

जिस प्रकार प्रत्येक समाज एक दूसरेसे भिन्न होते हैं उसी प्रकार उस समाजके अंतर विभाग भी कार्य दृष्टिसे परस्पर भिन्न होते हैं। बहुत समयसे किये हुए एकही प्रकारके उद्योगोंके कारण, आनुवंशिक संस्कारोंके कारण तथा बुद्धि विषयक योग्यायोग्यताके कारण समाजके सब लोग सब धंदे करनेमें समान योग्य नहीं होते। उपन्यासकी घटनाओंके समान जगतमें कोई भी बात असम्भव नहीं है इस सिद्धान्तके अनुसार चाहे यह मान भी लें कि प्रत्येक मनुष्यके लिये प्रत्येक बात एकही समयमें सम्भव है तो भी व्यवहारमें यह अनुभवमें नहीं आता और इस कारणसे मनुष्य समाजमें स्वाभाविक रीत्या भेद हो जाता है और इस लिये ये भेद, कितनी ही समाजोंमें जन्मसे कितनी ही समाजोंमें कर्म और गुणसे तथा कितनीही समाजोंमें सांपत्तिक स्थितिसे उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ समाजें ऐसी भी है जिनमें भेद होने पर भी बाह्य दृष्टिसे वे उसे स्वीकार नहीं करतीं अर्थात ऐसी कोई समाज नहीं है जिसमें भेदोपभेद न हों। गिडिंग्सनामक समाज शास्त्रज्ञने समाज घटना-की चार अवस्थाएँ बतलाई हैं वह कहता है। कि, "पहिलेही जंगलमें रहने-

वाले जंगली लोगोंमें एकीकरणकी इच्छा होती है। फिर इस जनसमुदायकी अनेक व्यक्तियोंमें मिल कर किसी भी प्रश्नकी चर्चा करनेकी रुचि होती है यह दूसरी अवस्था है। फिर उस चर्चाके कारण संघटित वृत्ति होती है जिससे देश गांव आदि संस्थायें निर्माण होती हैं और समाज अपना उद्योग प्रारम्भ करती है यह घटनात्मक तीसरी अवस्था है। इसके बाद प्रत्येक व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदायके गुण एक दूसरेके प्रत्ययमें आ जानेपर उनके गुणकर्म अथवा श्रमविभागके तत्वोंपर संघ बनते हैं यह उनकी चौथी दशा है।" इसी संबन्धमें गिडिंग्स साहबने आगे कहा है कि "धन्धोंके कारण जो स्वतन्त्र संघ बनते हैं वे ही कालान्तरमें जातियोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं ब्राह्मण अथवा पुरोहित, राज्यकर्ता अथवा क्षत्रिय, व्यापारी अथवा वैश्य और मजदूर अथवा शूद्र, समाजकी परिणत स्थितिमें मिश्र नहीं होते और इस लिये यदि कोई इनके मिश्रणका प्रयत्न करेगा तो उसे अपयशही प्राप्त होगा" *

इस कथनको पढते ही हिन्दुस्थानकी आर्यसंस्कृतिकी चालू वर्ण पद्धतिका स्मरण हो आता है। अतएव इस वर्ण पद्धतिके इतिहासका भारतीय आर्योंके आरम्भकालसे अवलोकन कर, गतप्रकरणमें सुधारणाशास्त्रका जो व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यरूप मुख्य लक्षण माना है उसके द्वारा इस पद्धति पर विचार करना और फिर अपना सिद्धान्त निश्चित करना उचित होगा।

चिकित्सक पद्धतिके द्वारा किये हुए खोजोंपरसे प्राचीन आर्य संस्कृतिके आद्य वाङ्मय-वेद-का काल ईसवी सनसे चार पांच हजार वर्ष पहिले माना जाता है। यह सिद्धान्त अब यूरोपियन और अमेरिकन पंडितोंको भी मान्य हो गया है। वर्तमानमें जो इतिहास उपलब्ध हुआ है उस परसे कोई देश इस कालके पहिले सुधरी हुई दशामें था यह सिद्ध नहीं होता। इस वेदका-

---

* Segregations due to vocation become definite class distinctions. The priestly, the ruling, the merchant, the artisan and the labouring classes do not become blended, as societies grow older They become more sharply defined any social reform that hopes for the interblending of classes is foredoomed to failure

—Giddings.

चीन स्थितिको करीब करीब छह सात हजार वर्ष हुए हैं। कल्पनामें भी कठिनतासे आनेवाले इस दीर्घकालसे यहांकी समाज पद्धति किस तत्वपर चलती आ रही है और इसका किस प्रकार स्थित्यंतर होता रहा है इसका विचार तत्तत्कालीन साहित्यके द्वारा यहां करना उचित होगा।

वैदिक साहित्यमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इस ऋग्वेदके पुरुष सूक्तमें जातिभेदका पता मिलता है। यह सूक्त ऋग्वेद रचनाकी दृष्टिसे प्राचीन है अथवा अर्वाचीन इसके संबंधमें पंडितोंमें मतभेद है। मैक्सम्यूलर, कोल-ब्रुक वगैरहके मतसे यह सूक्त (तुलनात्मक दृष्टिसे देखनेपर) ऋग्वेदके बादका है। और डा. हाग आदि विद्वान् इसे प्राचीन मानते हैं। कुछ भी हो, है यह ऋग्वेदकालका। और इसमें किसीका भी मतभेद नहीं है। चातुर्वर्ण्यका सबसे पहला उल्लेख, इसीमें है और वह इस प्रकार है।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू कावूरू पादावुच्येते॥

जिस समय विराट् पुरुषके विभाग किये गये उस समय उसके मुख, हाथ पांव कौन कौनसे हैं, यह प्रश्नात्मक उपन्यास करके आगेकी ऋचामें उसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि:—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

अर्थात् उसके (विराट्पुरुषके) ब्राह्मण मुख थे। क्षत्रिय हाथ थे। वैश्य जांघ थे और शूद्र पांव थे। इस प्रकार इसमें समाजके चार विभाग स्पष्ट रीतिसे किये गये हैं। कालानुक्रमसे इस सूक्तके बाद जो शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेयसंहिता आदि साहित्य रचा गया है उसमें भी विभागोंका स्पष्ट वर्णन है।

शतपथ ब्राह्मणमें प्रजापतिके द्वारा पृथ्वी, अंतरीक्ष, आकाश आदिकी उत्पत्ति होनेके वर्णन के बाद मानव उत्पत्तिके संबंधमें लिखा है कि:—

भूरिति वै प्रजापतिर्ब्रह्म अजनयत।
भुव इति क्षत्रं। स्वरिति विशम्॥

इसके बाद तैत्तिरीय ब्राह्मणमें लिखा है कि ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानाम् प्रसूतिः। पूर्वेपूर्वेभ्यो

याचा पुत्तवाहु । अर्थात् ऋग्वेदसे वैश्यवर्ण यजुर्वेदसे क्षत्रिय वर्ण और साम-वेदसे ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न हुआ। ऐसी पूर्वाचार्योंकी कथन परंपरा है। इसमें केवल आर्यवर्णत्रयीकाही उल्लेख है।

इसके पश्चात् वाजसनेयी संहितामें सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रकरण दिया गया है। और उसमें लिखा है कि क्रमक्रमसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई।

फिर उपनिषत्कालके बृहदारण्यकमें भी यह भेद इस प्रकार कहा गया है कि:—ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत् एकम् एव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपं अत्यसृजत् क्षत्रं। यानि एतानि देवत्रा क्षत्राणि इंद्रो वरुण इत्यादीनि।...स नैव व्यभवत्। स विशं असृजत्। यानि एतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते। वसवः रुद्रा इत्यादयः। स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णं अत्यसृजत्। पूषणम्। इयं वै पूषा। इयं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच।

इस कथनसे साधारणतया प्रत्येक वर्णके गुणकी कल्पना होती है इसमें देवोंमें पराक्रमी माने हुवे इंद्रवरुण आदि देवोंका वर्ण क्षत्रिय कहा गया है। उनसे कम दर्जेके वसु आदि देवोंका वर्ण वैश्य माना है। और पृथ्वीके द्वारा भरण पोषण करनेवाले अथवा कृषिकर्मवालोंका वर्ण शूद्र कहा गया है। अर्थात् गुणकर्म विभागपर अवलंबित चातुर्वर्णोंकी उत्पत्तिका उल्लेख इस कथनमें है।

इस प्रकार श्रुतिकालका संक्षिप्त अवलोकन करनेके बाद स्मृतिकालमें यह पद्धति किस अवस्थामें थी यह जाननेकी आवश्यकता है। मनुस्मृतिमें कहा है कि।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।

अर्थात् सर्व सृष्टिके कल्याणके लिये भिन्न भिन्न कर्माचरण करनेवाले चार वर्णोंकी उत्पत्ति की।। इसके बाद समाजकी इस पद्धतिमें सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणोंकी भरती किस प्रकार हुई इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्व गुणसे ब्राह्मण होता है। रजोगुणसे क्षत्रिय और वैश्य होते हैं तथा तमोगुणसे शूद्र होते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी यही कहा है कि:—

लोकानान्तु विवृद्ध्यर्थं, मुखबाहूरुपादतः
ब्राह्मणं क्षत्रिय वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥

स्मृति ग्रंथोंके बादके महाभारतादि ग्रंथोंमें इस पद्धतिपर बहुत ओर दिया गया है और इसका सांगोपांग वर्णन किया है । इन ग्रंथोंके बादके पुराण कालने तो इस पद्धतिको धर्मकी जड़ ही मानली है । महाभारतकालकी भगवद्गीतामें इस पद्धतिका तत्वविवेचन विशद रीतिसे किया गया है ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः

अर्थात मैंने गुणकर्मके विभागसे चातुर्वर्ण्यकी रचना की है " इस प्रकार निग्रहविग्रहत्वके अधिकारकी वाणीसे श्रीकृष्णने कह कर इस पद्धतिको ठेट मानवजातिकी उत्पत्ति तक पहुंचा दिया है । साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस पद्धतिके तत्व, मनुष्य जातिके गुणकर्म द्वारा होनेवाले स्वाभाविक विभागपर अवलंबित हैं । भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें इसी कथनकी पुनरुक्ति की गई है

ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतपः
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।

अर्थात् इस श्लोकमें यह प्रकट कर कि स्वभाव और आचरणके तत्वपर चातुर्वर्ण्यकर्मके विभाग किये गये हैं यह सिद्ध किया है कि केवल जन्मपर ही जाति अवलंबित नहीं है । प्रसंग विशेषपर दूसरे वर्णवाला भी ब्राह्मणोंका गुरु हो सकता था । यह उस समयकी चातुर्वर्ण्यकी स्थिति व्यापकताका चिन्ह है । कोषीतकी ब्राह्मण उपनिषद्में गार्ग्यबालाकी की कथा दी गई है । उसमें बतलाया है अपने ज्ञानका अभिमान करनेवाले गार्ग्यबालाकी को काश्य अजातशत्रुनामक राजाने अपनी श्रेष्ठ विद्याके प्रभावसे विवादमें हराया और अंतमें उसे उपदेश दिया उस समय गार्ग्यबालाकीने कहा था कि —अजातशत्रो प्रतिलोमरूपम् एव तन्मन्ये यत्क्षत्रियो ब्राह्मणात् उपनयते । अर्थात् ब्राह्मणका क्षत्रियसे उपदेश ग्रहण करनेका यह उल्टा मार्ग मान मैं स्वीकार करता हूं । दूसरी एक कथा शतपथ ब्राह्मणमें है कि श्वेतकेतु आरुणेय नामक एक ब्राह्मकुमार एकबार प्रवाहन जैवालि राजाके दरबारमें आया । राजाने उससे तत्वज्ञानसंबंधी कुछ प्रश्न पूछे । जब उन प्रश्नोंका उत्तर वह न दे सका तब अपने पिता गौतमके पास गया और उनसे यह सब बात कही । यह सुनकर गौतम तुरंत राजाके पास गया और उसकी विद्वत्ता देखकर गौतमने तुरंत राजाको अपना गुरु बनालिया । और उससे उपदेश लिया । इस प्रकार

उत्पत्तिकालमें इस पद्धतिके गुणकर्मोपर अवलम्बित होनेके और मनुष्योंके गुण-कर्मानुसार वर्णान्तरित होनेके प्रमाण मिलते हैं। इनके सिवाय और भी बहुतसे प्रमाण साहित्यमें जगह व जगह मिलते हैं।

यास्कने उल्लेख किया है कि वेदकालमें कुरुवंशी राजा देवापिने ब्राह्मणत्व स्वीकार कर एक बड़ा भारी यज्ञ किया जिसके फलसे वर्षा हुई। ऐतरेय ब्राह्मणमें भी ऐसा ही एक उल्लेख है कि एक समय ऋषिगण सरस्वती नदीके तीरपर यज्ञकर रहे थे। वहां कवष ऐलूष नामक अब्राह्मण आया। उसका संसर्ग न होने देनेके लिये ऋषिने उसे नदीके रेतीले प्रदेशमें भगा दिया। वहीं उसने कुछ सूक्तों द्वारा सरस्वतीकी उपासना की अतः वह भी मंत्रदृष्टा-ऋषि हो गया। सरस्वती उसके पास दौड़ती हुई आई और उसकी इच्छा पूर्ण की। इसके सिवाय विश्वामित्रकी कथा सर्व विदित ही है कि उन्होंने अनेक वर्षोंतक घोर तपश्चर्याकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था, तथा वाल्या कोलीका तपश्चर्या द्वारा वाल्मीकि ऋषि होनेकी साक्षी रामायण दे रही है।

इन उदाहरणोंके सिवाय " ब्राह्मण्यादेव हीयते " अर्थात् हीन प्रकारके कार्य करनेसे ब्राह्मण ब्राह्मणत्वसे च्युत हो जाता है" यह आज्ञा भी प्रसिद्ध ही है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे इस वर्ण व्यवस्थामें एक महत्वकी बात और दिखलाई पड़ती है। चार वर्णोंमें तीन वर्णोंकी द्विज संज्ञा है। जिनका उपनयन संस्कार होता है, और इस कारणसे जिन्हें वैदिक कर्म करनेका अधिकार है उन्हें द्विज कहते हैं। इस परसे सिद्ध होता है कि कर्मके कारण तीन विभाग होनेपर भी तीनोंमें एकात्मता है। इसी मतको पुष्ट करनेवाला एक दूसरा लक्षण यह है कि इन वर्णोंमें परस्पर विवाह होते थे। प्राचीन कालमें अनुलोम, अर्थात् श्रेष्ठवर्णवालोंका कनिष्ट वर्णकी कन्याके साथ विवाह करना एक सर्व साधारण नियम था। कभी कभी अपवादात्मक रीतिसे प्रतिलोम विवाह भी हो जाया करते थे। ययाति नामक क्षत्रिय राजाने शुक्राचार्य नामक ब्राह्मणगुरुकी कन्या शर्मिष्ठाके साथ विवाह किया था। इस प्रकार इस वर्णत्रयीमें एकात्मता थी। इस परसे यह भी स्पष्ट होता है कि हिन्दुस्थानमें आये हुये मूल आर्य पुरुषोंके उद्योगपरत्वके कारण ये विभाग पड़े थे। शूद्रोंकी स्थिति इससे उल्टी थी। अर्थात् आर्योंके यहां आनेपर यहांके मूल निवासी अनार्योंको उन्होंने जीता और उन्हें ही शूद्र माना तथा द्विजकी कोटिसे उन्हें बाहिर रखा।

१

इस सम्पूर्ण वर्णनसे यही सार निकलता है कि यह चातुर्वर्ण्यकी पद्धति आर्य संस्कृतिके आरम्भ कालसे ही चालू है, परन्तु उस समय इसमें इतनी दृढता न होकर केवल स्थिति स्थापकताही थी। डाक्टर हॉग नामक जर्मन पंडितका भी यही मत है। वह कहता है कि "कई लोगोंका कहना है कि जातिभेद पद्धति वेदोंके प्राचीन सूक्तोंमें नहीं है। परंतु यह भ्रम है। अंतर केवल इतना ही है कि स्मृति ग्रंथोंमें उसका जो दृढ स्वरूप दिखलाई देता है वह वेदकालमें नहीं था। और न उस समयके जातिबंधन अनुल्लंघनीय थे।+

चातुर्वर्ण्यके कर्मोंका विभाग भगवद्गीता आदि ग्रंथोंमें विशद रीतिसे किया गया है। उसमें और इस प्रकरणके आरंभमें समाज शास्त्रके प्रसिद्ध विद्वान कोंटके मतानुसार किये हुये समाजके विभाग और उनके कामोंमें आश्चर्य जनक समानता दिखलाई पडती है।

भारतकी वर्णपद्धतिका इतिहास उक्त प्रकार है। दूसरे देशोंमें भी इस पद्धतिका किसी न किसी रूपमें अस्तित्व अवश्य था और रोटीबेटी व्यवहार जो इसके स्पष्ट लक्षण है वे भी थे। आधुनिक विद्वान् डॉ भांडारकर कहते हैं कि "रोमन साम्राज्यके समयमें पॅट्रीशियन और प्लेबियन नामक समाजोंमें परस्पर विवाह नहीं होते थे। इसी प्रकार विवाह और सहभोजनके संबंध ग्रीक, जर्मन और रशियन लोगोंमे भी नहीं थे। परंतु कालांतरमें यह बात दूसरे देशोंमें तो नष्ट हो गई केवल हिन्दुस्थानमें बढ़ गई। भारतनिवासी इस पद्धतिके मूलतत्वको भूल गये हैं और वह केवल उपचार मात्र बची हुई है।×

+ It has been asserted that the original parts of the Veda do not know the system of castes But this conclusion was prematurely arrived at without sufficeintly weighing the evidence It is true it was not to be found in the later developed state......But nevertheless the system is already known in the earlier parts of the Veda...the barriers only were not so insurmountable as in later times.

Dr Hang's Essay on the origin of Brahmanism

× Dr. Bhandarkar's Presidential address at a meeting of the Aryan Brotherhood Conference.

जगत्के दूसरे किसी भी समाजमें वर्ण व्यवस्थाकी पद्धति भारतके तत्वोंके अनुसार नहीं रची गयी। इस लिये इस पद्धतिके उद्गमके सम्बन्धमें चिकित्सा करनेकी इच्छा समाजशास्त्रके विद्वानोंमें और जिनका इस पद्धतिसे नित्यका परिचय है उन्हें छोड़कर जिन्हें इसका परिचय नहीं है उनमें हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस लिये भिन्न भिन्न परदेशी विद्वानोने इस पद्धतिके उद्गम और प्रसारके संबंधमें अनेक उपपत्तियाँ निकाली हैं।

इस पद्धतिके अध्ययन और विवेचनके लिये यूरोपियन लोगोंका एक वर्ग ऐसा निकला था जो वर्ण व्यवस्थाको केवल बदमाशी और फँसानेवाली समझता था। इस वर्गका कहना था कि ब्राह्मण लोगोंने अपना वर्चस्व बनाये रखनेके लिये यह जाल फैलाया है। किसी भी बातका पूर्ण विचार न कर और उसकी परिस्थितिका सूक्ष्मावलोकन न कर जो बात अपनेको मालूम न हो अथवा ग्रहण करनेमें न आ सकती हो तो उसे असत्य कह देनेवाले लोगोंके वर्गमेंसे ही उक्त लोगोंके होनेके कारण इनके मतका कुछ बहुत मूल्य नहीं है। यह बात असंभवनीय है कि ब्राह्मणोंके हजारों वर्षोंसे फँसाने पर भी उनकी चालाकी लोगोके ध्यानमें न आवे अथवा आजाने पर भी वे उसका प्रतीकार न करें। इसके सिवाय वर्ण व्यवस्थाके पूर्वेतिहास, उसकी वृद्धिके कारण आदि बातोंका शास्त्रीय पद्धतिसे इन लोगोंने विचार नहीं किया है अतएव उनका मत उपेक्षणीय है।

इस उपपत्तिके बाद नेसफील्डने एक उपपत्ति निकाली है। इसका मत है कि आर्य लोग जब भारतमें आये तब उनमें वर्ण व्यवस्था बिल्कुल नहीं थी। पुरुषसूक्त पीछेसे मिलाया हुआ है। आर्य लोगोंके यहाँ आनेपर उनका और मूलनिवासियोंका क्रम क्रमसे शरीर संबंध होने लगा जिससे शीघ्रही आर्य और अनार्यका भेद नष्ट हो गया और फिर वर्णोंकी श्रेष्ठता, कनिष्ठताका प्रश्न ही नहीं रहा। यहांकि जातिभेदका संबंध वर्ण व्यवस्थासे न होकर कर्म और धन्धोंसे है। और न इसके सिवाय इस पद्धतिको दूसरा आधारही है।* बढ़ती हुई लोक संख्या, नवीन अधिकृत किये हुये प्रदेश, धन्धोंमें विशेष कौशल्यकी

* Function and function alone, as I think, was the foundation upon which the whole Caste-system of India was built up

आवश्यकता आदि कारणोंसे क्रमशः प्रत्येक धंदेवालोंके समूह बनने लगे और वे समूहही जाति बन गये। फिर कालांतरमें ये जातियाँ दृढ़ हो गईं और आपसमें संबंध करना बंद हो गया। उक्त विद्वानने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं। वह कहता है कि तेली, कोली, चम्हार, अहीर, कुम्हार, सुनार, गड़रिया, डोम आदि जातियां धंदोंपर से ही बनी हैं। इस लिये जातिभेदका मुख्य तत्व धंदा है।

दूसरे लोगोंका इस पर यह आक्षेप है कि यदि यह तत्व ठीक है तो यह जातियाँ दृढ़ बद्ध क्यों और कैसे हुई ?। यदि धंदोंसेही जातियां बनतीं हैं तो एक मनुष्यके दूसरी जातिका धंदा करनेपर उस मनुष्यको उस जातिमें क्यों नहीं प्रविष्ट करते। जैसे कि एक धोबी दर्जीका काम करने लगे तो उसे दर्जियोंको अपनेमें प्रविष्ट करना चाहिये पर वे नहीं करते इसका कारण क्या है ? और फिर इन जातियोंमें परस्पर विवाह करनेका प्रतिबंध होनेकी आवश्यकता क्यों हुई ? इस प्रश्नका उत्तर नैसफील्ड भी यही देता है कि यह सर्व 'ब्राह्मणोंकी करनी' का फल है। ब्राह्मणोंने अपने श्रेष्ठत्वको बनाये रखनेके लिये इस प्रकारके निर्बंध किये। और फिर बादमें दूसरोंने उनका अनुसरण किया। सर हरबर्ट रिस्लेके मतानुसार यह कहना बिल्कुल असमाधान कारक है। रिस्ले कहते हैं कि जिस प्रकारक ईजिप्त प्रदेशका ज्ञान न होनेपर भी अठारहवीं शताब्दिमें लोगोंने उनके धार्मिक साहित्यके संबधमें यह अभिप्राय एकदम दे डाला था कि "यह (साहित्य) केवल इजिप्शियन पुरोहितोंका उत्पन्न किया हुआ कपोल कल्पित शास्त्र है उसी प्रकार नैसफील्डका भी उक्त मत है। जो चंमारे, डोम, तेली आदि जातियोंकी उत्पत्तिके तत्वके अनुसारही कायस्थ, खत्री आदि जातियोंकी उत्पत्ति समझते हैं उन्हें अभी बहुतसा ज्ञान संपादन करना चाहिये।"

भारतीय जातिभेदके संबंधमे दूसरी एक कल्पना सर डैंझिल इबेटसनने की है। इनका मत है कि जगतकी अन्य सब समाजोंके समान आर्य लोगोंमें भी विशिष्ट वर्ग बने। उसके बाद धंदोंके कारण उनमें अधिक विभाग होकर दूसरी अवस्था हुई फिर इन विभागोंकी आनुवंशिकताके कारण उन्हे दृढ़ता प्राप्त हुई। इस दृढ़ताको स्थायी बनानेके कार्यमें उपाध्याय अथवा ब्राह्मणोंने धर्म बंधनोंसे सहायता दी। अंतमें उक्त मार्गसे बनी हुई समाजपद्धतिमें उच्च नीच भाग हुये और जाति विशिष्ट अभिमानके कारण

प्रकार एक जातिका दूसरी जातिसे बेटी व्यवहार नहीं होता उसी प्रकार डेमौस्थि-नीजके समयमें रोमन अथीनियन लोगोंमें नीच वर्ग (प्लेबियन) के लोगोंकी इच्छा पॅट्रिशियन (उच्चवर्ण के) लोगोंके साथ विवाह संबंध करनेकी होती थी उसे रोकनेके लिये कानून बनाया गया था। यज्ञ यागादिमें जिस प्रकार हिन्दुस्थानमें शूद्रोंको रोकते है उसी प्रकार रोमन लोग भी यज्ञके समय प्लेबियनलोगोंको नहीं आने देते थे। देवताओंको अर्घ प्रदान करना, श्राद्ध विधि करना, जातिके कायदे तोड़नेवालोंको जातिसे बाहिर निकालना आदि भारतकी रिवाजोंसे मिलती जुलती रोमन लोगोंमें रिवाजे थी। यहाँ भी उपाध्याय बराहही देवताको अर्घ चढ़ाता था। और केरिस्टिया नामक जातिभोजनमें जातीय कायदे तोड़नेवाले शामिल नहीं किये जाते थे। हिन्दुस्थानकी जातीय पंचायतियोंके समान रोमन लोगोंमें भी पाट्रिया पोटेस्टास की पद्धति थी इसके द्वारा जातिके सब झगड़े निबटाये जाते थे। इन समानताओंसे सेनार्टने यह सिद्ध किया है कि भारतवर्षका जातिभेद आर्य लोगोंकी उन्नतिका स्वाभाविक परिणाम है।

सेनार्टकी इस उपपत्ति पर यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है कि आर्य संस्कृतिके स्वाभाविक परिणामके अनुसार ही जब यूरोपमें भी जातीय भेदका प्रचार था तो वहां यह भेद उत्तरोत्तर कम होता गया और उपजातियां मुख्य जातियोंमें मिलती गई परंतु भारतवर्षमें उपभेदोंकी संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई तो यह परस्पर विरुद्ध परिणाम क्यों हुआ ?। इस प्रश्नकी मीमांसा सेनार्टकी उपपत्तिसे नहीं होती। यद्यपि सेनार्टकी इस शास्त्रीय उपपत्तिसे जाति, धंधा वैशिष्ट्य, देश-भेद अथवा पुरोहितोंकी चतुराईसे जातिभेदकी उत्पत्ति माननेवाली सर्व कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं तो भी उक्त प्रश्न इस पद्धतिसे हल नहीं होता।

ऊपरकी सब उपपत्तियोंका विचार कर सर हर्बर्ट रिस्लेने अपना मत निश्चित किया है। इनके मतसे जाति-भेद संस्थाकी जड़में दो तत्व हैं। एक परिस्थिति और दूसरी हिन्दुस्थानकी विशिष्ट-विचार-पद्धति। रिस्ले साहबका कहना है कि इन दोनोंमें पहिला तत्व सम्पूर्ण मानव जातियोंमें पाया जाता है। और दूसरे तत्वका संबंध प्रायः भारतवर्षसे ही है। जगतके इतिहासको देखनेसे विदित होता है कि जब एक मानव-वर्गके लोग चढ़ाई कर या देशविस्तार करनेकी इच्छाके कारण दूसरे देशमें आते और वहांके भिन्न वर्णके लोगोंसे मिलते

हैं तब यदि वे लोग परस्परमें समान वर्गके होते हैं तो उन दोनोंका परस्पर मिश्रण होकर दोनोंकी एक ही जाति बन जाती है। परंतु यदि दिग्विजयी लोग और विजित देशके लोग परस्पर भिन्न वर्गके होते हैं और उन विजयी लोगोंमें उनके ही वर्गके लोग उनके मूलस्थानसे आ आकर उनमें बढ़ते जाते हैं तो फिर उनकी सामाजिक उत्क्रांतिका ओघ दूसरी ही दिशामें बहने लगता है। और फिर दोनों परस्पर भिन्न वर्गके मिश्रणसे एक तीसरा ही वर्ग उत्पन्न हो जाता है। यह वर्ग मूलके दोनों वर्गोंसे गुण अथवा रूपमें भिन्न होनेके कारण इसकी जाति भिन्न ही मानी जाती है। इस प्रकार जातियोंकी वृद्धि होती है। हिंदुस्थानके समान दूसरे देशोंमें भी इसी प्रकारके उदाहरण देखनेको मिलते हैं। यूरोपियनोंका अमेरिकाके मूल निवासियोंसे संबंध होनेके कारण जो म्युलेटो, क्वोंडून, अक्टोरून वगैरह जातियाँ उत्पन्न हुई वे बिल्कुल भिन्न मानी जाती हैं। इनमें विवाह संबंध बिल्कुल नहीं होता। अमेरिकाके कनाडा देशमें और मेक्सिको देशमें भी यही बात पाई जाती है। इस उपपत्तिके अनुसार हिन्दुस्थानमें आर्योंका प्रवेश होने पर वे ज्यों ज्यों भिन्न भिन्न प्रदेशोंमें फैलते गये त्यों त्यों वहाँके मूल निवासियोंसे उनका संबंध होकर भिन्न भिन्न जातियाँ निर्माण होती गईं। आये हुये आर्योंके साथ स्त्रियां कम होनेके कारण तथा उद्योग धंदोंके कारण उनका अपने पहिले निवास स्थानके लोगोंसे संबंध टूट गया और यहाँके मूल निवासीयोंके साथ हो गया। वे जहाँ रहते वहाँ अपने बड़प्पनका अभिमान रखते थे। इस लिये उन्होंने परस्परमें भी बहुतसी भिन्न भिन्न जातियाँ बना लीं थीं। इस प्रकार ज्यों ज्यो हिन्दुस्थानके दूर दूरके प्रदेशोंमें आर्य लोगोंका प्रवेश हुआ त्यों त्यों वहांकी परिस्थितिके अनुसार भिन्न भिन्न जातियाँ बन गईं। यह परिणाम ऊपर कहे हुये दो तत्त्वोंमेंसे पहिले तत्त्वका है। और यह परिणाम न केवल हिन्दुस्थानमें ही किन्तु सब समाजोंमें एक समान हुआ है।

परन्तु हिन्दुस्थानकी विचारसरणीके कारण यहांके जातिभेदको एक विशेष प्रकारका स्वरूप प्राप्त हुआ है। आर्योंके यहाँ आनेपर उनकी तत्त्वविषयक विचार सरणीका जिस ओर झुकाव हुआ, उनमें ऐहिक बातोंके संबंधमें जो एक प्रकारकी उदासीनता उत्पन्न हुई, उस उदासीनताके फलस्वरूप जो व्यवहार पराङ्मुखता एवं दैव पर आधार रखनेकी प्रवृत्तिने उनमें स्थान पाया और पुनर्जन्मका तत्त्व माननेके कारण हीन कुलमें उत्पन्न होना पूर्वजन्मका फल मान कर उसका प्रतीकार न करनेकी जिस प्रवृत्तिने उनमें जड़ पकड़ी उन सब बातोंका

परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्थानमें जाति-पद्धति अधिक स्थायी हो गई । इस जन्मकी परिस्थिति पूर्वजन्मके कार्योंका फल है और इस जन्ममें जो कर्म किये जावेंगे उनका फल भविष्य जन्ममें मिलेगा तथा उन्हीं पाप-पुण्य-रूप-कर्मोंके फलानुसार उच्चनीच जातियोंमें उत्पन्न होना पड़ता है, यह नियम माननेके कारण जातियोंका परिवर्तन होना अशक्य हो गया और अपनी जातिमें रहकर " सहजं खलु यद्विनिन्दितम् । न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्, इस प्रकार कालिदासके शाकुंतल नाटकमें धीवरके कहे अनुसार अपने कर्म करनेमें समाधान माननेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई । रिस्ले साहबका कहना है कि इस कारणसे पाश्चात्यादि देशोंमें पहिले तत्वका जो परिणाम हुआ उसमें और हिन्दुस्थानके परिणाममें भेद पड़ गया । +

समाजरचनाके इस इतिहासके निरीक्षणसे यह निश्चित होता है कि समाजमें उच्चनीच भाव किसी न किसी तत्वके आधारपर और किसी न किसी रूपमें रहता ही है । सुधारणा शास्त्रकी दृष्टिसे समाजकी किसी भी व्यक्तिकी उन्नतिमें सामाजिक प्रतिबंध न होकर स्वतंत्रता होना ही उन्नत समाजका लक्षण माना गया है । यह लक्षण ध्यानमें रखनेसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस समाजकी व्यक्तियाँ अपनी समाजकी पद्धतिके कारण कर्तृत्व-शक्ति-संपन्न होनेपर भी अपनी उन्नति नहीं कर पातीं उस समाजकी पद्धति सदोष है । इसके विरुद्ध जिस समाजमें गुण और कर्मसे प्रेम नहीं रहता और इन दोनोंसे हीन व्यक्तियाँ केवल समानताकी तात्विक कल्पनापर गुणकर्म विशिष्ट व्यक्तियोंकी बराबरी करतीं हैं वह समाज भी प्रगतिके लिये सम्पूर्णतया विघातक है । और संस्कृति तथा व्यवहारके तत्वोंके विरुद्ध है । फ्रान्सदेशकी राज्यक्रान्तिके समय इस समानताके तत्वसे जो दुष्परिणाम हुआ वह इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । इसलिये समाजमें यदि हजारों वर्षोंसे चला आया हुआ भेद रहेगा ही तो वह भेद मनुष्य-कृतिपर ही होना चाहिये और प्रत्येक व्यक्तिको वैयक्तिक स्वातंत्र्य होना चाहिये । वेणी संहार नाटकमें कहे अनुसार यदि " दैवायत्तं कुले जन्म " माना जाता है तो उसके साथ साथ " मदायत्तं तु पौरुषम् " भी माना जाना उचित है । तभी कहा जा सकेगा कि समाज संस्कृतिशास्त्रके नियमानुसार चल रहा है और तभी उसकी उन्नति होती रहेगी ।

+ Sir Herbert Risley's " Essay on Caste Tribe and Race" in the Census Report of India 1901.

प्रकरण दूसरा ।

जनता धर्म ।

सुधारणाशास्त्रका यह सिद्धांत निश्चित हो जानेपर कि व्यक्तिको स्वतःकी परिणति करनेमें स्वतंत्रताका होना ही सुधारणा है, यह जाननेकी आवश्यकता होती है कि सुधारणाशास्त्रकी इस गुरुकिल्लीसे धर्म, समाजरचना और राजकारणादि रूप समाज व्यवहारकी आलमारियोंके ताले किस प्रकार खोले जा सकते हैं ?। इनमेंसे समाज-रचनाका विचार गत प्रकरणमें किया जा चुका है। और उस विचारसे यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यप्राणीको परिस्थिति और योग्यतासे किसी अंशमें जकड़े हुए होनेके कारण समाजमे कुछ समयतक जातिविशिष्ट होकर रहना पड़ता है, परंतु सत्कर्म और सद्गुणोंके द्वारा वह जातिके बन्धनको तोड़कर बाहिर निकल सकता है और सर्व-स्वतंत्र-स्थिति प्राप्तकर सर्व श्रेष्ठवर्णका हो जाता है। अब धर्मके संबंधमें इसी गुरुकिल्लीका विचार इस परिच्छेदमें करेंगे।

जगत्का इतना भारी विस्तार देखकर प्रत्येक शास्त्रज्ञके मनमें यही आवेगा कि इसका वर्गीकरण कर इसकी व्यवस्था की जाय। चिठ्ठियोंके थैलेमें हजारों लोग भिन्न भिन्न गांवोंको भेजनेके लिये चिठ्ठियां डालते हैं, उन्हें निकालकर पोस्टके अधिकारी उनका वर्गीकरण करते हैं। एक गांव, एक प्रान्त, एक इलाखा और अंतमें एक प्रदेशमें जानेवाली चिठ्ठियोंको न्यारी न्यारी थैलियोंमें बंद कर फिर उन सब थैलियोंको एक देशकी थैलीमें भर देते हैं और इस तरह थैलेमें डाले हुए अस्तव्यस्त दिखनेवाले पत्रोंका संबंध हो जाता है। इसी प्रकार जगतमें दिखनेवाले असंख्य और अनंत पदार्थोंका कार्यकारण भाव मिलानेकी ओर शास्त्रज्ञोंकी प्रवृत्ति होती है। रसायन शास्त्री रासायनिक पदार्थोंकी परीक्षा कर उनमें मिश्रित द्रव्योंका निश्चय करता है। पदार्थ-विज्ञान शास्त्री पदार्थोंकी शक्तिका वर्गीकरण कर उनमें उष्णता, विद्युत वगैरह आद्य शक्तियां कितनी है यह निश्चित करता है। इसी प्रकार धर्मशास्त्री जगत्का आदिकारण ढूंढकर उस कारणसे कार्यका क्या संबंध है? और यह संबंध किस

प्रकारका होना चाहिये ? इसकी चिकित्सा करता है। यह धर्मका स्थूल कार्य कहा जा सकेगा। इसके सूक्ष्म भेद करने पर केवल जगत्के आदिकारणकी चिकित्सा करनेवाला शास्त्र तत्वज्ञान, केवल आचरणको प्रधानता देनेवाला भाग आचार शास्त्र आदि अनेक प्रकारके भेद होंगे। परंतु धर्मका सर्व-साधारण लक्षण ऊपर कहे अनुसार यही हो सकेगा, कि जो जगत्के आदि कारण और उससे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिके संबंधका नियमन करे। धर्मके इस लक्षणसे प्राचीन पंडितों द्वारा किये हुए धर्मके लक्षण कहांतक मिलते हैं इसकी यहां तुलना करना उचित होगा।—

जगत्का जितना इतिहास उपलब्ध है उसपरसे मालूम होता है कि पहिलेसे इस बातपर विचार होता रहा है कि जगत्का कोई आदिकारण है और उसका सर्व जगतसे संबंध है। इस कार्य-कारण संबंधको धर्म कहना या नहीं, इसकी चिकित्सा भिन्न भिन्न पंडितोंने की है। जर्मन तत्ववेत्ता इमॅन्युअल कॅटने कहा है कि "नीतिशास्त्रही धर्म है। परमेश्वरने मनुष्यके व्यवहारके लिये नीतिके नियमोंका जो एकीकरण किया है वही धर्मशास्त्र है"। कॅटकी इस व्याख्यासे यह सिद्ध होता है कि जगत्का आदिकारण परमेश्वर है वही संपूर्ण नीतितत्त्वका पर्याप्तकारण भी है। और इसीलिये उसकी नीतितत्त्वकी आज्ञापर मनुष्यका संबंध अवलंबित है। अर्थात् नीतिपूर्ण व्यवहार करना ही परमेश्वरकी आज्ञा पालन करना है अथवा धर्मका आचरण करना है।

इस व्याख्याके बिलकुल विरुद्ध व्याख्या कॅटके बाद होनेवाले जर्मन तत्ववेत्ता फिक्टेने की है। वह लिखता है कि धर्मका और व्यवहार अथवा आचारका कुछ अभेद्य संबंध नहीं है। आचार अथवा व्यवहारकी सुव्यवस्था करनेका काम नीतिशास्त्रका है धर्मका विषय ज्ञान है। जगतके आदि कारणका और जगतके संबंधका ज्ञान ही धर्म है।"

तात्त्विक कल्पना और व्यवहारके अनुरोधसे की हुई इन दो भिन्न व्याख्याओंके समान दूसरे एक तत्वके अनुरोधसे दो भिन्न भिन्न व्याख्याएं अन्य पंडितोंने और की हैं। उनमें "श्लायर मेकर" नामक तत्वज्ञने यह व्याख्या की है कि जिसके द्वारा अपना (मनुष्यके) नियमन होता है परन्तु जिसका ग्रहण मनुष्य नहीं कर सकता ऐसे बाह्य तत्वपर संपूर्णतया अवलंबित रहना ही धर्म है। यह व्याख्या पढ़ने पर भौतिक-शास्त्रके गत प्रकर-

णमें जो बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्यकी की हुई आत्माकी व्याख्याका प्रमाण दिया है उसका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। याज्ञवल्क्यका भी यही कहना है कि " यःपृथिवी अंतरायमयतियं पृथिवीन् वदे। " अर्थात् जो संपूर्ण पृथिवीका अंतरसे नियमन करता है परंतु पृथिवी जिसे नहीं जानती वह आत्मा है। परंतु इस व्याख्यापर प्रतिपक्षियोंका यह आक्षेप है कि यह व्याख्या ठीक नहीं है क्यों कि इसमें परतंत्रताका तत्त्व गर्भित है। उस वस्तुपर जिसके स्वरूपका अपनेको ज्ञान न हो सके अवलंबित रहना एक प्रकारसे अपनी स्वतंत्रता नष्ट करना है। और यदि यही धर्म है तो फिर कुत्ताको सबसे अधिक धर्मात्मा मानना पड़ेगा। इस प्रकारके आक्षेप करनेवालोंका जिनका मुख्य पुरस्कर्ता हेगेल है कहना है कि पूर्ण स्वातंत्र्यका ही नाम धर्म है। सृष्टिके अपरिमित ज्ञात तत्त्वका परिमित प्राणियोंके द्वारा व्यक्त होना अर्थात् उनका निज स्वभावानुसार पूर्ण स्वतंत्र रहना ही धर्म है।

इन दोनों व्याख्याओंमें भी सृष्टिके ज्ञात तत्त्वको गृहीत किया है। और साथ ही साथ उस ज्ञाततत्त्वको अज्ञेय भी माना है। इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण वादी उस तत्त्वको नहीं मानते। उनका कहना है कि जिसका जानना कठिन है वह माना कैसे जाय? इसलिये इन भौतिक ज्ञान-वादियोंके अगुआ मि० कॉटने ज्ञात तत्त्वके स्थानपर मानव समाजकी प्रतिष्ठापना की है। कॉटने कहा है कि अच्छे कार्य करना धर्माचरण माना जाता है अतएव ज्यादहसे ज्यादह मनुष्योंकी सेवा करना और उपकार करना ही धर्म है। सबसे ज्यादह मनुष्योंकी समाज मानव समाज है। इस समाजको छोड़कर अव्यक्त और अकल्पनीय परमेश्वरकी ओर झुकनेकी आवश्यकता ही क्या है?। फॉयर बॅकने इसके भी विरुद्ध धर्मकी कल्पना की है। कॉटने तो ईश्वरको त्यागकर मानव समाजको धर्मका आदिस्थान माना और इस प्रकार वह अध पतनकी एक सीढ़ी नीचे उतरा, परंतु फॉयर बॅक उससे भी नीचे उतरा है। उसका कहना है कि, धर्माचरण परोपकार आदि सब कल्पनाएँ निजसुखके लिये हैं। जिस प्रकार किसी क्षुद्र वस्तुकी प्राप्तिसे क्षुद्र मनुष्यको आनंद होता है उसी प्रकार दूसरे की सहायता करनेसे श्रेष्ठ मनुष्यको आनंद होता है, परंतु दोनोंका साध्य निज सुख ही है। अतएव मनुष्यको ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे निजसुखकी प्राप्ति हो। यही धर्म है। और इसीलिये मनुष्य ही मनुष्यका देव है।

धर्मके संबंधमें ऊपर दिखलाई हुई अनेक कल्पनाएँ हैं। इन सबकी जड़में एक यह बात अवश्य है कि सृष्टिका कोई न कोई आद्यतत्त्व है। उस आद्यतत्त्वका और सृष्टिका संबंध जानकर उस तत्त्वके अनुसार आचरण करना ही धर्म है। ऊपरकी कल्पनाओंमेंसे यदि फॉयरबैककी कल्पना निरुपयोगी समझकर छोड़ दी जाय तो भी कॉटकी व्याख्या अवश्य विचार करने योग्य है क्यों कि उसके अचिन्तनीय परमेश्वरकी कल्पनाके स्थानपर मूर्तिमान मानव समाजकी स्थापना करनेके कारण बहुतसे विचारवान लोगोंमें मतभेद होनेकी संभावना है। समाजरचनाके प्रकरणमें कॉटके मतका प्रतिपादन करते हुए हम बतला चुके हैं कि वह मानव समाजको एक दूसरेसे पृथक् असंख्य मनुष्य प्राणियोंका समूह न मानकर एकात्मक चैतन्य रूप ही मानता है। भिन्न भिन्न कार्य करनेवाली और प्रत्यक्षमें पृथक् दिखनेवाली शक्तियाँ जिस प्रकार एक ही प्राणशक्तिसे प्रेरित होती हैं उसी प्रकार मानव समाजकी दशा है, यह मि. कॉटकी कल्पना है। इस प्रकार एक ही चैतन्यसे प्रेरित "अनेक बाहूदरवक्त्रनेत्रं" अनंत बाहु, उदर, मुख, नेत्र आदि सहित मानव समाजका विश्वरूप देखकर और उसे ही परमेश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित कर भगवद्गीताके अर्जुनके समान "ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा" हो कॉट विश्वसेवात्मक धर्मका उपदेश देने लगा। उसकी इस विचारसरणीको आधुनिक भौतिक विचारसरणी बहुत अनुकूल हुई। कॉटने सोचा कि मनुष्यने परमेश्वरका आश्रय इसी लिये लिया है कि जिससे वह बुद्धिके अगम्य चमत्कार किसी कर्तृत्वकी कल्पनासे समझ सके। और यह समझ सब जगह पाई जाती है कि अगम्य वस्तुओंका कर्ता अपने ही समान परंतु अपनेसे श्रेष्ठ कोई न कोई होना चाहिये। अर्थात् सृष्टिके आरंभकालसे ही सृष्टिके जिन जिन चमत्कारोंका प्रश्न हल नहीं होता था उन उन बातोंमें उस समयके लोगोंने परमेश्वरकी कल्पना की। परंतु अब धीरे धीरे भौतिकशास्त्रकी सहायतासे उन चमत्कारोंका रहस्य प्रगट होने लगा है। निरंतर मंदगतिसे चलनेवाली वायुको झंझावातका रूप धारण करते हुए, धान्य पकानेके लिये तथा उष्णकालका ताप शांत करनेके लिये मोतियोंकी बिंदुओंके समान पड़नेवाली जलधाराको हाथीकी सूंडके समान मूसलधार पृथ्वीपर पड़ते हुए, शांत, गंभीर और कांचके समान जिसका पृष्ठभाग होता है उस समुद्रकी लहरोंको पर्वतके समान पृथ्वीके प्रलयकालका रूप धारण करते हुए, प्रतिदिन नियमानुकूल

निश्चित रीतिसे प्रकाशित होनेवाले चन्द्रमाको किसी पौर्णिमाके दिन (ग्रहणके समय) काला होते हुए और खिले हुए फूलोंके समान तारागणोंसे युक्त आकाशमें एक प्रचंड मच्छीके समान धूम्रकेतुको उदय होते हुए देखनेसे शास्त्रीयज्ञानके अभावमें मनुष्यने परमेश्वरके कर्तृत्वकी कल्पना की होगी । परंतु जब यह ज्ञान हो जाता है कि यह सब सृष्टिके चमत्कारोंके ही नमूने हैं, इनमें ऐसी कोई बात नहीं है जो अगम्य और अतर्क्य हो तथा इनका हाल मानव बुद्धिसे समझा जा सकता है तब उन चमत्कारोंके कारण परमेश्वरकी भ्रांति-पूर्ण कल्पनाको कोई आधार नहीं रहता और मानव समाजकी बुद्धि-पर ही आश्चर्य होने लगता है । जब परमेश्वरके साम्राज्यके एक एक प्रदेशपर मनुष्य इस प्रकार क्रमशः अधिकार करने लगेगा तब जल बुदबुदवत् अथवा रुईके फोयेके समान परमेश्वरकी कल्पना नष्ट हो जायगी । यह कॉटका धर्म-विषयका सिद्धांत है ।

कॉटके इस सिद्धांतके अनुसार अन्तिम दशापर पहुँचनेके पहिले मनुष्यको चार अवस्थाओंमें भ्रमण करना पड़ता है जिनमें पहिली अवस्था चिन्ह पूजा है । ऊपर बतलाये अनुसार सृष्टिके भिन्न भिन्न अगम्य रूपोंका मनुष्य आकलन नहीं कर सकता उन्हीं रूपोंको वह देव मानने लगता है यह उसकी चिन्ह पूजा है । नदी, पर्वत, समुद्र, वर्षा आदि सबोंमें प्राण है, बुद्धि है और इनकी सहायतासे ही जगतमें वे कार्य करते हैं, यह मानना मानवीय धर्म-बुद्धिकी पहिली अवस्था है । चिन्ह पूजाके लिये कॉटने " फेटिशिझम् " शब्दका उपयोग किया है । फेटिश शब्द मूलसे पोर्चुगीज भाषाका है । इसका अर्थ है कृत्रिम चिन्ह । आफ्रिका वगैरह जंगली प्रदेशोंमें बहुत प्रवास कर वहाँके रहवासियोंमें धार्मिक बुद्धिके चिन्ह कौन कौनसे हैं, इसकी खोज करनेवाले दि ब्रोसस् नामक एक गृहस्थने "फेटिशिझम्" नामका एक ग्रंथ लिखा जो ई॰ स॰ १७६० में प्रकाशित हुआ है । तबसे यह शब्द और यह कल्पना प्रचारमें आई है । दि ब्रोसस्ने अपने ग्रंथमें-'किसी जाति विशेषके लोगोंका पदार्थोंको पूज्य मानना ' यह फेटिश शब्दका अर्थ बतलाया है । पदार्थोंकी पूजाके उदाहरणमें उसने लिखा है कि जैसे वृक्ष, पर्वत, समुद्र, लकड़ीका टुकड़ा सिंहकी टूटी हुई पूंछ, नाग, पत्थर, सीप, मच्छी, लता, पुष्प, गाय, बकरा हाथी आदि पदार्थ वा प्राणियोंको देव मानना उनकी पूजा करना, उनमें

आगे यज्ञ करना, प्रार्थना करना और महत्वके अवसर पर नैवेद्य लगाना पदार्थ पूजा है।*

परंतु जब बुद्धिके विकासके कारण मनुष्यको इन पदार्थोंका वास्तविक मूल्य मालूम हो जाता है जैसे झाड़का गिरना, पत्थरका फूट जाना, प्राणियोंका मरना, नदीका सूख जाना आदि तब वह अपनी भूल समझने लगता है। और वह इन पदार्थोंको प्रत्यक्ष देव न मानकर इनमें वास करनेवाले देवोंको भिन्न भिन्न रूपसे मानने लगता है। इस प्रकार हजारों देवोंकी कल्पना प्रचलित होती है। यह कल्पना मनुष्यके द्वारा ही प्रचलित होनेके कारण वह अपने ही समान देवोंमें भी रागद्वेषादि विकारोंकी कल्पना करता है। इस स्थितिको कॉटने अनेक देवपूजा अथवा 'पॉलिथीज़म्' कहा है।

कुछ समयके बाद इस कल्पनाकी भूल भी समाजके ध्यानमें आने लगती है। जब मनुष्य, सृष्टिके तत्त्वोंमें एक दूसरेकी घटती बढ़ती देखता है तब उन तत्त्वों संबंधी देवोंमें भी वह उच्च नीचकी कल्पना करने लगता है और फिर सबमें श्रेष्ठ किसी एक देवको मान कर बाकीके देवोंको उसीके भिन्न भिन्न रूप मानने लगता है। और इस प्रकार एक देवपूजाका प्रचार प्रारंभ होता है। यह मानव बुद्धिकी तीसरी अवस्था है। कॉट कहता है कि इस अवस्थामें भी सृष्टि चमत्कारों के हृदयका पूर्णतया आकलन न होनेके कारण इच्छा-शक्ति-युक्त कर्ताकी इच्छासे एक देवत्वकी कल्पनाका आश्रय करना पड़ता है। परन्तु जब भौतिक-शास्त्र, परमावधिको पहुंचकर सृष्टिके रहस्यका उद्घाटन करने लगता है

---

* These fetishes are any thing which people like to select for adoration; a tree, a mountain, the sea, a piece of wood, the tail of lion, a pebble, a shell, a fish, a plant, a flower, certain animals such as cows, goats, sheep, elephants or any thing like these. These are the gods of the Negroes. The Negro offers them worship............performs sacrifices............ addresses prayers to them and consults them on great occasions.

"The Cult of the Fetish" by De Brosses.

और मनुष्यकी सामुदायिक बुद्धिका महत्त्व मनुष्य जानने लगता है तब वह परमेश्वरकी झूठी कल्पनाके आश्रयको तोड़ डालता है और जनताहीको सर्व श्रेष्ठ आधिभौतिक (Positivism) धर्म मानने लगता है। यही धर्म बुद्धिकी परमावधि है।

ऊपर कही हुई विचारसरणीमें परमेश्वरकी कल्पनाको कहीं भी स्थान नहीं है। अठारहवीं शताब्दीसे ज्यों ज्यों भौतिक-शास्त्रकी प्रगति होने लगी त्यों त्यों बहुतसे विद्वानोंकी विचारसरणी इसी प्रकारकी होने लगी और वे अनीश्वर वादी होने लगे। इसी विचारसरणीको शास्त्रीय-रूप देकर कॉम्टने व्यवस्थित रीतिसे जमाया। अब यह देखना उचित है कि कसौटीपर यह कहाँतक उतरती है। यदि यह कल्पना भ्रम पूर्ण हुई तो फिर परमेश्वरके अस्तित्वकी कल्पनाका विचार भी करना पड़ेगा।

चिकित्सा करनेसे यह बात मालूम होगी कि कॉम्टने धर्म-विचारके स्थित्यंतरोंका जो क्रम नियत किया है और उस परसे मनुष्य समाजकोही सर्व श्रेष्ठ एवं सेव्य वस्तु माना है सो भ्रम-पूर्ण है। इस भ्रमकी जड़में एक तत्त्व है। कॉम्टका तर्कशास्त्र संक्षेपमें इस प्रकार है कि मनुष्य जिस समय धर्म-विचारकी सीढ़ियोंपर चढ़ने लगता है उस समय उसका सेव्य विषय स्थूल ही होता है। पहिली सीढ़ीपर वह चिन्ह पूजा अथवा मूर्तिपूजा अर्थात् स्थूल और दृश्य वस्तुहीकी पूजा करता है। दूसरी सीढ़ीपर चढ़नेपर भी स्थूल पदार्थोंमें शक्तिकी कल्पना कर उन्हें ही देव मानता है। तीसरी सीढ़ीपर उस शक्तिका यद्यपि वह एकीकरण करता है तो भी वह शक्ति भी आधिभौतिक ही होती है और अतमें उस शक्तिका कर्तृत्व मानव समाजमें है यह जानकर वह मानव समाजहीको परमेश्वर मानने लगता है। अर्थात् आरंभसे अंततक मनुष्य, सर्व कल्पनाओंका अधिष्ठान स्थूलमें ही समझता है। यही कॉम्टकी विचारसरणीमें भूल है। किसी भी धर्मके इतिहासको देखनेसे यह बात सच नहीं मालूम होती कि मनुष्य स्थूल भूमिकापर प्रतिष्ठित पदार्थोंको मानता हो। किंतु धर्मोंके इतिहाससे यही प्रकट होता है कि प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समयमें मनुष्यके श्रेयकी कल्पना अतीन्द्रिय भूमिकापर ही अधिष्ठित रहती है। धर्म कल्पनाके प्रारंभकालमें देखनेपर विदित होता है कि जिस समय मनुष्य, वृक्ष, लता, पाषाण आदि चिन्होंकी अथवा मूर्तिकी पूजा करता है उस समय क्या वह उन पदार्थोंको वृक्ष, लता, पाषाण अथवा पत्थर मानकर ही

करता है ? यदि वह वृक्ष पाषाणादि मानकर ही पूजता है तो तोड़कर जलानेको लाये हुए वृक्ष, पाताणेमें जमा हुआ पत्थर आदिको क्यों नहीं पूजता ? किसी राजा अथवा साधुका कागजी चित्र और राष्ट्रीय ध्वजासे अंकित कपड़ेकी चिंदी क्या कागज और चिंदीके कारण पूजी जाती है ? इसका उत्तर सिवाय नहींके और क्या हो सकता है ? इन वस्तुओंमे रहे हुए परमेश्वरीय अंशकी कल्पनाही को लोग मानते और पूजते हैं। इस संबंधमें प्रसिद्ध विद्वान पंडित मेक्स मूलरने इस प्रकार उद्गार निकाले हैं कि "वृक्षमें भी आदरणीय और आश्चर्यजनक तत्व है। जिस समय लोग वृक्षकी पूजा करते हैं उस समय उसमे रहे हुए अंतर्गत तत्त्वको ही वे मानकर पूजते हैं। इसी प्रकार गगन चुंबित पर्वत, बड़ी बड़ी नदियां, सूर्य चंद्र आदि तेजोगोल आदिको भी उदार तत्त्वके कारण ही लोग आदरणीय मानते हैं। ज्ञात और मूर्त पदार्थोंके द्वारा मनुष्यको अज्ञात और अमूर्त परमेश्वरकी कल्पनाका ज्ञान होता है। * इसी प्रकार तत्ववेत्ता कार्लाइलने भी अपनी "विभूति पूजा" नामक ग्रंथमें कहा है कि पूर्वकालीन लोगोंको हरित तृणाङ्कुर युक्त भूमि, वृक्ष, पर्वत, नदी, मेघ, महासागर आदि सब परमेश्वरके तेजके चिन्ह प्रतीत होते थे। आधिभौतिक ज्ञानसे फूले हुए हम लोगोको उन लोगोंकी मान्यताका मूल्य नहीं मालूम होता। और यह क्यों ? इस लिए नहीं कि हमें इन सब वस्तुओंका वास्तविक ज्ञान हो गया किंतु हमे इनका बिलकुल ज्ञान न होते हुए भी ज्ञान हो गया है, यह बतलानेवाली प्रतिनिषिद्ध मूर्खताके कारण। × भगवद्गीतामें भी परमेश्वरकी व्यक्त और अव्यक्त अथवा सगुण और निर्गुण रूप उपासनाके संबंधमें कहा है कि —

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां, अव्यक्तासक्तचेतसाम्' भावार्थ परमेश्वरका वास्तविक स्वरूप अव्यक्त है, परंतु मनुष्यकी स्थूल बुद्धिकी पहुँच एकदम सूक्ष्म तेज वस्तुके ग्रहण करने तक न हो सकनेके कारण चिन्होंमें वह उस तेजकी स्थापना करता है। इसी अर्थका और भी अधिकतया बोध कराने वाला योगवाशिष्ठका एक श्लोक गीता रहस्यमें दिया है कि:—

* Maxmuller's " Lectures on the Origin of Religion " Lecture IV.

× Carlyle's 'Heroes and Hero-worship,' chapter I.

अक्षरावगमलब्धये यथा। स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।

शुद्धबुद्ध परिलब्धये तथा। दारुमृण्मय शिला मयार्चनम्॥

अर्थात् (छोटे बालकोंको) जिस प्रकार चित्र बना बना कर अक्षर ज्ञान कराया जाता है। उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध परमेश्वरका ज्ञान होनेके लिये लकड़, मिट्टी, पत्थर, अथवा मूर्तिकी उपासना की जाती है।

सारांश यह है कि चिन्ह पूजाके समय लोग उसमें रहे हुए तत्त्वोंहीकी पूजा करते हैं। परन्तु कॉंट जिस समय मानवीय समाजको ही पूजाका स्थान मानता है उस समय उसमें वह दैवी अथवा अतीन्द्रिय अंशकी कल्पना न कर केवल कार्य शक्तिका उत्कर्ष स्थान कह कर ही उसका महत्त्व प्रतिपादन करता है। अर्थात् इन दोनों कल्पनाओंमें तत्त्व भेद है। एकके आदरका स्थान दैवी है और दूसरीका भौतिक। यह तत्त्व भेद कॉंटके ध्यानमें न आनेके कारण उससे यह भूल हुई है। व्यवहारमें भी यह भूल अनुभवमें आती है। कॉंटके मतानुसार यदि मानव समाजहीको पूजाके योग्य मानें तो कोई भी एक मनुष्यके लिए एक समयमें सम्पूर्ण मनुष्य समाजकी सेवा करनी अशक्य है। अब कल्पना करें कि भूँख प्याससे व्याकुल मनुष्यको एक मनुष्यने अन्न अथवा पानी देकर सुखी किया तो यही माना जायगा कि उसने मानव समाजके एक बहुत सूक्ष्म भागकी सेवा की। और यदि त्रैराशिक लगाकर हिसाब जोड़ा जाय तो उसे अपने किये हुए सत्कृत्यके बदलेमें पुण्य और संतोष बहुतही कम होगा। और फिर उस उपकारका करना न करना समानही होगा। परंतु दु खी मनुष्यमें दैवी अंश मानकर यदि उसकी सेवा की जायगी तो सेवा करनेवालेको उससे पूर्ण समाधान होगा। बाइबिलमें इसी भावको प्रगट करनेवाली योशु क्राइस्टकी एक छोटीसी कथा है वह बहुतही अर्थपूर्ण है। वह इस प्रकार है कि "एक बार यीशु एक मन्दिरमें गया हुआ था वहाँ एकत्रित मनुष्य गरीबोंकी सहायतार्थ भिक्षापात्रमें पैसे डाल रहे थे। एक धनी गृहस्थने उस पात्रमें एक हजार रुपे डाले। और एक गरीब स्त्रीने एक रुपया डाला। उस समय यीशुने कहा की श्रीमंतके एक हजारकी अपेक्षा गरीब स्त्रीका एक रुपया अधिक मूल्यवान है। क्योंकि स्त्रीके पास यही एक रुपया है और इस दृष्टिसे उसने अपना सर्वस्व दान कर दिया है। और श्रीमतने अपनी पूंजीका थोडासाही हिस्सा दिया

। यद्यपि उस धनीके दानसे मानव समाजके अधिक भागका लाभ हो ता था। परन्तु जिस परमेश्वरीय भावनासे दान किया जाता है उस भाव-की तीव्रता सर्वस्व दानमें-फिर चाहे वह एक रुपया हो या हजार रुपया -अधिक है। और इसी लिये उस स्त्रीके एक रुपेके दानका मूल्य भी अधिक है। इस तुलनामें तत्त्व यह है कि परोपकार, दया, प्रेम, आदर भक्ति आदि मिक विकार जो उत्पन्न होते हैं वे केवल पदार्थके बाह्य स्वरूप परसे उत्पन्न हो कर उसके अंतर तत्त्वके कारण उत्पन्न होते हैं। उस बाह्य रूपके द्वारा पदार्थके अंतर तत्त्व की पूजा की जाती है। सुंदर फूल देखनेसे जो नंद उत्पन्न होता है उसकी जड़में सृष्टिकर्ताके कर्तृत्वका आश्चर्य भी ाया हुआ रहता है। उत्तम चित्रको देखनेपर जो आनंद होता है वह के रंगोंके कारण नहीं होता। रंगोंसेही होता तो किसी एक ाज पर यों ही रंग चिपका देनेसे भी हो सकता था। किंतु उस चित्रके ा अंतःकरणमें जो उदार और श्रेष्ठ कल्पनाएं उत्पन्न होती हैं उनसे होता । अंग्रेजीमें एक कहावत है कि Things more excellent an any symbol are seen through symbols अर्थात् नें अथवा चिन्होंके द्वारा उनसे भी अधिक सुंदर वस्तु दिखलाई ती है। जगत्‌की प्रत्येक सुंदर, श्रेष्ठ और उदार वस्तुओंसे संबंध रखने-ही अपने मनकी उदात्त भावना उस वस्तुमें रहे हुए ईश्वरत्वकी साक्षी है। इसी लिये भगवद्गीतामें कहा है कि,

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वम् मम तेजोंऽशसंभवम्॥

भावार्थ हे अर्जुन, तूं यही समझ कि पृथ्वीपरकी प्रत्येक विभूति और ोमय उदात्त वस्तु मेरे ईश्वरीय अंशसे युक्त है।

इस प्रकार परमेश्वरके स्थानपर मानव समाजकी प्रतिष्ठा करनेवाली कौंटकी ार सरणीकी प्रथम भूल है। उसकी दूसरी एक भूल और है। उसके मता-ार मानव समाजको ईश्वरके स्थानपर मान लेनेसे ही काम हो जायगा र लोग उसकी पूजा करने लगेंगे। पत्थरको सिंदूर लगा देनेसेही उसकी ा अर्चा होने लगेगी? परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। मनुष्यके अंतःकरणमें ्मय उत्पन्न करनेवाला जो गुण परमेश्वरमें होता है वैसा गुण और प्रत्येक रिमें सर्वश्रेष्ठ माने हुए ईश्वरकी कल्पनामें चित्तको सद्गुणोंके उत्कर्षसे स्तंभित

करनेवाली जो सामर्थ्य होती है वह सामर्थ्य मानव-समाजमें जब तक न हो तब तक उसे कोई माननेको तैयार न होगा। दूसरे मानव समाजका ध्यान किया किस तरह जा सकता है ?। भिन्न भिन्न व्यक्तियोंका संकलित रूपसे तो ध्यान हो नहीं सकता। और इस लिये कार्लाइलके कथनानुसार मानव समाजमेंसे सर्वोत्तम व्यक्ति चुनकर उसकी पूजा करना ही शक्य हो सकता है। परंतु यह मार्ग पूर्ण दिखलाई पड़नेपर भी अपूर्ण ही रहेगा। कोई भी पदार्थ सृष्टिकर्ताके समान परिपूर्ण नहीं हो सकता। अतः जिसे पूर्ण मानते थे वह जब समय पड़ने पर अपूर्ण मालूम होगा तब माननेवालोंकी कितनी निराशा होगी ?। और उसे जिसे अगाध समुद्र मान रहे थे समय आनेपर पानीके डबकेके समान क्षुद्र सिद्ध हो जानेपर फिर उसके संबंधमें कितना उत्साह शेष रह सकेगा ? सारांश यह है कि उस समय अपरंपार निराशा होगी। अतएव यदि इस प्रकारकी कल्पना नहीं होगी कि जगतका नियन्ता, अनाथोंका नाथ, दुष्टोंका शास्ता, सज्जनोंका आधार, सत्यका रक्षक, असत्यका शत्रु, कृमिकीटकसे लेकर हाथी तक कूट कृतियोंपर ध्यान देकर न्याय करनेमें समर्थ परमेश्वर है तो सम्पूर्ण जगत अंधकारमें निमग्न हो जायगा। यह बातें करनेकी सामर्थ्य मनुष्य समाजमें नहीं है अत. यह परमेश्वरका स्थान लेनेके भी योग्य नहीं हो सकता।

इसके सिवाय और विचार करने पर इस प्रकारके प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि क्या मनुष्य समाज, नामक कोई एकात्मक पदार्थ है ?। कॉट इस प्रश्नका उत्तर देता है कि 'है'। प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस प्रकार है ?। वह फिर उत्तर देता है कि सेन्द्रिय प्राणियोंके समान वह भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा कृति करता है। यदि यह बात ठीक है तो कलिडोस्कोप अथवा सिनेमेटोग्राफ नामक यंत्र जो एक समयमें विविध प्रकारके चित्र दिखलाता है को भी एकात्मक कहना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा भी कागजके अनेक टुकड़े भिन्न भिन्न कार्य करते हुए एक ही चित्र रूपसे दिखते हैं। सो जिस प्रकार यह यंत्र एकात्मक सजीव प्राणी नहीं माना जा सकता उसी प्रकार मानव समाज भी एकात्मक नहीं माना जा सकता। कॉट फिर कहता है कि आजतक उपलब्ध हुए ज्ञाननिधिके कारण मानव समाजको श्रेष्ठत्व प्राप्त हुआ है। यदि यह ठीक है तो यही ज्ञान अपनेको उत्क्रान्तिके द्वारा यह सिखाता है कि मनुष्य प्राणी बंदरके द्वारा उत्पन्न हुआ है तो क्या

बंदरको ज्ञानका निधि मानकर परमेश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित करनेको मनुष्य समाज तैयार है ?।

इस आक्षेपके सिवाय कॅटके विचारसरणीपर एक सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि यदि कॅटका ही कहना सच माना जाय तो किसी विभूतिरूप मनुष्यके लिये भी जो बातें अगम्य होंगी उनका कर्तृत्व परमेश्वरके अभावमें किसके ऊपर रहेगा। ? समय, दिशा आदि मनुष्यको मर्यादित करती हैं ?। परंतु इन्हें मर्यादित करनेवाला कौन है ?। सजीव पदार्थोंमें प्राण उत्पन्न कौन करता है ?। Men can make a box, can they make a tree ? मनुष्य लकड़ीसे पेटी बना सकते हैं, पर क्या वे वृक्ष भी बना सकते हैं ?। इन प्रश्नोंका यह एक ही उत्तर होगा कि मनुष्यमें व्यक्तिशः अथवा समष्टिशः यह सामर्थ्य नहीं है। ऐसी दशामें कॅटकी विचारसरणी भ्रमपूर्ण सिद्ध हो जाती है। अर्थात् परमेश्वरने फैलाये हुए चौपड़के खेलमें मनुष्यका महत्व चौपड़की सारसे अधिक नहीं है और इस लिये वह खेलनेवालेका स्थान प्राप्त नहीं कर सकता।

हिंदुस्थानमें इस बातको बहुत महत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस देशमें मानव समाजको ही ईश्वरके स्थानपर बैठानेवाला कॅटके समान पक्ष अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। परंतु यूरोपमें कॅटके द्वारा आधिभौतिकशास्त्रकी अमर्यादित तर्क जो प्रचारित हुई है उसकी यहां परीक्षा करनेपर यह प्रगट हो जाता है कि वह कसौटीपर ठहरने लायक नहीं है। अब यहाँपर परमेश्वरके अस्तित्वका ज्ञान किस प्रकार और कितना होता है इसका विचार करना उचित होगा। क्योंकि इस प्रकरणके प्रारंभमें कहे अनुसार धर्मका स्थान यही है। उसका व मनुष्यका संबंध क्या है ! और उस संबंधके अनुरूप व्यवहार किस प्रकार करना उचित है इसका ज्ञान होना ही धर्मका मुख्य लक्षण और सार है। मेक्समूलरने भी धर्मकी व्याख्या इस प्रकार की है कि " जिसके द्वारा मनुष्यको अनेक रूप धारण करनेवाले सृष्टिके एक आवरणका ज्ञान हो वह धर्म है ॥ *

* Religion means a mental faculty which enables man.........to apprehend the Infinite under different names and under varying disguises.

Maxmuller's "Lectures on the Science of Religion"

कॅटकी विचार-सृष्टि द्वारा ईश्वरके स्थानपर प्रतिष्ठित मानव समाज, उस स्थानके अयोग्य सिद्ध होनेपर कॅटकी ही विचारसरणीके द्वारा ईश्वरके संबंधमें क्या ज्ञान होता है, यह यहाँ देखना है । ईश्वरके विरुद्ध पहिला हेतु यह है कि जब कि उसके स्वरूपका ज्ञान किसी मार्गके द्वारा नहीं होता तब उसकी मिथ्या कल्पना करनेमें कुछ सार नहीं है । इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि यह जो कहा गया है कि मनुष्यको ज्ञान होना शक्य नहीं है इस कहनेका प्रयोजन क्या ? मनुष्यको जो ज्ञान होता है वह इंद्रियोंके द्वारा होता है । गत एक प्रकरणमें ज्ञान होनेकी क्रियाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि मनुष्यकी इंद्रियाँ उनके द्वारा ग्रहण हो सकनेवाले पदार्थका संयोग करतीं हैं । फिर वह संस्कार बुद्धिपर संक्रमित होता है । और फिर मनुष्यको ज्ञान होता है । सारांश यह कि इस प्रक्रियामें ज्ञान होना संपूर्णतया इंद्रियोंपर अवलंबित है । इंद्रियोंमें यदि कोई इंद्रिय दुर्बल हुई तो उससे होनेवाला ज्ञान भी कम होता है या बिलकुल नहीं होता है। बहिरे मनुष्यको आवाज होनेका ज्ञान नहीं होता । अंधेको पदार्थके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता । लकवा मारे हुएको स्पर्शका ज्ञान नहीं होता। इसी तरह मनुष्येतर प्राणियोंको जिस श्रेणीका ज्ञान मनुष्यको होता है उस श्रेणीका नहीं होता। क्योंकि उसकी उनकी इंद्रियाँ मनुष्यकी अपेक्षा संख्यामें और शक्तिमें कम होती हैं । सारांश यह है कि मनुष्यका ज्ञान और तज्जन्य विश्वास उसकी इंद्रियशक्तिके कारण मर्यादित रहता है । अभी जितनी इंद्रियाँ हैं उससे यदि एकाध इंद्रिय मनुष्यमें ज्यादह होती तो उसे आजकी अपेक्षा ज्ञान भी अधिक होता । इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि इंद्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है उसके सिवाय दूसरी बातें प्राणी नहीं जान पाते । आधिभौतिक विचार सरणीका सिद्धांत है कि मनुष्यको इंद्रियोंके द्वारा जिस बातका ज्ञान नहीं होता वह असत्य मानी जाना चाहिये । परंतु व्यवहारमें यह सिद्धांत सत्य नहीं ठहरता । इसके संबंधमें कुछ उदाहरणोंपर विचार करना उचित होगा ।

१ अपने स्वत के अतिरिक्त इतर पदार्थोंका ज्ञान किस प्रकार होता है ?

मानलो कि अपने पास एक मेज है । उसके अस्तित्वका ज्ञान अपनेको किस प्रकार होता है ? और उस ज्ञानको अपन सत्य किस प्रकार मानते हैं ? जब अपन उसे देखते हैं और उसका स्पर्श करते हैं उस समय उसके अस्तित्वके संबंधमें जो जानकारी होती है वह अपने अंतः-

करणमें उत्पन्न होती है बाहिर नहीं होती। आंखकी पुतली नष्ट हो जाय तो मेजके पास होनेपर भी अपनेको उसका ज्ञान नहीं होगा। स्पर्शज्ञान शक्ति नष्ट होनेपर उसके स्पर्शका ज्ञान नहीं हो सकेगा और यदि सब इंद्रियाँ नष्ट हो जायँ तो पदार्थका बिलकुल ही ज्ञान न हो सकेगा। सारांश यह है कि यद्यपि पदार्थका ज्ञान सबसे पहिले अंतःकरणमें होता है तो भी उस मेजको अपन अपनेसे बाहिर-व्यतिरिक्त-पृथक् मानते हैं। नहीं तो उसके पृथक् होनेके विश्वासके सिवाय उसके पृथक्त्वके ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष साधन कोई नहीं है।

२ अपनेसे भिन्न मनुष्योंमें भी मन है, यह अपन किसपरसे ठीक मानते हैं?

—वास्तवमें देखा जाय तो न तो वह मन दिखता ही है और न उसका स्पर्श ही हो सकता है। यहांतक कि सूक्ष्मदर्शक यंत्रके द्वारा भी नहीं देखा जा सकता। और न रसायन शास्त्रकी सहायतासे कांचकी नलीमें उतारकर वस्तुके समान वह जाना ही जा सकता है। ऐसी अवस्थामें यदि आधिभौतिक विचारसरणीका आश्रय लें तो मनुष्य अपनेसे इतर मनुष्यके मनके अस्तित्वको कभी मानही नहीं सकेगा। परन्तु व्यवहारमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्यमें मनके अस्तित्वको जरूर मानीजाती है और वह भी एक कल्पना ही है। तो जब कि मनके अस्तित्वकी एक कल्पना मानी जाती है तो उसीके समान परमेश्वरकी दूसरी कल्पना माननेमें क्या हानि है?

३ यह अपन किस तरह मानते हैं कि स्थूल पदार्थोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है? उसी प्रकार पापवासना और दुष्टेच्छाओंकी अपेक्षा सद्वासना और सदिच्छाको श्रेष्ठ माननेका ज्ञान अपनेको किस तरह होता है?

वास्तवमें ये दोनों ही वासनाएँ मनकी ऊर्मियां हैं परंतु ये आधिभौतिक साधनोंके गम्य नहीं हैं। अतएव इनकी कल्पनाकर ऊंच नीच ठहरानेकी कोई तराजू भौतिक शास्त्रके पास नहीं है। परंतु जब कि व्यवहारमें उन्हें मनुष्य ऊंच नीच मानता है तो वह किस ज्ञानकी सहायतासे मानता है इसका कोई उत्तर नहीं है। ऐसी अवस्थामें केंटकी उक्त विचार सरणीके अनुसार तो इन बातोंको भी नहीं मानना चाहिये। और फिर नीतिशास्त्रकी भी कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। तथा नीतिशास्त्रके तत्वोंके परिणामोंको दिखलानेवाले साहित्यको भी जल समाधि देना होगी। इस प्रकार पितृभक्ति, पतिप्रेम, बंधुनिष्ठा, देशसेवा वगैरह व्यवहार अर्थरहित समझकर त्याज्य कर

देना होंगे। सारांश यह है कि यह सब बातें जानी नहीं जातीं किंतु मानी जातीं हैं और ऐसी दशामें अपन स्वीकार करते हैं कि आधिभौतिक ज्ञानके आगे भी मनुष्य विश्वासकी मर्यादा है।

४ जगतमें शक्ति (Force) नामक कोई तत्त्व है और उसका प्रमाण निश्चित एवं नियमित है, इसका ज्ञान अपनेको किस प्रकार होता है?

भौतिक शास्त्रज्ञोंका यह सिद्धांत बहुत महत्त्वका है कि जगत् में शक्ति नामक कोई पदार्थ है और उसका परिमाण निश्चित है। झाड़परके फल टूटते ही नीचे गिरते हैं इसका कारण क्या है? उत्तर होगा गुरुत्वाकर्षण। पृथ्वीके घूमनेपर भी मनुष्य उस परसे गिरते नहीं है इसका कारण? उत्तर होगा कि उसमें आकर्षण शक्ति है। लोह चुम्बक लोहेको आकर्षण करता है। क्यों? इसलिये कि उसमें शक्ति है। प्रश्न होता है कि ये शक्तियाँ क्या किसीने देखी हैं? या इन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान होता है?। इसका उत्तर सिवाय नहीं के और कुछ नहीं है। परन्तु आधिभौतिक शास्त्र इस शक्तिको और शक्तिके परिमाणोंको गृहीत करके ही आगे बढ़ता है, यदि वह ऐसा न करे तो जगतकी स्थिरता ही न रहने पावे क्योंकि शक्ति कम होने पर जगतके व्यवहार बंद हो जावेंगे और यदि शक्ति बढ़ गई तो जगत् कहां जावगा कह नहीं सकते। इसलिए शक्तिको नियत प्रमाण स्वरूप मानना ही पड़ता है। इस उदाहरणसे भी यही सिद्ध हुआ कि शक्तिको जाननेकी अपेक्षा मानते हैं। क्योंकि उसके जाननेके साधन नहीं हैं।

५ यह सिद्धान्त माना जाता है कि सम्पूर्ण जगत, आकर्षण और अपकर्षण नामक दोनों शक्तियोंके, पदार्थोंपर एक समयमें होनेवाले परिणामोंके कारण अस्तित्वमें है।

शास्त्रज्ञोंको इस तत्त्वका परिचय पद पद पर प्राप्त होता है। किसी लकड़ीके समान घन पदार्थमेंसे उसका टुकड़ा निकालनेमें इसी तरह उसे दबानेमें बहुत कठिनता होती है। क्योंकि उस पदार्थके परमाणुओंमें आकर्षण और अपकर्षण दोनों प्रकारकी शक्तियां हैं। क्रिया और प्रतिक्रिया रूपसे दृश्यमान होनेवाले परिणाम इसी द्वंद्वके कार्य हैं। बन्दूकमेंसे गोली छूट जानेपर बन्दूक पीछे हटती है इसका कारण भी यही है। प्रश्न होता है कि क्या ये सब शक्तियाँ प्रत्यक्ष दिखती हैं। स्पेन्सरसे यह प्रश्न पूछने पर उसने उत्तर दिया

था कि "यद्यपि यह ठीक है कि आकर्षण और अपकर्षणके परिणाम दिखलाई पड़ते हैं परन्तु उन शक्तियोंका रूप दिखना शक्य नहीं मालूम होता।"

६ भौतिक शक्तिकी मानी हुई कार्य-कारण-मीमांसा यह भी प्रत्यक्षमें नहीं दिखलाई देती। एक कारणसे कार्य उत्पन्न होते समय अमुक कार्य हुआ यह कहनेमें सिवाय कल्पनाके और दूसरी किसी बातकी सहायता नहीं होती। सदाचरणका अमुक अच्छा परिणाम हुआ, ऐसा कहते समय उसके कार्य-कारण-सम्बन्धकी कड़ी नहीं दिखलाई पड़ती; परन्तु उदाहरणों परसे उसके अस्तित्वकी कल्पना करते हैं। और इसी लिये Induction अथवा भूयोदर्शनसे किसी सिद्धान्तको ठहरानेकी पद्धति तर्क शास्त्रमें मानी गई है। यदि कार्य-कारणका सम्बन्ध स्पष्ट दिखता होता तो किसी भी चमत्कारके एकही बार देखने पर उसके सम्बन्धमें भ्रम बिल्कुल न रहने पाता परन्तु वह न तो दिखता है और न प्रत्यक्ष प्रतीतिमें आता है इसी लिये किसी चमत्कार को एक बार देखनेके बाद मनुष्य कुछ कल्पना करता है। और फिर अनेक बार उस प्रयोगको अपनी कल्पना के अनुसार होते हुए देखनेके बाद उस सम्बन्धको वास्तविक मान कर अपने मनको आपही समझा लेता है।

सारांश यह है कि ऊपर बतलाये हुए आधिभौतिक शास्त्रके सिद्धान्तोंमेंसे एक भी सिद्धान्त जब कि प्रत्यक्षतया इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं हो सकते और ऐसी दशामें भी भौतिक शास्त्रकी इमारत इन सिद्धान्तोंपर खड़ी करते हैं, तो फिर यह कहनेमें क्या सार है कि भौतिक शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाणके सिवाय दूसरे प्रमाण नहीं मानता। इसी तरह भौतिक शास्त्र द्वारा अग्राह्य कल्पना हमें मान्य नहीं है, यह कहनेमें भी कुछ सार नहीं है। भौतिक शास्त्रसे सिद्ध न होने पर भी जो हम, हमसे व्यतिरिक्त जगत् है, अपने सिवाय दूसरे मनुष्योंमें मन है, जड़ प्रकृतिकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, जगत्में दुरेच्छा, सुरेच्छासे बुरी है, जिसमें शक्ति नामक कोई वस्तु है, और वह नियमित प्रमाणमें है और कार्य-कारण सम्बन्धके सिवाय कारणसे कार्य नहीं होता है इन मूल सिद्धान्तोंको बिना प्रत्यक्ष प्रमाणके माननेको तैयार होते हैं तो इन सब सिद्धान्तोंके आदि कारण स्वरूप परमेश्वरको, आधि-भौतिक न होनेके कारण न माननेका जो केवल सिद्धान्त है वह निरर्थक ठहरता है।

ईश्वरके अस्तित्वके विरोधमें दूसरा हेतु यह है कि ईश्वर, मनुष्यकी बुद्धिको फँसानेके लिये जालके समान है। मनुष्यका यह स्वभाव है कि जिस चमत्कारका उसे बोध नहीं होता उसका कर्तृत्व वह अपने ही समान किसी दूसरी काल्पनिक व्यक्तिपर रखता है। इस नियमके अनुसार जब सृष्टिके अनेक रहस्य मनुष्योंको अगम्य दिखे तब उन्होंने अपने ही जैसे चैतन्य युक्त काल्पनिक व्यक्तिको उनका रचयिता माना और उसका नाम ईश्वर रखा। परन्तु शास्त्रीय पद्धतिसे जब इन रहस्योंका उद्घाटन होने लगता है तब ऐसे काल्पनिक कर्तृत्वकी आवश्यकता नहीं रहती और फिर परमेश्वरकी कल्पनाकी भी आवश्यकता नहीं होती। कॅंटका कहना है कि अपने समान काल्पनिक व्यक्तिपर कर्तृत्वका भार रखनेकी जो आदत मनुष्यमें पड़ी हुई है उसके कारण ईश्वर-रूपी भ्रमको बहुत कुछ आधार मिल जाता है। परन्तु कॅंटकी इस विचार सरणीसे ही ऊपर बतलाये हुए अनुभविक तत्त्वोंके कारण परमेश्वरकी असिद्धि न होकर किस प्रकार सिद्धि होती है यह थोड़ेसे विचारके बाद मालूम हो जायगा। यह जानकर पाठकोंको आश्चर्य होगा कि एक ही तत्त्वसे दो विरोधी परिणाम उत्पन्न होते हैं। अर्थात् जिस तत्त्वके द्वारा कॅंट ईश्वरका अस्तित्व असिद्ध करता है उसीसे हम अस्तित्व सिद्ध करते हैं। परन्तु हमारा कहना कहाँ तक ठीक है यह आगे चलकर प्रगट होगा।

जिस सिद्धान्तसे यह विवाद प्रारम्भ करता है वह दोनों पक्षोंको मान्य है। यह अनुभव प्रसिद्ध है कि जिस समय भौतिक ज्ञानकी वृद्धि नहीं हुई थी उस समय सृष्टिके चमत्कारोंका कर्तृत्व मनुष्य, काल्पनिक व्यक्तिपर रखते थे। भारत-वर्ष में जिस समय रेल्वे चलना शुरू हुई उस समय कई लोग उसके आगे नारियल, फल, फूल आदि चढ़ाते थे और मानते थे कि कोई अदृश्य शक्ति कार्य कर रही है। जिन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष देखी है ऐसे लोग अभी मौजूद हैं। इसका कारण यही है कि उस समय लोग, भाफकी शक्तिसे परिचित नहीं थे। इसी प्रकार लोह चुम्बकके असंख्य कणोंके सम्बन्ध में ज्ञान न होनेके कारण खंडालाके घाटपर जो एक चमत्कार हुआ था वह भी जानने लायक है। इस घाट पर एक बार एक इंजिनियर घोड़े पर बैठ कर जा रहा था कि एकदम घोड़ा अड़ गया। बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब वह आगे नहीं बढ़ा तब इंजिनियर साहब उतरे।

बस इंजिनियर साहब भी अड़ गये और उन्हें भी कदम बढ़ाना मुश्किल हो गया। मजदूरोंके फावड़ा, कुल्हाड़ी, गेंती आदि सामान भी वहांके वहीं अड़ गये, जमीनसे ऐसे चिपके कि कितने ही प्रयत्न करने पर न उठ सके। तब मजदूरोंने समझा कि यहाँ अवश्य कोई भूत है जिसने इंजिनियर वगैरह सबको पकड़ लिया है। बड़े सोच विचारके बाद इंजिनियरके दिमागमें चुम्बककी कल्पना आई उसने तुरन्त ही अपना पाँव बूटमेंसे निकाला और चलने लगा फिर उसने इसका रहस्य सबको बतलाया। इस उदाहरणसे यह बात मालूम होगी कि मूल सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु इस परसे अनीश्वरवादी जो यह कहते हैं कि इस उदाहरणके अनुसार जो बातें अभी शास्त्रके द्वारा हल न हो सकी हैं, वस्तुके कार्य-कारण सम्बन्धका जो पूर्ण ज्ञान न हो सका है इसी लिये मनुष्य ईश्वरको कर्ता मानते हैं सो यह कहना ठीक नहीं है। वे कहते हैं कि मनुष्यको अभी वस्तुओंके कार्य-कारण संबंधका ही सिर्फ ज्ञान नहीं हुआ है बाकी यह सब समझ गया है। अर्थात् श्रृंखलाकी केवल कड़ियांही जानना बाकी हैं नहीं तो सर्व श्रृंखलाका ज्ञान उसे हो ही गया है। परंतु अनीश्वरवादियोंका यह कहना ठीक नहीं है। जाननेकी मुख्य बात तो यही है कि सम्पूर्ण श्रृंखला ही किस प्रकार बनी। और यही उन्हें मालूम नहीं है। उदाहरणार्थ भौतिक शास्त्रवादी संतानके जन्मके संबंधमें सिर्फ यही नहीं समझते कि माता पितारूपी कारणसे संतान-जन्मरूपी कार्य कैसे हुआ? बाकी माता, पिता, बालक आदि सब समझते हैं। परंतु वस्तु स्थिति इससे भिन्न है। बालक क्यों हुआ और उसका व माता पिताका जन्म होनेमें क्या संबंध है इसका ज्ञान पहले और अवश्य होना चाहिये। शंकराचार्यके कहे अनुसार "कुत आयातः" कहांसे आया? के प्रश्नके पहिले "कस्त्वं?" तुम कौन इसका ज्ञान होना उचित है। यद्यपि स्त्री पुरुषके संयोगसे भौतिक शास्त्री, बालकोंकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया कह सकेंगे परंतु उस संयोगसे लड़काही क्यों उत्पन्न हुआ? और उसका साध्य क्या है? इन प्रश्नोंको वे हल नहीं कर सकते। एक दूसरे उदाहरणपर विचार करें, मान लीजिये कि मैं सुतारके औजार लेकर लकड़ीके टुकड़ेकी पेटी बनाने बैठा और लकड़ीके टुकड़े काटने व लोहेके कीले आदिके द्वारा जोड़ देनेसे पेटी बन भी गई। अब इस कार्यकी उत्पत्ति लकड़ी रूपी कारणसे हुई यह विश्लेषणशास्त्री सिद्ध करेगा परंतु वह यह नहीं बता सकेगा कि यह पेटी ही

अस्तित्वमें क्यों आई ?। क्योंकि शिल्पशास्त्र मेरी उस इच्छाशक्तिको नहीं
जानता है जिसके कारण यह पेटी मैंने बनाई है। उसी तरह मातापिताके
द्वारा लड़का उत्पन्न होनेमें जो एक बड़ी भारी इच्छाशक्ति कारणीभूत होती है,
उसका हिसाब अनीश्वरवादी नहीं करते। इसी प्रकार कार्य कारण परंपरा
ढूंढ़ते ढूंढ़ते जब आद्यतत्त्वतक जा पहुँचेंगे तब वह क्यों अस्तित्वमें आया यह
प्रश्न खड़ा ही रह जायगा और वहाँ फिर अपनेको मानवीय इच्छाशक्तिसे
अनेक गुनी बड़ी इच्छाशक्तिकी कल्पना किये बिना गत्यतरही नहीं रहेगा।
इस मूलकी इच्छाशक्तिसे लेकर अंतके परिणाम तक प्रत्येकके अस्तित्वका
उत्तर भौतिकशास्त्री नहीं दे सकते। अतएव इस प्रकारकी इच्छाशक्तिकी
कल्पना करना अनिवार्य्य है। एक और उदाहरणसे इसका स्पष्टीकरण करन
उचित होगा। वर्तमानमें बिजलीके प्रवाहसे तोप छोड़ी जाती है। जि
समय यह शास्त्रीय कल्पना लोगोंको विदित नहीं थी उस समय तो ऐसे
प्रक्रिया देखकर लोगोंने यही समझा होगा कि इसमें भूतपिशाच ही की कु
करामात है। वर्तमानमें यह रहस्य प्रगट हो जानेपर भूतपिशाचक
कल्पनाको स्थान नहीं रहा है। परंतु भौतिकशास्त्रसे यह मालूम हो जानेपर भ
कि विद्युत्प्रवाहसे तोप छूट सकती है, यह नहीं मालूम होता कि क्यों छूट
है? क्योंकि छोड़नेवालेकी इच्छा शक्ति सम्पूर्ण भिन्न वस्तुओंका संबंध जोड़ती
और तोप छूटनेकी क्रियाका ज्ञान करानेमें सहायता देती है। बिना उ
जाने तोप छूटनेके चमत्कारका पूर्ण ज्ञान होना, नहीं कहा जा सकता
सारांश यह है कि कटकी विचार सरणीसे ही किसी न किसी श्रेष्ठशक्ति
कल्पना करना ही पड़ती है। अंतर इतना ही रह जाता है कि कैंट प
को पीढ़ियोंतक ही पीछे ले जाकर छोड़ देता है और हम उसे ठेठ
पहुँचा देते हैं। इसका अनीश्वरवादी शायद यह उत्तर देंगे कि जिस प्रक
उत्तरोत्तर प्रगति करनेवाला भौतिकशास्त्र डंडा उतरकर एकके बाद प
कड़ीकी खोज करता है उसी प्रकार अधिक शोध होनेपर वह ठेठतक पहुँ
सकेगा। परंतु यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि आधिभौतिकशास्त्रोंसे
खोज होती है वह सृष्टिचमत्कारोंके नियमोंकी ही होती है, कारणका प
नहीं लगता। ज्यों ज्यों गहरे जावेंगे त्यों त्यों अधिकाधिक नियमोंका ज्ञा
हो सकेगा परंतु सम्पूर्ण चमत्कारोंका आदि कारण जो इच्छाशक्ति अथ
संकल्पात्मक विज्ञानघन है उसका बोध नहीं हो सकेगा। अतएव अनी
वादियोंका यह दूसरा आक्षेप भी निष्फल सिद्ध होता है।
तीसरा आप तब कहते

उक्त विवादमें यह मान लिया गया है कि आधिभौतिक वादी ईश्वरको बिलकुल नहीं मानते । वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि ईश्वर न माननेका ही उनका हेतु रहता है परंतु भौतिक-शास्त्रकी सहायतासे कारण परंपराको ढूंढ़ते ढूंढ़ते जब आदि कारणकी मीमांसा करनेका भार उन पर आता है तब वे कबूल करते हैं कि जगत्का आदि-कारण मानना ही पड़ता है और ऐसी अवस्थामें नास्तिक वादी होनेकी अपेक्षा किसी नियंताका अस्तित्व मानना ही तर्क शास्त्रकी दृष्टिसे अधिक सयुक्तिक है । इन लोगोंका भौतिक-शास्त्र पर पूरा भरोसा होनेके कारण इन्हें विश्वास रहता है कि नियंताका अस्तित्व माननेका प्रसंग कभी आवेगा ही नहीं लेकिन जब निजके विश्वास और तर्क शास्त्रकी कैंचीमें ये फँस जाते हैं तब इनकी स्थिति " इदं च नास्त्येवं परं न लभ्यते " के समान हो जाती है । यदि परमेश्वरको मानते हैं तो प्रत्यक्ष पदार्थको माननेके सिद्धान्तपर हरताल फिरती है, नहीं मानते तो जगतका यह विस्तार क्यों है और वस्तु क्यों उत्पन्न होती है ? यह प्रश्न हल नहीं हो पाते । ऐसी आपत्तिसे निकलनेका ये एक ही मार्ग निकालते हैं अर्थात् परमेश्वर का दूसरा ही नाम रख कर वे उसका अस्तित्व स्वीकार करते है । कोई उसे प्रकृति कहते हैं । और कोई कुछ । हर्बर्ट स्पेन्सरने उसका नाम अज्ञात शक्ति रखा है । बात यह है कि नाम कुछ भी रखा जाय परंतु आदिकारण स्वीकार किये बिना छुटकारा नहीं ।

अब ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमे विचार करना उचित होगा । ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें अनेक उपपत्तियां है । और वे अनेक स्थानोंपर प्रगट की गई हैं । उनका नामनिर्देश करना भी कठिन है तो भी शास्त्रीय रीत्या वर्गी-करण करनेसे उन उपपत्तियोंके तीन भेद होते हैं और वे निम्नलिखित तीन पारिभाषिक नामोंसे उल्लिखित किये जा सकते हैं । पहिला भेद है कारण वाद 'Cosmological argument दूसरा भेद है Teleological argument अर्थात कर्तृवाद और तीसरा भेद ontological argu-ment अर्थात स्वरूपवाद । ये तीनों भेद एक दूसरेके पोषक है । अर्थात एक वादके द्वारा कोई सिद्धान्त निश्चित हो जानेपर दूसरा वाद उसकी पुष्टि करता है और तीसरा उसे पूर्ण करता है । पहिले कारण वादका विवेचन आक्षेप निरसन करते समय ऊपर किया गया है । आधि भौतिक शास्त्रका सिद्धान्त है कि प्रत्येक कार्यके लिये कारणकी आवश्यकता होती है । और इस प्रकार

कारणकी मीमांसा करते करते अन्तमें ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि सबका आदि कारण माननेको लाचार होना पड़ता है। इस विचार पद्धतिसे परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिए ग्लासगो विश्वविद्यालयके प्रिन्सिपाल केअर्डने एक धार्मिक तत्वज्ञानकी प्रस्तावना नामक ग्रंथ लिखा है । इस ग्रंथमें कारण वादके संबंधमें वह लिखता है कि " शास्त्रके द्वारा कारणसे कार्य उत्पन्न होनेके नियमोंका स्पष्टीकरण हो जानेपर भी मूल कारणके बिना उनकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती । इस लिये आदि कारण माननाही आवश्यक है । इस प्रकार सर्व जगतका आदि कारण मानना यह कारणवाद हुआ । *

परंतु यह कारण वाद अपूर्ण है । क्योंकि कारणकी आवश्यकता माननेपर भी इस कारणके संबंधमें इस वादसे कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न इस कारणका स्वरूपही मालूम होता है । इस कमीको पूर्ण करनेवाला दूसरा वाद कर्तृवाद है । इसका विवेचन भी ईश्वरके अस्तित्व संबंधी दूसरे आक्षेपका निरसन करते समय संक्षेपसे किया गया है । किसी भी कार्यके आरम्भमें किसी कर्ताकी आवश्यकता मानना इस वादका मूल तत्त्व है । पहिले वादसे केवल यह निश्चय होता है कि सृष्टिका कोई आदि कारण होना चाहिये । परन्तु कारण अनेक प्रकारके होते हैं । साधारणतया कारणके तीन भेद होते हैं । एक कर्तृ कारण दूसरा उपादान कारण और तीसरा निमित्त कारण । मिट्टीका घड़ा तैयार करनेमें कुंभार कर्तृ कारण है । मिट्टी उपादान कारण है और घड़ा बनाने रूप कार्यके उपयोगमें आनेवाली परन्तु उनके न होने पर भी जिनसे काम चल सके वे वस्तुएं निमित्त कारण हैं । तो कारण वादके द्वारा यदि यही समझ लिया जाय कि ईश्वर सृष्टिका किसी न किसी प्रकारका कारण है तो उसका वास्तविक ज्ञान नहीं होगा । क्योंकि यदि उसे निमित्त कारण मान-लेंगे तो उसकी अपरिहार्यकी आवश्यकता न रहेगी । चाक उसके बिना भी'

* The cosmological may be put as an argument; from the world viewed as phenomenal to an absolute substance, out of which all phenomena spring, or from the world viewed as an effect to a first cause.

Caird's Introduction to the philosophy of religion Chap V.

काम चल सकेगा। घड़ा बनानेके लिये एकाध गाड़ीमें मिट्टी लानेसे उस गाड़ीकी गिन्ती निमित्त कारणमे हो सकती है परंतु गाड़ी नहीं हो तो भी काम चल सकता है । अतएव परमेश्वर इस प्रकारका कारण नहीं हो सकता। यदि उपादान मानें तो मिट्टीके स्वभावानुरूपही घड़ा तैयार होता है उसी प्रकार परमेश्वरके गुणसमानही सम्पूर्ण जगत चैतन्यमय होना चाहिए। क्योंकि उपादान कारण जिस प्रकारका होता है उसी प्रकारकी वस्तु उससे बनती है। तथा अपने आप नहीं बन सकती । जगतमें जड़ और चैतन्य दोनों प्रकारके पदार्थ होनेसे तथा उनके लिये किसी कर्त्ता विशेषकी आवश्य-होनेसे कर्तृ कारणकी जरूरत होती है। इस प्रकार कारण ढूंढते ढूंढते अंतिम कारण तक पहुंचना पड़ता है। और सबसे प्राचीन सबका आदि स्वरूप एवं दूसरे कारणकी अपेक्षा न रखनेवाले कारणकी चिकित्सा करनेमें दूसरे एकाध नवीन कारणका मानना ठीक नहीं हो सकता। अतएव अंतका कर्तृ कारण परमेश्वर ही होना चाहिये, यह सिद्धान्त तर्क शास्त्रके अनुक-सिद्धिके मार्गसे निकलता है। और यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर ही सृष्टिका आदि कारण है और उसीकी इच्छा शक्तिसे जगतकी रचना हुई है। यही कर्तृवाद प्रिन्सिपल केयर्डने निम्न लिखित शब्दोंमें प्रगट किया है:—

The attempt (to reach the ideca of the first cause) is an argument which conceives of the relation of God to the Finite world, as that of creator and contriver......In this idea of an allwise creator on designer we have the conception of a cause, which is not merely the correlative of an effect outside of itself, but which is self-consclons and self determined, before it determines else अत्यक धर्मकी परमेश्वर संबंधी कल्पनाओंमें प्रमुखतासे उसकी कर्तृत्व और इच्छा-शक्तिका उल्लेख किया गया है। ईसाई धर्ममें जगत्की उत्पत्तिका प्राथमिक वर्णन इसी प्रकार किया गया है कि "In the beginning, God created the Heaven and the earth, and the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep......Then god said, 'let there be Light"

and was Light अर्थात् जगत्‌के प्रारंभमें जब पृथ्वी और स्वर्ग निर्माण किये उस समय पृथ्वी शून्य और आकार रहित थी। और समुद्रतल पर अंधकार था। उस समय परमेश्वरने आज्ञा दी कि अब सम्पूर्ण स्थान पर प्रकाश हो " अतः सर्वत्र प्रकाश हो गया। " इसमें भी ईश्वरका कर्तृत्व और उसकी सामर्थ्यका ही वर्णन किया गया है। उपनिषदादि आर्य-धर्म-ग्रंथोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन किया गया है। सबसे प्राचीन छांदोग्य उपनिषद्‌में कहा है कि " सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय ॥ तत्तेजः असृजत्।" सबके प्रारंभमें केवल परमात्मा ही सबके आदि कारण थे जब उन्हें अनेक होनेकी इच्छा हुई तब उन्होंने तेज निर्माण किया " यह वर्णन भी उक्त वर्णनके ही समान है। और परमेश्वरकी उक्त दोनों शक्तियोंका प्रतिपादन करता है। भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने यही कहा है कि " अहंकृत्स्नस्य जगतः प्रभवः " अर्थात् सम्पूर्ण जगतका उद्गम-स्थान मैं हीहूं। इस पदसे भी ऊपरका सिद्धान्त स्पष्ट होता है। इस प्रकार आधिभौतिक कारण-वादसे यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जगत्‌का आदि कारण कोई है। और वह इच्छा शक्ति एवं क्रिया शक्ति युक्त है, यह बोध मानस शास्त्रकी सहायतासे कर्तृ वादके द्वारा हुआ। अब ईश्वर संबंधी ज्ञानका तीसरा परंतु अंतिम भाग शेष रहा और वह यह कि ऐसे परमेश्वरके स्वरूपके संबंधमें क्या ज्ञान हो सकता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके पहिले एक बात ध्यानमें रखना चाहिये कि परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्‌का आदि कारण है। इस आदि कारणके द्वारा कुछ कार्य हुये फिर उन कार्योंके द्वारा अनेक और फिर उन अनेकोंके द्वारा अनेक कार्य हुए और इस प्रकार जगत्‌का अनंत विस्तार हुआ। इस अनंत विस्तारमें ही मनुष्यकी व्यक्तिगत बुद्धि भी एक नियमित कार्य है और इसी लिये इस बुद्धिके द्वारा ग्रहण होने योग्य क्षेत्र भी नियमित हैं। ऐसी नियमित शक्ति समान इन्द्रियोंके द्वारा अनियमित और अनंत कर्तृत्व शक्ति-युक्त परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान कैसे हो सकता है?। तो भी समुद्रका पृष्ठ भाग देखनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार महासागरके पूर्ण स्वरूपको नहीं जान सकने पर भी उसके अस्तित्व और रूपरेखाका ज्ञान प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार ईश्वरके संबंधमें ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। और इस दृष्टिसे हर्बर्ट स्पेन्सरकी अज्ञेय मीमांसा जिसमें उसने बतलाया है कि ईश्वरके संबधमें मनुष्य कुछ नहीं जान सकता, भ्रम पूर्ण सिद्ध होती है।

क्योंकि ईश्वरका थोड़ा बहुत स्वरूप जाना जा सकता है। हाँ यह ठीक है कि उसका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। प्रिन्सिपाल केअर्ड भी यही कहता है कि " मनुष्यका ज्ञान जिसका भाग है परंतु मनुष्य ज्ञान जिसका आकलन नहीं कर सकता वह परमेश्वरका स्वरूप है।" प्रसिद्ध कवि टेनिसनने संक्षपमें यह स्वरूप इस प्रकार बतलाया है कि, It is the sum of the glory of all things अर्थात् सम्पूर्ण सुंदर और वैभवशाली वस्तुओंका एकीकरणही ईश्वर है। सत्रहवीं शताब्दिमें व्हॅनिनी नामक एक तत्ववेत्ता हुआ है वह उस समयके ईसाई धर्मके विश्वासोंके अनुसार नहीं चलता था। इसलिये उस समय वह पादरीयोंके विद्रोहमें राजकीय आज्ञासे जला दिया गया। परंतु उसने ईश्वरके संबंधमें जो उद्गार प्रगट किये हैं वे उसके स्मारक रूपसे सदा रहेंगे। वह कहता है " तुम मुझसे पूछते हो कि परमेश्वर कैसा है ?। पर यदि उसका स्वरूप मुझे मालूम हो जायगा तो मैं स्वतः परमेश्वर हो जाऊँगा। क्योंकि उसके स्वरूपका ज्ञान पूर्ण रीतिसे उसके सिवाय दूसरेको नहीं हो सकता। जिस प्रकार मेघाच्छादित सूर्यका तेज अपनेको किंचित् मात्र दिखलाई पड़ता है पूर्ण नहीं दिखलाई पड़ता उसी प्रकार मानवीय बुद्धिके अवयवके पर्देके कारण ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका ज्ञान मनुष्यको नहीं होता, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि वह सर्वोत्तम कल्याण, सबका आदिकारण, सर्व शक्ति मान और सर्व व्यापी है।" ईश्वरके संबंधमें आधि-भौतिक वस्तुओंकी सहायतासे किये हुये विचारोंके बारेमें वर्डस्वर्थ कवि कहता है कि

Obstinate questionings
Of sense and outward things,
Faling From us Vanishings,
Are Blank misgivings of a creator
Moving about in a world
not realized.

अर्थात् अज्ञात विश्वमें भ्रमण करनेवाले कर्ता संबंधी भौतिक प्रश्न, अज्ञान युक्त और दुराग्रह पूर्ण होते हैं। इस तत्वको आर्यतत्वज्ञानने किस प्रकार जाना है इसका संक्षेपमें उल्लेख कर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। भगवद्गीतामें कहा है कि

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

अर्थात् लोकत्रयमें प्रविष्ट हो कर सबका भरणपोषण करनेवाला परम-पुरुषही परमेश्वर है ।

विष्णुपुराणमें कहा है कि

तेजोबलैश्वर्यमहावबोध, सुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तः स्वरूपः प्रकटप्रभावः ॥

अर्थात् तेज, बल, ऐश्वर्य, ज्ञान, पराक्रम, शक्ति आदि सम्पूर्णगुणोंकी एकराशि, स्वरूप ईश्वर, एकत्व और सर्व व्यापित्व रूपसे रहता है। उसका प्रभाव प्रगट होनेपर भी उसका स्वरूप अव्यक्त है।"

इस सब विवेचनसे यही सार निकलता है कि धर्मका आदि विषय मानव समाज अथवा इसी प्रकारकी कोई दूसरी अल्प शक्तिवान् वस्तु न होकर सर्व व्यापी, सर्व शक्तिमान् और अन्तर्यामी ईश्वरही है। और वह ज्ञानमय है, एवं सम्पूर्ण प्राणियोंके अंतःकरणमें वास करता है। और सम्पूर्ण भूत सृष्टिको अपनी इच्छा शक्तिसे फिराता हुआ जगतका व्यवहार चलाता है।

प्रकरण तीसरा.

धर्म साधन।



व्यवहारमें धर्म शब्दके अनेक अर्थ किये जाते हैं। पदार्थमें विशेष रीतिसे दिखाई देनेवाले गुण अथवा उसकी कृतिको भी धर्म कहते हैं। सृष्ट पदार्थोंका नाश होना उनका धर्म माना जाता है। प्रकाश देना सूर्यका धर्म मानते हैं। इत्यादि प्रकारसे धर्म शब्दकी योजना की जाती है। इसी प्रकार कभी कभी मनुष्यके आचरण-नियमोंको भी धर्म कहते हैं और इसके सिवाय गतप्रकरणमें सिद्ध किये अनुसार जगतके आदि-कारणसे कार्य-कारणका जो संबंध है उसके ज्ञानको भी धर्म कहते हैं। अर्थात् धर्म शब्दका पहला अर्थ लक्षणात्मक होनेपर भी वास्तविक अर्थसे यह दूसरी कल्पनाओंके लिये ही उपयोगमें आ सकता है यह सिद्ध किया जा चुका है। अब यह देखना है कि मानसशास्त्र रीत्या धार्मिक कल्पनाकी उत्क्रान्ति किस प्रकार होती जाती है।।

एक समय यह माना जाता था कि मनुष्यके मनसे धर्मका कुछ संबंध नहीं है। परमेश्वरने अपनी सेवाके मार्ग नियत कर दिये हैं उन मार्गोंके अनुसार मनुष्यके कार्य करनेपर धर्मका साधन हो सकता है। श्रद्धा अथवा भक्तिकी धर्ममें आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह कहना भ्रम पूर्ण है। क्योंकि श्रद्धाका उगमस्थान बुद्धि है। सेव्य वस्तुके महात्म्यपर बुद्धिको विश्वास हुये विना श्रद्धा उत्पन्नही नहीं होती। इसी लिये व्यवहारमें ज्ञानके इतर विषयोंके समान भक्तिका आरम्भ भी मनसे माना गया है। और इसीलिये मानसिक शास्त्रके नियमोंपर धर्म-विचारके समय मुख्य तथा ध्यान देना पड़ता है। इस बातकी जानकारी लोगोंको तब हुई जब कि धार्मिक विचारोंके अधिष्ठान स्वरूप मनके नियमोंकी खोज होने लगी। इस खोजके मार्गोंका संक्षिप्त दिग्दर्शन गतप्रकरणमें किया जा चुका है। मानस-शास्त्रके सांगोपांग अध्ययनसे यही निश्चय हो गया है कि मानवी विचार, कल्पना और सिद्धान्त, इन सबका

अधिकरण मन है। इस मनके कुछ स्वाभाविक गुणधर्म हैं और वे यद्यपि संस्कारसे बदल सकते हैं, परन्तु कुछ स्वाभाविक प्रवृत्ति इस प्रकारकी भी होती है जो संस्कारोंसे बदल नहीं सकती। मानसशास्त्रका यह सिद्धान्त निश्चित हो जानेपर धर्म विषयक चिकित्सा करनेके पहिले यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि क्या मनपर धर्म विषयक ज्ञानका कोई भाग अवलंबित है? और यदि अवलंबित है तो वह कौनसा भाग है?।

इस प्रश्नका स्वरूप अच्छी तरह ध्यानमें आनेके लिये इसका विशद विवेचन करना उचित होगा। धर्म चिकित्साकी दो उपपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं। पहिली उपपत्ति तो यह है कि धर्म, श्रद्धा विषयक मनोविकार है और श्रद्धाका अधिष्ठान मन होनेसे मानस-शास्त्रके अध्ययनसे धार्मिक तत्वोंका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। दूसरी उपपत्ति यह है कि धर्म और श्रद्धा का नियमित संबंध बिलकुल नहीं है। यदि कोई अज्ञानी धर्म और श्रद्धा का संबंध मानते हों तो वह बुद्धिनाशका परिणाम है। धर्मका वास्तविक अधिष्ठान बुद्धि है। इस लिये यदि धर्मकी यह उपपत्ति मानी जावे कि बुद्धि जो स्वीकार करे और उसकी सहायतासे जो ग्रहण किया जा सके वह धर्म-है तो यह उपपत्ति ज्ञानी और सुसंस्कृत लोगोंको मान्य हो सकेगी नहीं तो केवल बुद्धि हीन श्रद्धा अंतमें अंध-श्रद्धा अथवा लोक-भ्रमका रूप धारण करेगी। अतएव बुद्धि विषयक ज्ञानसे ही धर्मका वास्तविक स्वरूप ध्यानमें आ सकता है।

इन दोनों उपपत्तियोंको और अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ उदाहरणों पर विचार करना उचित होगा। ईसाई धर्मके कुछ प्रमेय देखे जाय तो विदित होगा कि वे बुद्धिको बिलकुल ग्राह्य नहीं है। इस धर्मका एक प्रमेय है कि मानवीय सृष्टिके आरंभमें परमेश्वरने आदम नामक पुरुष उत्पन्न किया। और उसीकी पसलीमें उसकी स्त्री ईव्ह उत्पन्न हुई। इन दोनोंके लिये जो नंदन-वन निर्माण किया गया था, उसमें ये दोनों आनंदसे रहते थे। इन्हें जिन फलोंको खानेकी मनाई थी उन्हें खानेके लिये शैतानने इन्हें बुद्धि दी। और उसके कारण निषिद्ध किये हुये ज्ञान वृक्षका फल इन्होंने खा लिया जिसे खाते ही मनुष्य जातिका अधःपतन हो गया। उसी ईश्वरीय—आज्ञा भंग करनेका परिणाम मनुष्य जातिको भोगना पड़ता है।

यह ईसाई धर्मका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तकी बुद्धि द्वारा परीक्षा करनेपर इसमें अनेक दोष दिखलाई पड़ेंगे। अर्थात् प्रश्न होगा कि परमेश्वर जैसे दयालु और ज्ञानमय विभूतिने मनुष्य जातिको ज्ञान वृक्षका फल खानेसे मनाही क्यों की? क्या उसके मनमें यह था कि मनुष्यजाति अज्ञान की चहमें फंसी रहे?। यदि उसकी यह इच्छा थी तो क्या यह कहना अनुचित होगा कि ईश्वरको ज्ञानका महत्त्व ही विदित नहीं है। साथमें उसे निर्दयी भी कहना होगा। यदि यह मान भी लिया जाय कि उसने यह आज्ञा अपने अधिकारसे दी तो फिर उसका पालन न होने पर वह अप्रसन्न क्यों होता है?। यदि वह क्रोध करता है तो उसे विकारी मानना पड़ेगा। दूसरे यह कि आदम और हव्वाके अपराधका फल उन्हें मिलना चाहिये। उनकी सन्तानस पीढ़ियोंने ऐसा क्या बिगाड़ा है जिससे आदम और हव्वाके कृत्योंका फल उन्हें दिया जाय। इत्यादि अनेक शङ्काएं बाईबिलके उक्त विश्वास पर उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार पादरी लोगों के मस्तक पर पानी छिड़क देनेसे मनुष्य परमेश्वरका प्रेम पात्र कैसे हो सकता है? यीशु क्राईस्टके रक्तसे सम्पूर्ण जगत्के पापका प्रक्षालन कैसे हो गया? एक विशेष दिन पी हुई दारू और खाई हुई रोटीमें यीशुके रक्त और मांसका तत्त्व कैसे प्रतिबिंबित होता है? आदि अनेक बातें हैं जो कि विचिकित्सक बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती परन्तु वे ईसाई धर्मकी आधारस्तंभ हैं। इनके सिवाय इस धर्मको धर्मत्व ही नहीं प्राप्त होगा। ये कल्पनाही इस धर्मकी विशेषतायें हैं क्योंकि इन्हें छोड़कर बाकीके जो नीतिके तत्त्व हैं वे सब धर्मोंमें समान हैं। केवल नीतितत्त्वोंकी दृष्टिसे किसीभी धर्ममें अंतर नहीं दिखलाई देगा। धर्मोंमें जो अंतर रहता है वह सिद्धान्त विशेषोंमें ही होता है जैसे कि ईसाई धर्मके सिद्धान्त ऊपर कहे हुये हैं। यह कल्पनाएं ऊपर कहे अनुसार बुद्धिग्राह्य नहीं होतीं। किंतु श्रद्धामय होती हैं। हिन्दूधर्ममें भी जो इस प्रकारकी मान्यताएँ हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, जगत्के कल्याणार्थ ईश्वर अवतार लेता है, पशुरूपमें भी वही दिखलाई पड़ता है, मृत्युके बाद मनुष्य यम लोकमें जाता है; फिर अपने अपने पाप पुण्यके अनुभवार्थ दूसरा जन्म धारण करता है, सो श्रद्धाही की कोटि की हैं। धार्मिक मुसलमानोंके स्वागतके लिये आकाशमें सुंदर परियाँ तैय्यार रहती हैं, यह मुसलमानोंकी कल्पना और अनेक जन्म सुख दुःख भोगनेके बाद निर्वाण प्राप्त करने अथवा ऐसी स्थिति प्राप्त करने जो कुछ नहीं है यह आधिभौतिक शास्त्रसे बिलकुल विरुद्ध बौद्ध धर्मकी कल्पना,

बुद्धिकी आँचपर नहीं ठहर सकेंगी। इनका आधार केवल श्रद्धा है और इस लिये धर्म श्रद्धामय ही है। यह पहिली उपपत्ति हुई।

दूसरी उपपत्ति इसके बिलकुल विरुद्ध है। इसके अनुसार मनुष्य और दूसरे प्राणियोंमें महत्त्वका अंतर बुद्धि है। और इस लिये प्रत्येक मानवीय कल्पनाके अनुसार धर्म-कल्पना भी बुद्धि ग्राह्य होना चाहिये। और बुद्धिकी कसौटीपर झूठे और सच्चे, लोकभ्रम धर्म विचार, और असली अथवा नकलीकी परीक्षा होना चाहिये। जंगली लोगोंकी धर्म कल्पनाको देख सुनकर अपन क्यों हसते हैं? इसी लिये कि वे कल्पनायें अपनी निर्णायक बुद्धि स्वीकार नहीं करती। भूत वगैरहकी कल्पनाको अपन झूठी क्यों कहते हैं? इस लिये कि बहुतोंके अनुभवसे वे झूठी हैं और केवल चित्त भ्रम हैं। ईसाई धर्मके रोमन केथोलिक पंथकी यह कल्पना कि मनुष्य अपने जीवनमें किये हुये पापोंकी कबूलनी मरते समय यदि अपने गुरुके सन्मुख कर दे तो वह पापसे छूट जाता है, जब बुद्धिमें नहीं जँचने लगी तब इस कल्पनाको दूर करनेवाले प्रोटेस्टंट पंथका अवतरण हुआ। केवल यज्ञकर्मसे मनुष्यको उत्तम गति प्राप्त हो सकती है। इस वेदकालीन कल्पनासे जब बुद्धि संतुष्ट नहीं हुई तब उपनिषदोंके विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ। कुछ भी कार्य न कर जंगलोंमें भैंसाके समान भटकते रहनेकी बौद्ध धर्मकल्पना जब लोगोंको ठीक नहीं जँची तब इस कल्पनाके पंथको ही 'हीनयान' ठहराकर बुद्धानुयायियोंने कर्म प्रवृत्ति सूचक "महायान" पंथकी प्रतिष्ठा की। इत्यादि धार्मिक कल्पनाओंके इतिहास और रिवाजतर बुद्धि प्रधानताकी ही साक्षी देते हैं। इन व इन जैसे अन्य अनेक उदाहरणोंपरसे यह दीखलाई पड़ेगा कि प्रबुद्ध लोगोंके आदर और सेवा भावके पात्र होनेके लिये धार्मिक कल्पनाओंको बुद्धिगम्य होना चाहिये। इतना ही नहीं किंतु उनमें भी कालांतरानुसार परिवर्तन होता रहता है और जीर्ण वस्त्रका त्याग व नयेका ग्रहण करनेके समान समयानुसार नवीन कल्पनाओंका ग्रहण होता रहता है।

अतएव धर्म कल्पनाका आधारस्थान श्रद्धा न होकर बुद्धि है यह सिद्ध होता है। यह दूसरी उपपत्ति हुई।

इन्हीं दोनोंसे एक तीसरा पक्ष और उत्पन्न हुआ है। इस पक्षका कहना है कि धर्म कल्पनाका वास्तविक आधार मनुष्यमात्रके हृदयकी भावना अथवा

विकार है (emotion) है। बुद्धि प्रमाण मानने वालोंके मतानुसार धर्म-को ज्ञानसे संस्कारित बुद्धिका आश्रय रहता है। और श्रद्धावादियोंके मता-नुसार उसकी आवश्यकता न होकर अधिकारी पुरुषोंके द्वारा ठहराई हुई कल्पनाओं और नियमोंको आदरपूर्व स्वीकार करनेमें ही धर्मका बीज है। भावनावादी इन दोनों कल्पनाओंको ठीक न मानकर धर्मका आधार भाव-नापर ही अवलंबित करते हैं उनका कहना है कि मनुष्यका हृदय, स्वरमें मिलाये हुये एक तंतु वाद्यके समान है। ऐसे वाद्योंके तारोंपर दूसरे किसी भी स्वरका आघात होनेपर उसमेंसे तद्नुरूप प्रतिध्वनि होती है। दुहरे तारों की सितार बहुतोंने देखी होगी। साधारण सितार पर आगे लगा हुआ पीत-लका पट्टा होता है और इस पट्टेपरसे सब तार जुड़े हुये होते हैं परन्तु इस प्रकार की सितारमें पीतलके पट्टेके नीचे भी ऊपरके समान तार जुड़े हुये होते हैं। इन तारोंको ऊपरके तारोंके सुरसे मिला देते हैं। और फिर ऊपरके तार बजाते ही नीचेके तारोंमेंसे भी वही ध्वनि होने लगती है। उन्हें बजानेकी जरूरत नहीं होती। इसी प्रकार मातृ-पितृ भक्ति, स्वदेशप्रेम, संतान वात्स-ल्य, पतिपत्नी प्रेम आदि विकार या भावनाओंके समान धर्मबुद्धि भी भावना जन्य विकार है। अपने अंतःकरणमें धार्मिक बुद्धिका न्यूनाधिक अंश रहता है। यद्यपि वह सदा जागृत अवस्थामें नहीं रहता परंतु निमित्त मिलनेसे— उत्कट भक्तिपूर्वक गाये हुये भजन, कीर्तन आदि निमित्तोंसे—जागृत होता है। उस समय मनुष्योंकी जो बुद्धि तल्लीन हो जाती है उसका कारण यह है कि उस समय उनके हृदयमें सात्विक भाव जागृत होता है। कोई ईसाई-योंका धर्मगुरु यदि रविवारको चर्चमें जो उत्तम प्रवचन करता है तो उससे श्रोतागणोंमें इतना भक्तिभाव उमड़ता है कि उसका असर सुप्तावस्थामें भी रहता है। सारांश यह है कि धर्म विचारको जागृति, प्रेरणा और कार्य कर्तृत्वका रूप भावनाके विकारोंसे ही प्राप्त होता है। श्रद्धा होनेपर भी बड़े बड़े धर्म कृत्य करनेके लिये भावोंके जागृत करनेकी आवश्यकता होती है। गौतमबुद्धके संबंधमें ऐसी ही एक कथा कही जाती है कि यद्यपि वे पहिलेसे ही परोप-कारी और उदासीन वृत्ति थे परंतु एक दिन राजमहलमें बैठे हुये थे कि उनके आगेसे एक शव निकला। बस उसके देखते ही उनके हृदयमें भावना जागृत हुई और शरीरकी अस्थिरता व मृत्युकी स्थितिमें राजा व रंककी समानताका पूर्ण विश्वासकर उन्होंने राजकाज छोड़ वैराग्य धारण कर लिया। इससे यही

सिद्ध होता है कि बुद्धि अथवा सहज श्रद्धा पर धर्मभावना अवलंबित न होकर भावना-विकार पर ही अवलंबित है।

पंडित मेक्समूलर पहिली उपपत्तिके संबंधमें कहते हैं कि " धर्मविषयक बुद्धिको भावना जन्य माननेवाले एक पक्ष और बुद्धि प्रमाण माननेवाले दूसरे पक्षके होते हुये भी किसी अंशमें इन दोनोंके सहभागित्व अथवा समानाधिकरणसे परंतु इन दोनोंकी अपेक्षा अधिक महत्वका एक तीसरा श्रद्धा वादीपक्ष है। इस पक्षका अस्तित्व भी आदरणीय है यह श्रद्धा बुद्धिही मुख्यतया धर्मकी जड़ है " *

बुद्धि-वादीपक्षका समर्थन करनेवाले अनेक पंडितोंमेंसे एक पंडितका मत उसीके शब्दोंमें प्रगट करनेसे दूसरोंके मतोंकी भी कल्पना हो सकेगी। धर्मके आधारकी चिकित्सा करते हुये लाइबनिट्ज़ने कहा है कि " Nihil inai intellectus i.e. yes nothing but intellect अर्थात् धर्मभाव-नाके लिये बुद्धिके सिवाय दूसरा आश्रय नहीं है। यदि यह बात नहीं होती और धर्मका पाया केवल श्रद्धा पर उठाया हुआ होता तो भिन्न भिन्न धर्मोंकी तुलना ही नहीं हो सकती थी। श्रद्धाकी दृष्टिसे तो सिरकी टूटी हुई पूँछ अथवा लकड़ीके ठूंठको पूजनेवाले जंगली आफ्रीकन लोगोंका धर्म भी श्रेष्ठ तत्त्व-ज्ञानसे युक्त अन्य धर्मोंके समान ही महत्वपूर्ण माना

* If then there is a philosophical discipline which examines into the conditions of intuitional or sensuous knowledge and another discipline which examines into the conditions of rational or conceptual knowledge, there is clearly a place for a third philosophical discipline that has to examine into the existence and the conditions of that third faculty of man, co-ordinate with yet independent of sense and reason, the faculty of...... ..faith In German they call it vernupt as opposed to Verstand-reason, and sinn-sense

Maxmuller's "Lectures on the Science of Religion."

जायगा और देवताके नामसे अच्छे बुरेकी भेद-कल्पना ही नहीं रहेगी। जैसे
मनुष्यकी बलि देनेवाली—और यह बलि कभी कभी एक पिता अपने पुत्र-
रत्नकी दे सकता है—चाल, नीति, समाजहित और राजकीय दृष्टिसे घातकी
चाल, होते हुए भी निःस्वार्थ-बुद्धि-पूर्वक आत्मम परोपकार करनेके समान ही
मानी जावेगी। सार यह है कि परमेश्वरने मनुष्यको जो बुद्धि दी है उसे नष्ट
करनेसे धर्मका पर्यवसान हो जानेका भय है।

अंतका अर्थात् तीसरा भावनावादी पक्षका मत ग्रहण करनेवालोंमें टिंडा-
लका मत उल्लेख योग्य है। भिन्न भिन्न धर्मपंथोंके विषयमें इसने कहा है कि
"यदि इन पंथोंका अतिक्रमण आधिभौतिक ज्ञानके विषयमें होने लगेगा तो
वह ज्ञानकी प्रगतिके लिये हानिकारक होगा। और यदि मनोभावनाकी
ओर उसकी योजना होगी तो एकाध बड़ा सत्कार्य हो जानेकी संभावना
है। क्योंकि धर्म पंथका योग्य विषय हृदयकी भावनाही है।"

इस प्रकार धर्म कल्पनाकी उपपत्तिके संबंधमें तीन प्रकारकी कल्पनाएं
बतलाई जाती हैं। इनमें सत्य कौनसी है, इनकी जड़में मानस शास्त्रका
सिद्धान्त कौनसा है और वह सत्य क्यों है इसका यहाँ विचार करें।

उन्नीसवीं शताब्दिमें उत्क्रांतिवादने एक विद्रोहसा खड़ा कर दिया था। जबसे
हर्बर्ट स्पेन्सर नामक अलौकिक विद्वानने अपनी बुद्धिसामर्थ्यसे इस तत्त्वका प्रति-
पादन किया और आधिभौतिक शास्त्रकी कितनीही कार्य—परंपराओंको उत्क्रांति
वादकी विचारसरणीके द्वारा सत्य ठहराया तबसे किसी भी कार्य-कारणकी चिकि-
त्साकी उत्क्रांतिवाद ही एक सर्व सामान्य कसौटी बन गई है। और मीरजककी कहा-
नियोंमेंसे सोनामुखीके काढ़ेकी कहानीके समान इस उपपत्तिकी स्थिति होने
लगी है। यह कहानी इस प्रकार है कि एक पोथीके मटे हकीमको सिर्फ सोना-
मुखीके काढ़ेका नुस्खा मालूम था। वह प्रत्येक रोगपर इसी नुस्खेका उपयोग
करने लगा। एक बार उसके देशपर दूसरा राजा चढ़कर आया तब उसने
अपने देशकी सेनाको जय मिलनेके लिये भी इसी काढ़ेकी योजना की। इस
योजनासे सम्पूर्ण सेनामें संग्रहणीकी बीमारी हो गई तब दूसरे राजाकी
सेनाने यह विचार कर कि कहीं यह बीमारी अपनेमें न फैल जाय बिना लड़े
ही अपने देशको प्रस्थान कर दिया। इस कथासे निजकी हानि बतलाते हुये
भी दूसरेको भगा जानेका परिणाम निकालकर अंतिम भाग मीठा कर दिया

है। यही दशा डार्विनके तत्त्वकी हुई है। परंतु इसका अंत दुर्दैवसे इतना सरल नहीं हुआ। इसका एक उदाहरण इतिहास प्रमाणकी चिकित्साके समयमें दे आये हैं। सब जगह इसी कसौटीसे काम लेते लेते कहीं कहीं यह निरर्थक भी सिद्ध हुई है और धर्म कल्पनाकी चिकित्सामें भी इसी प्रकारका पराभव इसे स्वीकार करना पड़ा है। इस उपपत्तिके पुरस्कर्ताने इसकी सहायतासे धर्म चिकित्सा करना प्रारंभ किया था और अनेक देशोंमें प्रचलित अनेक धर्म कल्पनाओंका संग्रहकर उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि मृतपूर्वजोंकी आत्माका पूजन अथवा श्राद्ध सबसे पहिली धर्म कल्पनाका भेद है। और फिर इसपर तर्क चलाते चलाते अंतमें उसने यह सिद्धांत बांधा कि स्वप्न दिखना और उसके कारण मानसिक दुर्बलताका विकार होना, यह धर्म-कल्पनाका ही परिणाम है। स्वप्नोंमें मृत पुरुषोंकी आत्माएं आती हैं और वे सुप्त मनुष्यको इधरसे-उधर एक लोकसे दूसरे लोकों-आती जाती दिखलाई पड़ती हैं। इसपरसे मनुष्य यह मानता है कि प्रत्येक प्राणियोंमें शरीरसे भिन्न कोई वस्तु है। यह वस्तु कभी शरीरको छोड़ जाती है और कभी फिर आ जाती है। इसी अपने निश्चय परसे यदि कभी किसी मनुष्यपर बीमारीका दौरा होकर वह बेहोश होने लगता है—या उसे बेहोशीके दौरे बार बार आने लगते हैं तो वह यह समझता है कि इस रोगी मनुष्यके किसी वैरीकी आत्माने इसके शरीरमें प्रवेश किया है। इस परसे उस आत्माके द्वारा त्रास न होनेके लिये लोग उस काल्पनिक आत्माकोही देव मानने लग जाते हैं। और उसकी पूजा करना प्रारंभ कर देते हैं। इस प्रकारकी विचारसरणीके द्वारा उत्क्रान्तिवादियोंने धर्मकी चिकित्सा करनेका उपक्रम किया परन्तु इस उपक्रमके द्वारा केवल धर्मकी बाह्य विधिकी ही चिकित्सा हुई। उसके द्वारा धर्मके अन्तरङ्गकी-तत्त्वज्ञानकी-चिकित्सा न हो सकी। और इसी प्रकार श्रद्धावाद और बुद्धिवादके झगड़ेका भी निर्णय न हो सका। अतमें स्वत स्पेन्सरने यह कबूल किया कि बुद्धि और श्रद्धावादका समझौता यही है कि सम्पूर्ण ज्ञानका अन्त अज्ञेयमें और सर्व विचारोंका अन्त विचारोंके कुंठित होनेमें ही होता है। यही तत्त्व उसने अपने First Principles नामक ग्रंथमें Theory of the Reconciliation of Science and Religion) अर्थात् "धर्म और आधिभौतिक शास्त्रका समझौता"के नामसे प्रतिपादन किया है। यह ठीक ही है कि रसायन अथवा पदार्थ विज्ञान

शास्त्रके विषयीभूत स्थूल द्रव्योंकी चिकित्सा करनेवाली पद्धतिसे सजीव, सचेतन और विकारयुक्त मानव प्राणियोंकी चिकित्सा किस प्रकार हो सकती है ? । धान्य नापनेवाले मापोंसे ही यदि मोती माणिक भी मापे जाँय तो व्यापार कैसे चलेगा ? । सब धान बाईस पंसेरी, होना जिस तरह व्यवहारमें अशक्य है उसी प्रकार विचार क्षेत्रमें भी है । गत इतिहास विषयक प्रकरणमें यह निश्चित किया गया है कि किसी भी कालके इतिहासकी उलझनें सुलझानेके लिये दो बातोंकी जरूरत होती है एक तो तत्कालीन परिस्थितिका ज्ञान और दूसरे गतकालकी शिक्षापरसे ठहराये हुये सिद्धान्त । इनमेंसे केवल एक बातसे ही इतिहासका पूर्ण—ज्ञान नहीं हो पाता । उसी प्रकार धर्मकल्पनाकी चिकित्सामें भी दो बातोंके ज्ञानकी आवश्यकता होती है । एक तो धार्मिक कल्पनाओंके उस काल संबंधी स्वरूपका ज्ञान दूसरे उन कल्पनाओंके अवस्थान्तरकी जड़में रहनेवाले मानस-शास्त्रके सिद्धान्तोंका ज्ञान । उत्क्रांतिवादियोंने पहिली बातकी चिकित्सा तो बड़ी अच्छी तरह शास्त्रीय पद्धतिसे की । परन्तु दूसरीकी ओर प्रायः उपेक्षाही दिखलाई । इस लिये उनकी विचारसरणीके द्वारा धर्म की कल्पनामें गर्भित रहनेवाली सब बातोंका समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं हो सका । यह करनेके लिये मानस-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी भी परीक्षा करना होती है । धर्म-कल्पनाओंके विशेष २ रूप, अनेक प्रकारके और परिस्थितिके अनुसार बदलनेवाले होनेके कारण उनके संबंधमें कोई सामान्य सिद्धान्त निश्चित करना बहुत कठिन है । इस लिये धर्म-कल्पनाओंकी जड़में रहनेवाले स्थायी नियम निश्चित कर लेना आवश्यक है क्योंकि उन नियमोंके अनुरोधसे फिर किसी भी धर्म-कल्पनाके रूपका स्पष्टीकरण करना सुलभ हो जाता है । आगे उन्हीं नियमोंपर विचार करेंगे ।

धर्म-कल्पनाओंके सार्वत्रिक अवलोकनसे यह पहिला सिद्धांत निकलता है कि जगतका आद्य कारण—जिसका कि नाम ईश्वर रखा गया है—के स्वरूपकी कल्पना, मनुष्यप्राणी अपने निजके ज्ञान और निजकी बुद्धिके प्रमाणानुसार तथा नैतिक व सामाजिक मतकी पद्धतिसे करता है । इतिहासपर दृष्टि डालते हुए जगतके भिन्न भिन्न धर्मोंकी परीक्षा करनेपर यह प्रगट होता है कि उन धर्मोंमें जो अंतर पड़ता है वह केवल तीन बातोंके संबंधमें पड़ता है । अर्थात् देवताओंकी संख्या, देवताओंका स्वरूप तथा देवता व मनुष्यके परस्पर संबंधमें ही विशेष अंतर पड़ता है । गतप्रकरणमें यह दिखलाया जा चुका है

कि धर्म-कल्पनाकी आरंभिक अवस्थामें भौतिकशास्त्रके अभावके कारण जगत्‌के प्रत्येक अज्ञेय चमत्कारोंसे देवताओंकी कल्पना की जाती है। और इसी लिये ज्यों ज्यों उन चमत्कारोंका अंतर-रहस्य प्रगट होता जाता है त्यों त्यों उन स्वतंत्र देवताओंकी संख्या भी कम हो जाती है। और इस प्रकार मनुष्यके बढ़ते हुए ज्ञान और देवताओंकी संख्याका प्रमाण व्यस्त हो जाता है। इस सिद्धांतकी गत प्रकरणमें विवेचना हो जानेसे यह सहजमें समझमें आ सकेगा।

दूसरा अंतर पड़ता है देवताओंके स्वरूपका। स्वरूपसे प्रयोजन बाह्य रूपसे नहीं है किंतु जिन जिन गुण धर्मोंसहित देवताओंकी कल्पना की जाती है उन गुण धर्मोंके विवेचनसे है। किसी जंगली मनुष्यके दृग्गोचर होनेवाली विस्तृत जगत्‌की शक्तियोंके भले बुरे पनकी कल्पना वह उनके द्वारा होनेवाले सुखदु:ख परसे ही करता है। क्योंकि उस समय उसके पास भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंके सर्वांगीण स्वरूपको जाननेके साधन नहीं होते। उसे तो शक्तिके किसी लक्षण विशेषका ही कभी प्रसंग पड़नेपर परिचय मिलता है। उसी परसे वह शक्तिके भले बुरे पनकी कल्पना निश्चित करता है। जैसे कि तूफानी हवा चलनेसे और उससे अधिक त्रास होनेसे वह वायु देवताको बुरा मानेगा। बिजली गिरनेसे वृक्ष अथवा मनुष्यके जल जानेपर वह विद्युत् देवताको दुःखदायक मानेगा। इसी तरह जलका महापूर, भूकंप, उल्कापात, ज्वालामुखी आदिको दुष्ट-देवता होनेकी कल्पना करेगा। इनके विरुद्ध जगत्‌को प्रकाशित करनेवाले सूर्य, सायंकाल और रात्रिमें आनंद व प्रकाश देनेवाले चंद्र, जल देनेवाली नदियाँ निर्झर आदिको सौम्य देव मानेगा। इतनाही नहीं किन्तु एक स्थानपर अच्छी मानी जानेवाली देवता दूसरे स्थानपर भिन्न परिस्थितिके कारण दुष्ट मानी जाती है। " डॉरबिनी " नामक फ्रेंच प्रवासीने स्थान स्थानपर देखी हुई सूर्य-पूजाके संबंधमें लिखा है कि " तातार " जैसे बर्फीले प्रदेशमें सूर्यका इतना महत्त्व है कि शीत ऋतु समाप्त हो जानेपर जब सूर्यकी किरणें पृथ्वीपर पड़ती हैं तब वहाँके निवासी अपने सबसे अधिक प्यारे घोड़ेको सूर्यके यज्ञमें बलि कर देते हैं। * और उसी सूर्यको आफ्रिकाके मध्यवर्ती जंगलमें निवास करनेवाले अटेकियस लोग मनुष्यजातिका शत्रु समझते हैं। और उदय होते ही उसे गालियोंकी पुष्पांजलि चढ़ाते

* D'orbigny's L'Homuce Americain

है। ईसप नीतिमें एक कथा है कि एक मनगर आकाशके मनुष्यके चित्र विचित्र रूपसे प्रतिबिंबित शान्त समुद्रकी स्तुति करने लगा पर जब उसने उसी समुद्रसे प्रवास किया और बादलोंके घिर आने और समुद्रके तूफानसे उसकी दुर्दशा हुई तब वह समुद्रको विश्वासघाती कहने लगा। इस कथासे सृष्टिके चमत्कारोंका शास्त्रीय ज्ञान होनेके पहिलेके मानवीय स्वभावकी स्थितिका अच्छा बोध होता है। इस सब विवेचनका सारांश यह है कि देवताओंके स्वरूप और गुण धर्म संबंधी कल्पना मनुष्य अपने ज्ञान और अनुभवपरसे करता है। जब ज्ञान बढ़ता है, भौतिक पदार्थोंकी शक्तिके रूपकी जानकारी हो जाती है और पहिलेके अनुभवसे विरुद्ध अनुभव किसी दूसरे समयोंमें अथवा दूसरी प्रक्रियासे होता है तब उसकी पहिलेकी एक संकुचित कल्पना नष्ट होकर उसके स्थानपर सत्य कल्पना उत्पन्न होती है। जब मनुष्यको भौतिक पदार्थोंके गुणधर्मोंका ज्ञान हो जाता है तब यंत्रोंकी सहायतासे मनुष्य पदार्थोंकी शक्तिपर अधिकार करने लगता है। और फिर पहिलेकी देवताकी कल्पना नष्ट होकर उसके स्थानपर यह कल्पना उत्पन्न होती है कि सर्वश्रेष्ठ परमेश्वरने उत्पन्न की हुई यह सब शक्ति मनुष्यके कल्याणार्थही है। प्रसंग विशेषपर वृक्ष अथवा मनुष्यपर गिर कर उन्हें स्वाहा कर देनेवाली बिजली जब मनुष्यके आधीन हो जाती है तब वह उसके द्वारा हजारों कार्य करता है। अपार सागरको शीघ्रतासे पार करनेवाले जहाजादिके साधन प्राप्त हो जानेपर मनुष्य दूर दूरके देशोंसे व्यापारिक अथवा राजकीय संबंध कर लाभ उठाता है पर्वतपरसे गिरनेवाले जल प्रताप-जलधारा—जो कि शास्त्रीय ज्ञानके अभावसे महा भयंकर माना जाता था—से स्वतंत्र शक्ति उत्पन्न करता है और उसके द्वारा मनुष्य, सुखके अनेक साधनोंकी वृद्धि कर सकता है और भयंकरसे भयंकर शक्तियोंका नियंता परमेश्वरको मानकर पहिलेकी रूढ़ और स्पष्ट कल्पनाओंको छोड़ देता है। इस प्रकार मनुष्य प्राणीका ज्ञान ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों ऊपर कहे अनुसार अनेक देवताओंकी कल्पना नष्ट होती जाती है और एक देवताकी कल्पना स्थान पाती है। यह ऊपर कहे हुए मानवशास्त्रके सिद्धांतही की साक्षी है।

अंतमें यही सिद्धांत मनुष्य और देवताओंके परस्पर संबंधमें भी उपयोगी होता है। मानवीय संस्कृतिके पूर्वकालमें सृष्टिकी शक्तियोंके स्थानपर मनुष्य

जिस प्रकार देवताकी कल्पना करता है उसी प्रकार वह अपने स्वभावशीलकी प्रतिमा-मूल अनेक देवताओंकी भी कल्पना करता है। उस समयकी कल्पनाके अनुसार सृष्टि देवता सबसे बड़ी और श्रेष्ठ देवता होती है परन्तु इसके साथ ही साथ उस समय मनुष्य, जातिविशेष, स्थलविशेष मनुष्यविशेष संबंधी देवताओंकी भी कल्पना करता है। और इस प्रकार असंख्य देवताओंकी सृष्टि हो जाती है। स्थलदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि इसी प्रकारके देवताओंमेंसे हैं। ग्रामदेवताका कार्य ग्रामकी रक्षा करना, कुलदेवताका कार्य कुलकी रक्षा करना आदि भिन्न भिन्न नियमित कार्योंके लिये देवताओंकी कल्पना होती है। फिर चाहे उस क्रमसे संबंध रखनेवाले मनुष्य क्षुद्र हों अथवा श्रेष्ठ हों। यहुदी लोग जिहोव्हा नामक देवताके संबंधमें मानते हैं कि वह यहुदी लोगोंकी रक्षा करता है। ऐसे देवताओंके गुण धर्म भी उनके शासनमें रहनेवाले मनुष्य समुदायके गुण धर्मानुसार ही माने जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य समुदायसंबंधी श्रेष्ठ व्यक्तिके स्वभावकी पराविधपर उत्कर्षरूपसे देवताका स्वभाव माना जाता है। नीच जातियोंके ग्राम देवताको प्रसन्न करनेके लिये भैंसेकी बलि आवश्यक होती है और अहिंसा धर्मावलम्बियोंकी ग्रामदेवता मुर्ईकोड़ेको काट देनेसेही समझ जाते हैं। भिन्न भिन्न कुलदेवताओंमें भिन्न कुलके रक्षणार्थ लड़ाई झगड़े भी होते थे। परन्तु ज्ञान प्रसारके कारण इन बातोंकी विसंगतता लोगोंको मालूम होने लगी और ईश्वर व देवताओंमें माने जानेवाले निष्पक्षपात, सहृदयता, क्षमाशीलता, आदि श्रेष्ठ गुणोंका क्रोध, मत्सर, झगड़े आदि क्षुद्रमनोविकारोंके साथमें मेल कैसे बैठ सकता है? यह शंका लोगोंको होने लगी। जब लोगोंने देखा कि जिन्हें अपन देव मानते हैं उनका परस्पर जातीय कलहके कारण पराभव भी हो सकता है तब लोगोंका विश्वास डगमगाने लगा। और अंतमें गत प्रकरणमें कही हुई धर्म विचारकी परंपराके अनुसार छोटे छोटे देवताओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ और सब प्राणियोंको उनके सुकृत दुष्कृतको एकही तराजूसे तोलनेवाला ईश्वर कोई भिन्न ही है ऐसा ज्ञान लोगोंको हुआ। इससे स्पष्ट होता है मानवीय ज्ञान और अनुभवकी गंभीरताके साथ साथ उनकी देवत्वकी कल्पनाको भी गंभीरता प्राप्त होने लगती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देवताओंकी कल्पना, उनका गुण धर्म और उनका मनुष्य जातिसे माना जानेवाला संबंध इस धर्म विचार [illegible] देवताओंकी

दृष्टिसे देखनेपर मनुष्यकी देवताविषयक कल्पना उसके तात्कालीन ज्ञान, अनुभव व शारीरिक और नैतिक परिस्थितिपर अवलंबित है ।

इस तत्वके समर्थनके लिये यदि दूसरे धर्मोंके समान हिन्दू धर्मका निरीक्षण किया जाय तो बहुत कुछ प्रमाण मिल सकेंगे । आर्य संस्कृतिके प्रथम आदर्श स्वरूप वेदोंमें सृष्टिकी प्रत्येक शक्तिको देवता मानकर उन्हें पूजनेका आदेश है। एक गुलाबी-वर्णकी स्त्रीके समान अंधकार रूपी पर्देवाले रथमेंसे धीरे धीरे अपना सुंदर वदन दिखानेवाली उषा, उसके पीछे आज्ञाक पुरुषके समान नित्य-नियमसे आगमन करनेवाला सूर्य, आकाशके मेघरूपी वृत्रासुरका ताड़न कर प्रजकी वर्षा करनेवाले और जल, तृण, धान्य, फल, पुष्पको उत्पन्न करनेमें सहायक इन्द्र, संपूर्ण वस्तुओंको प्रचंड वेगसे उड़ाकर लेजानेवाले मरुद्देव, अपने भयंकर रूपसे वनके वन जलाकर स्वाहा कर देनेवाले और सौम्यरूपसे अपने ज्वालारूपी करोंके द्वारा याजकोंका हविर्भाग ग्रहण करनेवाले अग्निदेव आदि सब सृष्टि-देव थे । पीछे धीरे धीरे इनकी संख्या कम होने लगी और आका-रमें केवल पंचमहाभूतोंके मुख्य पाचही देवता रह गये । इसके बाद सबका मूल मुख्य एकही ईश्वर है यह विश्वास दृढ़ हुआ और " सर्व भूतानां हृद्देशे-ऽर्जुन तिष्ठति " का सिद्धात सर्व मान्य हुआ । इससे भी आगे जाकर उस ईश्वरकी स्वरूप जिज्ञासाका पर्यवसान ब्रह्म तत्वमें होता है, यह माननेवाले औपनिषदिक तत्वज्ञानका उदय हुआ । इसका विवेचन आगे होगा; परन्तु इस प्रणालीके द्वारा उक्त सिद्धान्तका समर्थन होता है । इस सिद्धांत अथवा तत्वको प्रतिबिंब तत्व (Law of Reflexion) कह सकते हैं क्योंकि मनुष्यकी धर्म भावना इस तत्वके अनुसार तत्कालीन ज्ञान, अनुभव, आदिके प्रति-बिंबरूप होती है । यह प्रतिबिंब तत्व ही धर्मभावनाका पहिला आधार है ।

उक्त प्रतिबिंब तत्वके समान एक और दूसरा महत्वका तत्व धर्मभावनाकी जड़में है । इसका नाम " समीकरण तत्व " (Laws of Balance) रखना उचित होगा । इसके संबंधमें पीछे विवेचन किया जा चुका है । पर-मेश्वरके निर्माण किये हुए भौतिक विश्वमें हजारों प्रकारकी शक्तियां अपनी ओरसे और अपनी दिशासे कार्यकर रही हैं परन्तु सबके समीकरणसे ही जगत्को स्थिरता प्राप्त हुई है । एक तराजूके दोनों पलड़ोंमें जबतक विषम वजनकी वस्तुएँ होती हैं तबतक तराजूको स्थिरता प्राप्त नहीं होती । अधिक वजनके समीकरणके लिये कम वजनकी ओर उतना ही वजन मिला देनेसे

उसे स्थिरता प्राप्त हो जाती है । रेलवेके एंजिनमें उत्पन्न होनेवाली भाफसे रेलवे ट्रेन चलती है परन्तु यदि पीछेसे ब्रेक नहीं कसा जाय तो वह स्टेशन आनेपर भी चलती ही रहेगी, ठहरेगी नहीं । पृथ्वीके अंगमें आकर्षण शक्ति होनेसे मनुष्यके वर्तुलाकार चलनेसे मनुष्य नहीं गिरता सूर्य मालिकाके ग्रह यदि केवल अपनी अपनी ही गतिसे चलने लगें तो ग्रहमाला कभी नहीं टिक सके क्योंकि फिर ग्रह आकाशमें कहीं न कहीं अंतर्धान ही हो जाँय परंतु एक ग्रहके आकर्षणसे दूसरे ग्रहका समीकरण होता रहता है । स्थूल सृष्टिमें भी दिखलाई पड़ता है कि मनका वेग किसी मार्ग विशेषमें दौड़ने लगता है उस समय उसे रोकनेकी यदि दूसरी प्रतिबंधक शक्ति न हो तो उस मनुष्यके मस्तिष्ककी दशा बिना खेवटियाकी नौकाके समान हो जाय। जैसे कि व्यावहारिक मनुष्यकी यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि, सुखप्राप्तिके अर्थ द्रव्य संपादन किया जाय । इस इच्छाका नियमन करनेवाली यदि सारासार विचारशक्ति नहीं हो तो मनुष्य द्रव्य प्राप्तिके लिये चोरी, डाँके खून आदि दुष्कृत्य करनेमें भी आगा पीछा नहीं सोच सकेगा । यदि कानूनके द्वारा यह नहीं ठहराया जाता कि कोई मनुष्य अन्य मनुष्यका अपकार करेगा तो उसे दंड होगा तो मनुष्य प्रवृत्तिमें रोक कभी न हुई होती । सारांश यह है कि मानसिक, शारीरिक, भौतिक आदि प्रत्येक शक्तिको नियमन करनेवाली यदि दूसरी शक्ति न हो तो जगतमें स्थिरता ही नहीं आ सकती । और इसीलिये सृष्टिमें आकर्षण शक्तिकी योजना की गई है । यही दो परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका समीकरण करनेवाला, जगतका सतत अस्तित्व संबधी महत्त्वका तत्त्व है ।

यह तत्त्व धर्म-सापेक्षताकी कल्पनाके लिये प्रमुखतासे आधारभूत है, इसकी परीक्षा करनेके पहिले एक शंकाका निरसन कर लेना आवश्यक है । ऊपर समीकरण एक स्वतंत्र तत्त्व माना गया है । परन्तु उत्क्रांति-तत्त्व-वादियोंका इसके विरुद्ध यह आक्षेप है कि यह स्वतंत्र तत्त्व न हो कर उत्क्रान्तिके तत्त्वसेही निकलनेवाला उपसिद्धान्त है । यह जाननेके लिये यहाँ उत्क्रान्ति तत्त्वकी पुनरावृत्ति करना होगी । इस उत्क्रान्ति तत्त्वके पुरस्कर्ताओंके मतानुसार विश्वका अत्यल्प घटक परमाणु है । पहिले अनेक परमाणु मिलकर एक समूह बनता है फिर अनेक समूहोंके एकत्रित होनेपर कुछ आकृति धारण करनेवाले पदार्थोंकी रचना होती है । इस तत्त्वके मतानुयायियोंका

१

कहना है कि इन परमाणु और परमाणु समूहके एकत्रित होनेकी क्रियामें ही समीकरण तत्वका अंतर्भाव होता है क्योंकि परमाणु समूह इसी प्रक्रियासे एकत्रित होते हैं कि परमाणुको एकत्रित करनेवाली आकर्षण शक्तिका उन्हें पृथक करनेवाली अपकर्षण शक्तिसे समीकरण होता है। जैसे मान लो कि लकड़ीके दो टुकड़े एक दूसरेमें मिलाकर एक चीज करना है इनमेंसे एक चौकोन है और दूसरा गोल है। गोल टुकड़ेमें वर्तुल परिधाके सरल न होने कम अपकर्षण अथवा प्रतीकार शक्ति, आकर्षण शक्तिकी अपेक्षा अधिक रहती है इसलिये वर्तुलकी परिधा सरल न होनेके कारण उन दोनों टुकड़ोंका मेल नहीं बैठता परन्तु वेही दो टुकड़े यदि चौकोन हों तो दोनोंका पृष्ठ भाग समान होनेके कारण आकर्षण अथवा अपकर्षण शक्तिका समीकरण हो सकता है और दोनों मिलकर एक हो सकते हैं। इस प्रकार उत्क्रांतिके तत्वमेंही सहजरीत्या समीकरणके तत्वका अंतर्भाव हो जाता है। अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितिके समीकरणसे ही उद्भिज आदि सृष्टियां निर्माण होती हैं। जैसे कि शिलापर वृक्ष उत्पन्न नहीं होते क्योंकि वृक्षको पोषण करनेवाली परिस्थिति शिलाकी अपकर्षक शक्तिके कारण प्रतिकूल हो जाती है। परन्तु मिट्टीकी अपकर्षण शक्तिका वृक्षकी आकर्षण शक्तिसे समीकरण हो जाता है। और वृक्ष उत्पन्न होता है। अतएव उत्क्रान्तिवादी समीकरण तत्वको स्वतंत्र न मान कर उत्क्रान्ति तत्वकाही उपनियम बतलाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो उनके इस आक्षेपमें ही उनका उत्तर है। उत्क्रांतिकी प्रत्येक क्रियामें जो पूर्णतया समीकरण तत्व दिखलाई पड़ता उसका अर्थ ही यह है कि समीकरण रूपी आद्य-तत्वके अनुसारही उत्क्रांतिकी प्रक्रिया होती है इस कारण समीकरणको ही आद्यत्व और महत्व प्राप्त होता है। तात्त्विक समाधानकी अपेक्षा दूसरा भी इसका एक सबल कारण है। वह यह कि उत्क्रांति तत्वकी व्याप्तिकी अपेक्षा समीकरण तत्वकी व्याप्ति अधिक विस्तृत है यह एक ही बातसे ध्यानमें आ जायगा। गत आधिभौतिक शास्त्रके विवेचनमें हर आलिम्बर्ट लालके निष्कर्ष स्वरूप उद्गार उद्धृत किये गये हैं कि परमाणुओंके द्वारा निर्माण जड़ पदार्थोंकी वृद्धि और प्रक्रिया उत्क्रांति तत्व प्रकट कर सकता है। परन्तु यह तत्व अल्पतम रजो बिन्दुके द्वारा प्राण तत्वका उद्भव सिद्ध नहीं कर सकता। प्राण, बुद्धि, मन, आदिके जड़ सृष्टि द्वारा उत्पन्न होनेकी सिद्धि करनेवाले सब प्रयत्न निष्फल

होते हैं। सारांश यह कि उत्क्रांति तत्त्वकी व्याप्ति जड़ सृष्टिसे आगे नहीं है। परन्तु समीकरण तत्त्वपर जड़ और चैतन्य, स्थूल और अतीन्द्रिय सृष्टिके भी व्यापार चलते हैं ऐसी दशामें उत्क्रांति तत्त्व, समीकरण तत्त्वसे महान् कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता, किन्तु उत्क्रांति तत्त्वही समीकरण तत्त्वका एक उपसिद्धान्त है यही कहना उचित होगा।

इस प्रकार समीकरण तत्त्वका स्वरूप और उत्क्रांति तत्त्वसे उसका अधिक महत्त्व सिद्ध हो जाने पर देखना है कि यह तत्त्व धर्म कल्पनाके लिये आधारभूत किस प्रकार हो सकता है? प्रत्येक मनुष्य यदि स्वतःके अनुभव परसे देखेगा तो उसे विदित होगा, कि इच्छा, आशा, कल्पना, महत्त्वाकांक्षा आदि प्रत्येक मनुष्यमें अपार होती हैं। परन्तु उनकी पूर्तिकी शक्यता, जगतकी परिमितता एवं, चारो ओरकी परिस्थितिकी अनुकूलतापर अवलंबित है। प्रत्येक मनुष्यको राजा महाराजा अथवा बादशाह होनेकी इच्छा होती है। परन्तु वैसे होनेकी शक्यता न होनेसे मनुष्य अपनी इच्छा कम कर उसका शक्याशक्यतासे समीकरण करता है। यदि ऐसा न होता तो अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिके अर्थ किये गये प्रयत्नोंसे और अंतमें होनेवाली निराशासे मनुष्य हताश हो गया होता। हवाई विमानपर चढ़कर मनुष्य जब ऊपर जाता है तब वह विमानको जारी रखनेके लिये बालू रेतसे भरी हुई थैलियां अपने साथ रखता है। जब ऊपर चढ़ते चढ़ते उसे यह मालूम हो जाता है कि जिस वेगसे चढ़ रहे हैं वह वेग ऊपर जाने-पर भी सहन हो सकेगा तब वह बालूकी उन थैलियोंमेंसे कुछ थैलियां नीचे फेंक देता है और इस प्रकार अपना बोझा कम कर देता है। और जब उसे यह मालूम होता है कि वेग सहन नहीं हो सकेगा। तब वह उन बालू रेतकी थैलियोंसे वेग कम करता है। अर्थात् विमानकी गति और वेग सहन करनेकी शक्तिका वह प्रति समय समीकरण करता रहता है।

शक्याशक्यताका विचारकर मनुष्य भौतिक सृष्टिके सुखोपभोगके सम्बन्धमें अपने मनको रोकता है। यद्यपि उसकी दिक्कालादिसे परिमिति न होनेवाली अनन्त सुखकी लालसा नष्ट नहीं होती। तो भी मनुष्य यह भी दिन निकल जाँयगे, यह कहकर अपना समाधान कर लेता है। उसकी इस जन्ममें कभी भी प्राप्त न हो सकनेवाले सुखोंकी इच्छाका समाधान करनेका साधन धर्म है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी शक्ति और भौतिक सुखसाधनोंकी न्यूनताको कल्पनाके द्वारा पूर्णकर मानसिक सुखकी कमतरताको काल्पे

आस्वादनसे पूरी करता है। और अपनी इच्छा व परिस्थितिका समीकरण करता है। इसी प्रकार इन दोनोंकी व उनके साथ इन्द्रियातीत अर्थात् सुखकी कमीको मनुष्य धर्मकल्पनासे पूरी कर अपनी इच्छाकी अपरिमितताका विश्वके अनंत तत्वसे समीकरण करता है। जब जरा अवस्था प्राप्त होती है, गर्दन हिलने लगती और कमर टेढ़ी हो जाती है, उस समय अपना 'राजा, राना, छत्रपति, हाथिनके असवार, मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार'की बारी आती है तब धर्मसे ही समाधान होता है। जन्म भर सुकृत करनेपर और उसका फल इस जन्ममें न मिलने पर यदि यह आशा न हो कि भविष्य जन्ममें उसका फल मिलेगा और सुखकी लालसा पूर्ण होगी तो उन कृत्योंका मूल्य ही क्या रहेगा ?। रणक्षेत्रमें मरनेवाले वीर स्वर्गको जाते हैं, यह हिन्दू धर्मकी कल्पना अथवा मुसलमानी धर्मकी यह कल्पना कि वीरोंके लिये स्वर्गमें सुन्दर परियां फूलोंकी माला लिये खड़ी रहती हैं न होती तो अपने बाप देशका कल्याण होगा, इस अल्प समाधान कारक बातके लिये भला कौन अपने आप देशके लिये प्राण देनेको तयार होता ?। जब कि "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" कहकर अर्जुन जैसे प्रबुद्ध व्यक्तिको भी लालच दिखाना पड़ा तो साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या ?। दुष्ट मनुष्यको उनके दुष्कृत्योंके संबंधमें यम-यातना अथवा नर्क-यातना भोगना पड़ेगी यह विश्वास यदि सर्व साधारणको न हो तो भला दुष्कृत्योंसे कौन पराङ्मुख होगा ?। इस प्रकार धर्म कल्पनाके द्वारा वर्तमान परिस्थितिमें असाध्य सुख-दुःखका मनुष्यकी आशा इच्छासे समीकरण होता है।

इस प्रमेय परसे यह स्पष्ट होता है कि मानवसमाजकी जिस समय जो विशेष परिस्थिति होती है उस समय समाजकी व्यक्तियोंकी आशा और इच्छा भी तदनुरूपही होती हैं। और इसी लिये उनका समीकरण करनेवाली धर्म-कल्पना भी उस समयकी परिस्थितिके समान होती है। यही भिन्न भिन्न धर्मोंके स्वरूपके अंतरका अथवा एकही धर्ममें समयानुसार किये हुए परिवर्तनोंका कारण है। इस संबंधमें एक दो उदाहरण देनेसे इस कथनका निश्चय और अच्छी तरह हो जायगा।

ईसाई धर्मके अवस्थान्तरकी ओर देखनेसे तथा इतिहासके अवलोकनसे यह सहजमें मालूम हो जाता है कि इस धर्मका उदय रोमन साम्राज्यके

समयमें हुआ है । उस समय रोमन साम्राज्यमें गुलामीकी पद्धति बहुत जोर शोरसे प्रचलित थी । जब यीशुख्रिस्तने अपने नवीन धर्मका उपदेश दिया उस समय रोममें यज्ञ याज्ञादिको माननेवाला धर्म अस्तित्वमें था । और यीशुख्रिस्तकी दशा सांपत्तिक दृष्टिसे हीन थी । अतएव अधिकार और संपत्तिके गर्वसे फूले हुवे श्रीमंत और कुलीन लोगोंको यीशुके नवीन धर्मको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं थी । परन्तु गुलामीके भारसे दबे हुए गरीब लोगोंमें उन्हीके समान निर्धन व्यक्ति द्वारा उपदेशित धर्मके प्रति तुरंत प्रेम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था । उस समयके लोगोंके गुलामीकी असह्य यातनाओंसे दुःखी होनेके कारण ईसाई धर्मकी उस समयकी स्वर्ग कल्पना अथवा साध्य स्थितिका स्वरूप उस यातनासे मुक्त होनेकाही हुआ । उस समय उनके स्वर्गका स्वरूप यह था कि जहाँ अपनेको कोई घूसा नहीं मार सकेगा, जहाँ पीटकर चाबुक मारनेवाला कोई नहीं है, हाथ पांव आदि शरीरावयव तोड़नेवाला नहीं है, भूखे रहनेके कारण क्रोधोन्मत्त सिंह व्याघ्रादिको पंछोक्लिसके समान चीरकर खाने देनेवाला नहीं है, जहाँ क्रीडा क्षेत्रमें वन्य पशुओंके साथ ग्लैडिएटके समान कोई कुश्ती करानेवाला नहीं है, अथवा नीरोंकी आज्ञासे भैंसेके शरीरसे मनुष्यका शरीर बंधवाकर आगमें जला देनेवाला जहाँ कोई नहीं है वह स्वर्ग है । यह उस समयकी कल्पना थी । इसके बाद यूरोपमें मध्य-युगका प्रारंभ हुआ । इस युगमें यद्यपि गुलामीपन जोरदार तौरपर नहीं था तो भी शारीरिक अथवा पशु-शक्तिके बलपर ही जगतमें बड़प्पन, श्रेष्ठता, वैभव, आदि माने जाते थे । इस समय ईसाई धर्मकी उक्त कल्पना बदल गई । और उसके स्थान पर तत्कालीन कल्पनाका समीकरण करने योग्य नवीन कल्पनाका प्रादुर्भाव हुआ । और मानवीय श्रेष्ठता, जन्म, धन, अथवा अधिकारपर अवलंबित न होकर शुद्ध-आचरण सात्विक-वृत्ति तथा नैतिक बलपर अवलंबित है, ऐसा वह ईसाई धर्म उपदेश देने लगा । और यह उपदेश ही भौतिक अधिकार व संपत्तिकी न्यूनतासे माने जानेवाली हीनताका समाधान करनेवाला होनेके कारण इस धर्मने यह घोषित किया कि सदाचारी सात्विक मनुष्योंको मृत्युके बाद इन गुणोंकी आदर्श रूप साधुवृत्ति अथवा साधु स्थिति प्राप्त होती है । इस कारणसे जब समाजमें साधुओंका महत्व बहुत कुछ बढ़ गया । और वह इतना बढ़ा कि उनके बनवाये हुए मठों और प्राप्त की हुई संपत्तिसे राजा लोग भी ईर्षा करने लगे । इसके बाद

की तीसरी अवस्थामें ईसाई धर्ममें फिर अन्तर हुआ। इस समय यूरोपमें मनुष्यमात्रको स्वतंत्रता प्राप्त हुई। और सामाजिक, राजकीय एवं धार्मिक बंधन टूट गये। तथा मनुष्य इच्छानुसार चलनेके लिये स्वतंत्र हो गया। यद्यपि ऊपर लिखी हुई विषमता इस समय नष्ट हो गई थी। परन्तु जगत् रूपी देहकी जड़में रही हुई विषमता कहाँ जा सकती थी अतएव सृष्टि व्यापारानुसार सदा रहनेवाली द्रव्य विषयक विषमता वहां बनी ही रही। समाजहितवादी लोगोंने द्रव्यके सम विभागके संबंधमें अनेक कल्पनाएँ की परंतु श्रीमंत और गरीब, पूंजीवाले और मजदूर, लक्षाधीश और भिक्षाधीश आदि भेद रह ही गये। इसीके समान बढ़ोंमें धनी और बढ़ोंमें निर्धन करनेवाली उथल पुथल भी बनी रही। और आयुष्यकी क्षणभंगुरता एवं अशाश्वतताके कारण पिता, पुत्र, बंधु, भगिनी, पति, पत्नी, इष्ट मित्र आदिके प्रेम सूत्रोंके तड़ातड़ टूटनेका भी काम जारी रहा। इस समय इस कालके अनुकूल ईसाई धर्मकी साम्य कल्पनामें भी अन्तर हुआ। और इस प्रकार स्वर्गकी कल्पना की गई कि वहाँ धनवानोंकी उद्दाम वृत्तियोंको स्थान नहीं है। और न निर्धनोंके स्वाभिमानमें बाधा ही उपस्थित होती है। वहाँ लक्ष्मी सदा स्थायी रहती है। और वहाँके प्रेमी, अखंड सहवास सुखका उपभोग करते हैं। इस प्रकार समीकरणके तत्त्वानुसार साम्यके स्वरूपमें समयानुकूल परिवर्तन ईसाई धर्मसे होता रहा।

हिन्दू धर्मको उदाहरण मानकर यदि विचार किया जाय तो उसमें भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेदमें आर्य-संस्कृतिकी आद्य-स्थितिका यह वर्णन है कि उत्तर ध्रुवके समान सदा हिमसे ढके रहनेवाले, एवं प्रकाश-रहित एवं धान्य, पुष्प रहित प्रदेशसे निकलकर नंदनवन समान रमणीक भारत वर्षमें आनेपर उनकी (आर्योंकी) उद्योग शक्तिको अपार क्षेत्र मिला। और उन्होंने गाय, बैल, वगैरह असंख्य पशुओंका संग्रह किया। तथा जमीनको जोत-बोकरके वे धान्योत्पत्ति एवं धान्यवृद्धि करने लगे। साथमें इस देशके मूल निवासियोंका पराभव कर उनपर स्वामित्वभी स्थापित करने लगे। ऐसी परिस्थिति प्राप्त होनेके कारण उनकी धर्म-कल्पना भी इसीके अनुरूप बन गई। और वे देवताओंकी स्तुतिमें अपने लिये पशु, धान्य, पराक्रम, विजय, संतति, आरोग्य, आदिकी प्रार्थना करने लगे। और वस्तुताभिषेकके समय 'हे राजा हो' ऐसा आशीर्वाद देने लगे। उस समय माना जाता था कि मृत्युके बाद

आत्मा विचित्र वर्णके दो कुत्तोंके पहरेसे छूटकर यमके दरबारमें जाता है। यदि उसने पाप किया हो तो वहांसे उसे कुंभीपाकादि नर्कमें भेज देते हैं और पुण्य किया हो तो स्वर्गमें उसे संपत्ति, अधिकार, आदिकी प्राप्ति होती है। कठोपनिषद्में कहा है कि नचिकेता, जब यमके दरबारमें गया तब यमने वह सत्य ज्ञान न मांगे इस लिये सर्व साधारण जनोंके प्रिय स्वर्गके सुखकी लालच दिखलाते हुए कहा कि:—शतायुषः पुत्र पौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि, अर्थात् नचिकेता! सौ वर्षोंकी आयु, बहुतसे पुत्र-पौत्र अनेक पशु, हाथी, घोड़े, आदि, सुवर्ण, अधिकार और भूमिभाग और ज्यादहसे ज्यादह जितनी तुझे इच्छा हो उतनी आयु मांग, इस वचनमें उस समयकी कल्पना-के अनुसार सब प्रकारके सुखोंका एकीकरण किया गया है। आगे कहा है कि यदि इससे भी तुझे संतोष न हो तो "ये ये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके, सर्वान् कामा ञ्छंदतः प्रार्थयस्व। इमारामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लं-भनीया मनुष्यैः"। अर्थात् जो वस्तु मर्त्य लोकमें दुर्लभ है वह भी मांग इस परसे यह सिद्ध होता है कि उस समयके आर्य लोगोंकी यह स्वर्ग कल्पना उनकी परिस्थितिके अनुसार थी। परन्तु आगे जाकर उनकी परिस्थिति पलट गई। उनका शासन जम गया। शत्रु हतबल हो गये। धन धान्यकी समृद्धिके कारण मूल निवासियोंकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं रही। और भौतिक सुख प्राप्त होने पर भी अंतःकरणको वास्तविक शांतिका सुख प्राप्त नहीं होता, ऐसा उन्हें विश्वास हुआ। तब उनके धर्मका झुकाव दूसरी ओर बढ़ा और जिसके सान्निध्य, सहवास अथवा एकीकारणसे अखंड सुख प्राप्त होता है, ऐसे पदार्थकी कल्पनाकी आवश्यकता उन्हें प्रतीत होने लगी। और इस प्रकारकी वस्तुका व मनुष्यका परस्परमें क्या संबंध हो, इसकी चिकित्सा होने लगी। इस चिकित्साको तत्त्वज्ञान कहते हैं। यह धर्मका उत्तर भाग है। धर्मका और तत्त्वज्ञानका यह पूर्वापर-भाव ध्यानमें रखकर ही इस समयके बादके दर्शनकारोंने कर्म-मार्गसे पूर्वोक्त स्वर्गादि सुख प्राप्त करा देनेवाले मार्गका नाम पूर्व-मीमांसा रखा और नित्य कल्पनीय पदार्थोंकी पद्धतिका उत्तर मीमांसा नाम रखा। तत्त्वज्ञान, शब्द भी श्रेष्ठ पदार्थ और मनुष्यके संबंधका वाचक है। इस शब्दमें उस श्रेष्ठ पदार्थको तत् शब्दसे उल्लिखित किया है।

इस पर-तत्त्वकी चिकित्साका प्रारंभ, ऊपर कहे अनुसार आधिभौतिक सृष्टिके विनाशत्वकी जानकारीके कारण हुआ है। जगत्की सबसे श्रेष्ठ और स्पृहणीय वस्तुके नाशवान होनेके कारण उन्हें त्याज्य समझ अमृत अथवा अविनाशी वस्तुकी खोज करनेकी व उसका स्वरूप जाननेकी जिज्ञासा जिस अवस्थामें तीव्र हुई होगी नचिकेता, उसी अवस्थाका द्योतक है। ऊपर कहे अनुसार यमके वर देनेकी इच्छा प्रगट करनेपर नचिकेताने उसे स्वीकार न करते हुए कहा कि—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः, लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा, जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव। अर्थात् धन चाहे जितना मिल सकता है पर संपत्तिसे मनुष्यका समाधान कभी नहीं हो सकता। अधिक तो क्या इच्छा होनेपर जीवन भी मिल सकता है परन्तु मुझे इनमेंसे कुछ नहीं चाहिये। मुझे तो मेरा मांगा हुआ ही वर अर्थात् पर-वस्तुका ज्ञान ही चाहिये।

इस मानसिक स्थितिमें तत्त्वज्ञानकी चिकित्साका प्रारंभ हुआ। दृष्ट पदार्थोंके गुण-धर्म क्षणिक और मर्यादित होनेके कारण अक्षय, असीम और गुण विशिष्ट वस्तुके विषयमें पहिले पहिल कल्पना हुई। फिर वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है इसकी विवेचना लोग करने लगे। उस समय यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि उस वस्तुकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन होना चाहिये?। रूपवान् वस्तुओंकी प्राप्तिको मनुष्य उन उन वस्तुओंके रूपके ज्ञानसे समझ सकता है परन्तु अगम्य और अरूपकी प्राप्तिका ज्ञान कैसे हो सकता है?। वह वस्तु मनुष्य कल्पनाके अनुसार सर्व व्यापक होनेके कारण उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?। यदि वह प्राप्त नहीं हो सकती तो मनुष्यको उसके पास जाना चाहिये। पर्वत महम्मदके पास नहीं आता तो महम्मदको पर्वतके पास जाना उचित है, इस कहावतके अनुसार मनुष्यको उस वस्तुके पास जाना उचित है। पर मनुष्य किस तरह जावे।? मनुष्यसे प्रयोजन क्या? ।क्या उसकी पंचभौतिक देह जावे?। परन्तु वह तो मृत्युके बाद नष्ट हो जाती है तो मनुष्यके उस अगम्य वस्तुके पास जानेसे किसके जानेका प्रयोजन है?। उत्तर यह है कि मनुष्यमें जो अविनाशी वस्तु रही हुई है, जिसे आत्मा अथवा निजतत्त्व (Individuality) कहते हैं, उस निराकार और निर्गुण वस्तुको उस अगम्य वस्तुके पास जाना चाहिये। इस कल्पना परसे आर्य तत्त्व-

ज्ञानकी साध्य-स्थितिकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मानी जानेवाली चार उपपत्तियोंमेंसे प्रथम उपपत्ति अस्तित्वमें आई। इसे सलोकता मुक्ति कहते हैं । मानों सर्व श्रेष्ठ परतत्त्वका एक साम्राज्य है अथवा लोक है । उस लोकमें जा उस पर-तत्त्वकी अखंड सेवा कर अक्षय सुखका उपभोग करना, यह धर्मकी आत्यंतिक कल्पना इस उपपत्तिसे प्रगट हुई । इस मतके अनुसार यही मुक्ति है। यह आर्य-तत्त्वज्ञानकी सोपान परंपरा की पहिली सीढ़ी है ।

यह पहिली सीढ़ी भी अधिक विचारके बाद अधूरी मालूम होने लगी । क्योंकि केवल उस पर-तत्त्वके लोकमें रहनेसेही आत्माकी पर-तत्त्वके साथ रहनेकी सहवास-लालसा कैसे तृप्त हो सकती है ? । दूर देशमें रहनेवाले मनुष्यको उसके गावके जिस स्थानमें उसके बालबच्चे, कुटुम्बी आदि रहते होंगे उस स्थान पर रहना अधिक आनन्द दायक हो सकता है, परन्तु केवल रहनेसे ही पूरा समाधान नहीं हो सकता । कवि कुल गुरु कालिदासके कहनेके अनुसार " अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो । धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवंति ॥" अपने बालकोंको दूरसे देख लेनेकी अपेक्षा उनके पास जाकर उन्हें अपनी गोदीमें लेनेसे ही संतान प्रेमकी पूर्ति होती है। उसी प्रकार पर-वस्तुके लोकमें जाने मात्रसे तृप्ति न होकर उसकी समीपता प्राप्त होनेकी इच्छाका होना स्वाभाविक है । इसी लिये तत्त्वज्ञानमें समीपतारूपी दूसरी सीढ़ीकी कल्पना की गई और परतत्त्वके बिलकुल समीप निरंतर साहचर्य भावसे रहते हुए, वैयक्तिक आत्माका जन्म मरणके फेरेसे छुटकारा हो जाना ही आत्यंतिक सुख है, यह माननेवाले तत्त्वज्ञानका यह दूसरा पक्ष अस्तित्वमें आया । माध्व संप्रदाय इसी पक्षका पुरस्कर्ता है । पर-तत्त्व अथवा परमेश्वर, मनुष्यकी वैयक्तिक आत्मासे वस्तुतः भिन्न है । इन दोनोंका सेव्य सेवक संबंध है । इस संबंधको जान कर जगत्‌की क्षणिक बातोंका त्याग करनेसे अंतमें सर्वेश्वरके अथवा पर-तत्त्वके समीप आत्माको स्थान प्राप्त होगा, इस प्रकार इस मतकी विचार सरणी है ।

जब कि परमेश्वर अथवा पर-तत्त्व जिसे परब्रह्म भी कहते हैं नित्य शुद्ध और अविकार्य है तो उसका निरंतर सहवास करनेकी इच्छा करनेवाला आत्मा भी उसी प्रकारका होना चाहिये। यदि दोनोंके स्वरूपमें भेद होगा तो वह भेद दोनोंकी परस्पर संगतिमें कभी न कभी बाधक हो जायगा। इसके सिवाय पर-तत्त्वके शुद्ध स्वरूपको समझनेके

इसलिये आत्मामें वैसी ही शुद्धता और अविनाशित्व भी होना चाहिये। गत उपपत्तिके अनुसार यदि दोनोंमें भेद होगा तो एक दूसरेका स्वरूप समझमें न आ सकेगा। इन कारणोंसे तीसरी उपपत्ति अस्तित्वमें आई जिसके अनुसार यह ठहराया गया कि पर तत्व और जीवात्माका स्वरूपैक्य है। अर्थात् दोनोंका स्वरूप समान है। जीवात्मा, परमात्माका ही एक अंश है। जब तक वह संसारकी वासनाओंके सूक्ष्म देहसे आच्छादित रहता है, तब तक वह अपने मूल उद्गम स्थानको भूला रहता है। परंतु वह अभ्यास, वैराग्य, और भक्तिसे जीवात्मा अपने मैलको धो सकता है। और फिर अपने निर्मल स्वरूपैक्यको जान कर निर्मल सुखका निरंतर अनुभव ले सकता है। जिस प्रकार आगीमेंसे निकली हुई चिनगारी आगीका ही अंश है। परन्तु राखसे ढंकी होने पर उसका स्वरूप भिन्न दिखता है और राखके दूर हो जाने पर उसका स्वरूपैक्य दिखलाई देने लगता है उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्माका संबंध है इस मतका विवेचन अधिकतर रामानुजाचार्यने किया है। इनके मतको विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

अंतमें इस तीसरी उपपत्तिके अनुसार माना हुआ परमात्मा और जीवात्माका सूक्ष्म भेद भी स्वीकार न होने पर केवल द्वैत पक्षकी उत्पत्ति हुई। निजत्वकी व्याप्ति जितनी विस्तृत होगी उतना ही उसका बड़ा भाव होगा इसके अनुसार यदि जीवात्माकी व्याप्ति परमात्माकी व्याप्तिके अनुसार बढ़ा दी जाय तो तत्वज्ञानकी भी वह एक प्रकारसे सीमा हो जाय। इसी अनुरोधसे शंकराचार्यने अद्वैत मतानुसार जीवात्मा और परमात्मामें बिल्कुल अंतर नहीं रखा है। उनके मतानुसार दोनों एक ही स्वरूपके हैं। और इतना ही नहीं किंतु अत्यक्षमें एक हैं। उनको दो कहना केवल व्यावहारिक भाषा है। यह भाषा-व्यवहार, प्रपंचके कारण करना पड़ता है। प्रपंच और जगतका विस्तार सब असत्य और भ्रममय हैं। वह माया है। इसके दूर हो जाने पर "मैं ही परम तत्व हूं"। मैं ही परब्रह्म हूं "अहं ब्रह्मास्मि" अथवा "तत्वमसि" की स्थिति प्राप्त होती है। यह आर्य-शास्त्रोंकी अंतिम उपपत्ति है। ईश्वर और मनुष्यके संबन्धके इन चार साध्योंमें दूसरी अनेक उपपत्तियोंका समावेश हो सकता है। इन चार सीढ़ियोंसे तत्व-ज्ञानकी एक नसेनी बनती है। यद्यपि यह ठीक है कि कालानुक्रमकी दृष्टिसे उक्त विचारसरणीके पुरस्कर्ताओंमें पूर्वा पर भाव नहीं हैं परन्तु मानवी विचार

सरणीके क्रमसे यह सत्य मालूम होगी। इस परसे अपना मुख्य सिद्धान्त उत्तम रीतिसे सिद्ध होता है। अर्थात् जिस जिस प्रकार समाजकी मानसिक नैतिक आदि स्थिति बदलती है उसी प्रकार समाजकी धर्म कल्पनाएँ भी बदलती जाती हैं। तत्कालीन सुखदुःखात्मक परिस्थिति और समाजकी भावी आशा, इच्छा व महत्वाकांक्षा इन दोनोंका जिन कल्पनाओंमें समीकरण होता है उन कल्पनाओंको ही उस कालके धर्म और तत्त्व-ज्ञानका स्वरूप प्राप्त होता है।

योंही ऊपरी तौर पर देखनेसे इस विचारसरणीमें बौद्ध धर्मका उदाहरण अपवादात्मक दिखलाई पड़ता है। इस धर्ममें सबसे अन्तकी स्थिति अथवा निर्वाण पूर्ण नाश हो जानेकी स्थितिको माना है। इसपरसे यह प्रश्न हो सकता है कि जब उस मतमें आत्माका ही अस्तित्व नहीं माना है तो मनुष्यकी अधि-काधिक सुखकी आशा, और इस जगतमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाली आधि व्याधि युक्त दुःखमय स्थिति, इन दोनोंका समीकरण बौद्ध धर्ममें किस प्रकार होता है। 'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्। भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।' इस श्लोकार्धमें कहे अनुसार प्रभात होनेपर कमल प्रफुल्लित होगा; उसमें बंदीरूपसे पड़ा हुआ भौंरा उड़ जायगा, इस कहनेके पहिले यदि 'गज उज्जहार' हाथीने उस कमलको ही तोड़ डाला 'इसका भान हो गया होता तो पहिले अर्ध श्लोकमें प्रगट किया हुआ आशा-सूत्र कभी नहीं होता। उसी प्रकार 'आयुष्योऽपि वियोग दुःख सहितं सेवाविनिर्मीयते' जैसी आयुष्यके अपूर्ण रहनेवाली इच्छाओंको तृप्त करनेकी आशा करनेवाला प्राणी यह सुन कर कि 'तू नष्ट ही हो जायगा' कभी प्रसन्न नहीं होगा। अतएव बौद्ध धर्म अपवादात्मक है। परंतु यह शंका निर्मूल है। संभव है कि बुद्धके मनमें तात्त्विक कल्पना इसी प्रकारकी रही हो। परंतु प्राकृत-जन-समाजका विश्वास ऐसा नहीं था, इसी लिये आगे जाकर (बुद्धके उपदेशोंमें समीकरण तत्त्वके अभावके कारण) बुद्ध धर्मकी भावात्मक महायान पंथका आविर्भाव हुआ। जो कि बुद्धके मूल उपदेशोंको हीन समझता था। इस महायान पंथमें बुद्धको ईश्वर मान कर उसे अविनाशी माना और यह सदा सत्स्वरूपी है तथा धर्म कृत्योंके लिये समय समयपर अवतार लेता है यह कल्पना की गई। साथ यह भी माना गया कि मृत्युके बाद सर्वस्व नाश न हो कर जन्म भर पुण्य करनेवाली व्यक्ति भी बुद्धकी भक्तिसे स्वर्गको प्राप्त होती है। अर्था

अतृप्त वासनाओंको तृप्त करनेके लिये स्वर्गकी और स्वर्गके सुख भोगनेके लिये आत्माके अविनाशित्वकी कल्पना की गई और इस प्रकार इस बौद्ध धर्मके उदाहरणसे भी समीकरण तत्त्व सिद्ध हुआ।

धर्मके स्वरूपका निरीक्षण करते करते तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन दोनोंका परस्पर संबन्ध क्या है? इसका उत्तर यही है कि तत्त्वतः इन दोनोंमें अन्तर नहीं है। अंतर जो पड़ता है वह केवल कल्पना ग्रहण करनेवालोंके अधिकारपरत्वके कारण पड़ता है। साधारण जनसमाजको धर्मके आचरणीय भाग और स्थूल कल्पनासे संतोष होता है और सुशिक्षित या विचारवान् लोगोंको तत्त्वज्ञानसे होता है।

तत्त्वज्ञान यदि विद्वानोंका धर्म है तो धर्म, साधारण जनसमाजका तत्त्वज्ञान है। दोनोंका अधिकरण स्थान वही शुद्ध बुद्ध नित्य ईश्वर ही है। जिसके समझमें जितना आता है उतनाही वह ग्रहण करता है।

इस प्रकार धर्मसाधनके विचारके आधारभूत दो सिद्धान्तोंकी परीक्षा धर्मके त्रिविधरूप—देवताओंकी संख्या, देवताओंका स्वरूप—देवताओं और मनुष्योंके संबंध—की विवेचनाके द्वाराकी गई। अब इसकी विहंगरी-त्यम-उड़ती हुई नजरसे-परीक्षा करेंगे कि मनुष्य जाति पर धर्मके सामाजिक और मानसिक कौन कौनसे परिणाम होते हैं ?।

धर्मसे पहिला कार्य्य तो यह होता है कि मनुष्यके जगतकी उत्पत्ति और उसके प्रसारके संबन्धमें जो विचार होते हैं, उनका समाधान हो जाता है। यह समाधान बुद्धिके विकास पर अवलंबित रहता है। संस्कृतिकी आरंभिक अवस्थामें प्रत्येक सृष्ट पदार्थको और उसके व्यापार चलानेवाले को देवता मानना बुद्धिग्राह्य होनेके कारण धर्म तदनुरूप विवेचन करता है। इसके बाद स्थूल पदार्थोंका देवत्व नष्ट होकर उनके अंतर्भागमें इच्छा शक्ति युक्त देवताकी कल्पना होती है। और वह अपने अदृश्य स्वरूप और सामर्थ्यकी कल्पनाके साहचर्यके कारण मनुष्यकी बुद्धिके लिये समाधान-कारक होती है। इससे आगेकी अवस्थामें एकात्मक ईश्वरकी अनेक रूपात्मक शक्तियोंके द्वारा जगत्के असंख्य चमत्कार होनेकी कल्पना धर्मके द्वारा प्रचारमें आती है और अंतमें ज्ञाता और ज्ञेय, दोनो ज्ञान-स्वरूप हैं, इस बुद्धिका समाधान करनेवाले अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व-ज्ञानका उदय होता है। सार

यह है धर्म, बुद्धिकी प्रत्येक अवस्थामें उसकी शंकाओंको निरसन कर उसे समाधान करनेका कार्य करता है ।

बुद्धिका समाधान करनेके समान ही अंतःकरण और मनोभावनाओंके समाधान करनेका भी कार्य धर्मका ही है। तत्त्वज्ञानसे धर्मका उक्त पहिला कार्य हुआ है। और धर्मके बहुजन प्रिय स्वरूपके कारण उसका यह दूसरा कार्य हुआ है। परमेश्वरकी स्तुति करनेसे पापोंका क्षालन होता है, वर्तमानके दु:खोंका बदला भविष्यकी सुख कल्पनाओंसे चुक जाता है, जीवनके दुःख, स्वर्गके इन्द्रकी अप्सराओं अथवा अमृत प्राशनके विचारोंसे भूल जाते हैं और इस जन्ममें भोगे हुए शत्रुओंके दु:खोंका भविष्यमें बदला लेनेके विश्वाससे अंतःकरणको सुख, समाधान और शान्ति प्राप्त होती है।

धर्मकी कल्पनासे चित्तको एक प्रकारकी स्थिरता प्राप्त होती है । यह धर्मका तीसरा कार्य है । जिस प्रकार धर्मसे बुद्धि और अंतःकरणका समाधान होता है उसी प्रकार सृष्टि नियंताकी अगाध शक्तिके कारण धार्मिक कल्पनासे मनमें सप्रेम भीति और विस्मय उत्पन्न होता है । जिससे यह विनीत बन जाता है। उस अगाध शक्तिके आगे अपना क्या बस चल सकता है ? तीन लोकका राज्य करनेवाले रावण सरीखे पुरुष और शताब्दियों तक जगतपर शासन करनेवाले रोम, ग्रीस वगैरहकी साम्राज्य संस्थायें जिस विश्वसत्ताके कारण कालसमुद्रमें लीन हो गई उस सत्ताके अधिकार और उसकी नियंत्रण शक्ति बहुत प्रबल है। उसके द्वारा क्षुद्र जीवोंसे लेकर महान् प्राणियों तक सबको न्याय मिलता है। और उसके आगे श्रेष्ठ व कनिष्ठ, नीच और ऊंच सब समान है। इन विचारोंसे चित्तको स्थिरता प्राप्त होती है। उत्क्रांतिकी उपपत्तिसे विश्व-रचनाका नियम भले ही प्रगट किया जा सके परन्तु उसके द्वारा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सृष्ट पदार्थ भविष्यमें अमुकही रूप धारण करेंगे। गुलामीके रूपमेंसे स्वतंत्रता, स्वार्थमेंसे स्वार्थ रहितता, भयसे आदर, पशुप्रेमसे सात्विकता, जीवन कलहमें सद्वस्तु का रक्षण आदि प्रकारसे सृष्ट पदार्थोंका उत्क्रमण होगा और यह क्रम सदा चलता रहेगा इस प्रकारकी मनमें स्थिरता लानेका आधार क्या उत्क्रान्तिके तत्त्वोंमें है ? । उत्क्रांतिके तत्त्व केवल अनुभव जन्य हैं । और सृष्टिमें विच्छिन्नता और नियम भंगुरता है। ऐसी दशामें अनुभव परसे ठहराये हुए नियमोंमें सृष्टिकी नियम भंगुरता एवं विच्छिन्नताके कारण बाधा व स्थिर

नहीं हो सकेगी इसका विश्वास क्या ? । परन्तु धर्मसे यह विश्वास होता है कि अमुक सृष्ट पदार्थ अमुक रूप धारण करेगा और उससे चित्तको स्थिरता प्राप्त होती है ।

अन्तमें धर्मसे कर्तव्यको चालन मिलता है । धर्म सदैव प्रवृत्ति-लक्षण है । अर्थात् धर्मसे कर्तव्य-कर्म करनेकी सदा प्रेरणा होती रहती है । परमेश्वरको भी किसी विशेष कारणके बिना जगतकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका निरंतर कार्य करना पड़ता है तो उसके जगतके प्राणियोंको भी उसका अनुकरण करना चाहिये । और निरंतर कर्म करते रहना चाहिये । यदि इच्छासे नहीं किया हो तो अनिच्छा पूर्वक वह करावेगा । और उन इच्छा, अनिच्छा, पूर्वक किये हुए कर्मोंका फल प्राप्त होगा । अच्छे कर्मोंका अच्छा और बुरे कर्मोंका बुरा फल अवश्य प्राप्त होगा । इसलिये मनुष्यको सदा सत्कर्म और कर्तव्य करना ही चाहिये । धर्मके द्वारा इस प्रकारकी सत्प्रेरणा होती है । तत्त्वज्ञानमें भी यही निष्कर्ष निकाला गया है । बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्यसे जारत्कारव आर्तभागके पुनःप्राप्तिका मार्ग पूछने पर याज्ञवल्क्यने प्रश्नकर्तासे विचार कर यह ठहराया है कि ' कर्म हैव तदूचतुः । पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति। पापः पापेन।' अर्थात् कर्म ही पूछे हुए प्रश्नका उत्तर है । पुण्य कर्मसे प्राणी पुण्यवान होता है और पाप कर्मसे पापी होता है । कृत्योंके परिणामकी यह सरणी निश्चित हो जाने पर मनुष्यके सत्कर्मोंको प्रोत्साहन मिलता है । यही धर्मका अंतिम और महत्वका कार्य है ।

धर्म-परिणामका इस प्रकार वर्णन करते समय एक यह बड़ा प्रश्न उत्पन्न होता है कि नित्य व्यवहार और प्रतिदिनके आयुष्यक्रममें धर्मका कार्य क्या है ? । भले ही अप्रत्यक्ष रूपसे मन पर परिणाम उत्पन्न कर मनुष्य-कृति पर धर्मने अपनी छाप लगादी हो परंतु प्रत्यक्षतः प्रतिदिनके व्यवहारमें धर्म क्या कर सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं । पहिली शंका यह है कि धर्मकी प्रक्रिया जो ऊपर कही गई है उसके अनुसार सृष्ट चमत्कारोंके रहस्यको न जाननेके कारण मनुष्य उन चमत्कारोंमें अपने ही समान देवतात्मक शक्तिकी योजना करता है । परन्तु आधिभौतिक शास्त्रोंके द्वारा ज्यों ज्यों चमत्कारोंके रहस्यका उद्घाटन होता जाता है त्यों त्यों देवताओंकी संख्या कम होती जाती है । तो कभी ऐसा भी समय

आवेगा कि जब बहुत ही कम गूढ़ चमत्कार ऐसे रह जावेंगे, जिन्हें भौतिक शास्त्रने हल न किये हों। और ऐसी दशामें धर्मकी व्याप्ति भी बहुत कम रह जावेगी क्योंकि उस समय भौतिक शास्त्रोंके द्वारा मनुष्यकी प्रायः सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकनेके कारण इष्ट वस्तुकी प्राप्तिके अर्थ देवताओंकी प्रार्थना करनेका कोई कारण ही न रहेगा। केवल तात्त्विक दृष्टिसे जगत्‌का आदि कारण माने जानेवाले परमेश्वरको, उसकी अगाध सामर्थ्य, कृपा और अमित गुणोंके कारण स्तुति करनेका ही अवसर रहेगा। अर्थात् उस समय धर्मके आचार भागकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

मनुष्य अपनी कृतियों द्वारा जो प्राप्त नहीं कर सकता वह देवता देते हैं, यह एक धार्मिक कल्पना है। परन्तु सृष्टि-ज्ञानसे जब वे वस्तुएं प्राप्त होने लगेंगी तब धर्मके एक अंगके ही नष्ट हो जानेकी संभावना है। यह दूसरी शंका है।

तीसरी शंका यह है, कि मनुष्य, परमेश्वरके कोपके भयसे धर्म करनेको प्रवृत्त होता है। दुष्काल, रोग आदिकी तथा यम-यातनाकी भीतिसे मनुष्य परमेश्वरका स्तवन व अन्य प्रकारके धर्म कृत्य करता है। जब भौतिक ज्ञानके द्वारा आपत्तियों भी दूर करनेकी सामर्थ्य मनुष्यमें उत्पन्न हो जावेगी तब ईश्वरको कौन पूछेगा? और कौन फिर नर्कसे डरेगा?।

एक शंका यह होती है कि समाजके सब मनुष्योंके मन समान नहीं होते। धर्मका आधार बुद्धि और अंतःकरणकी भावनापर अवलंबित है। परन्तु ऐसी भी कितनी व्यक्तियाँ हैं जो इनके विकारोंके वश नहीं होतीं। ऐसे लोग थोड़े नहीं है जो अपने नित्यके व्यवहार स्वार्थ दृष्टिसे करते हैं और बहुत हुआ तो नीति, अनीतिका विचार कर लेते हैं। बस इससे अधिक वे ईश्वरके अस्तित्वके झगड़ेमें नहीं पड़ते। ये लोग धर्मका विचार बिल्कुल न कर अपनी आयु पूर्ण करते हैं। संभव है कि कुछ समयके बाद इस प्रकारके मनुष्योंका ही सर्व साधारण समाज बन जाय और इनके सिवाय धर्मको माननेवाले लोग अज्ञानी अथवा क्षीण भावनावाले माने जाने लगें। ऐसी अवस्थामें सार्वत्रिक व्याप्तिके तत्त्वको बाधा आवेगी। और धर्म व व्यवहारका नित्य संबंध माननेका कोई कारण नहीं रहेगा।

अंतमें ऐसी भी शंका उपस्थित होती है कि धर्म, कुछ माने हुए तत्त्वोंका संग्रह होनेके कारण कुछ समय बाद जब उन तत्त्वोंका अर्थ-बोध नहीं होता तब

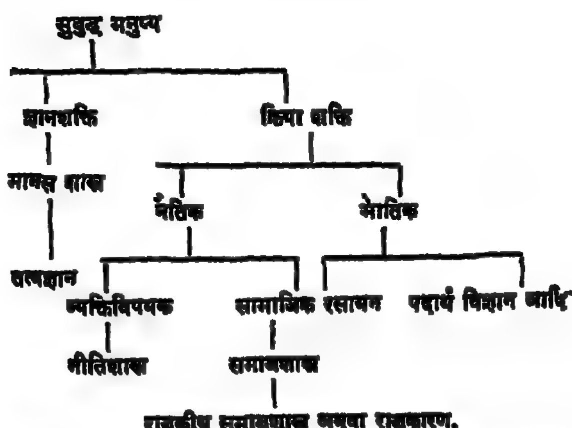
उन तत्त्वोंको माननेवाले लोगोंमें नीति, अनीतिका प्रेम न रहकर एक प्रकारका दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है। और धर्मके नामसे अनेक अधर्म कृत्य किये जाते है। मुसलमान और क्रिश्चियनोंके धर्मसंबंधी युद्ध, प्रोटेस्टेण्ट और कॅथोलिक पक्षोंने धर्मका नाम लेकर किया हुआ हजारों मनुष्योंका वध और मुसलमानोंके भारतमें किये हुए धार्मिक अत्याचार यदि धर्मही माने जावें तो धर्मकी व्याख्या ही उलटी करनी पड़ेगी। और ऐसी दशामें धर्म न होनेकी अपेक्षा विशिष्ट धर्मका होना अधिक घातक मानना पड़ेगा।

इन सब शंकाओंका निष्कर्ष यह है कि दिनपर दिन नित्य व्यवहारके राज्यमें धर्मका क्षेत्र कम होता जाता है और एक दिन ऐसा समय आवेगा जब कि उक्त अड़चनोंके कारण धर्मको कहीं स्थान ही नहीं रहेगा। उसका उत्तर इतनाही है कि धर्म, अपने प्राचीन अर्थमें तो दिनपर दिन वास्तवमें कम होता जायगा परंतु सम्पूर्ण सृष्टिके आदि कारणसे मनुष्यजातिके संबंधकी एकात्मता पूर्वक जानकारी उत्पन्न करनेवाले अर्थका द्योतक धर्म, सृष्टिमें निरंतर वास करेगा। यह निःसंशय है।

इस प्रकार इस प्रकरणमें धर्म विषयक विभागका विचार किया गया है। धर्म कल्पनाकी उत्क्रांतिपर विचार करते समय यह निश्चित किया गया है कि पहिले पहिल, धर्म आचारप्रधान होता है। फिर धर्मके इस आचार मार्गसे मनुष्यका समाधान न होनेके कारण तथा सृष्टिके आदि तत्त्वसे समरस होने रूप धर्मके उद्देश्यकी प्राप्तिके कार्यमें आचरण, भौतिक परिस्थिति, सामाजिक बंधन आदिके द्वारा प्रतिबंध उपस्थित होनेके कारण मनुष्य धर्मके तत्त्वज्ञान रूप मार्गकी ओर झुकता है। इस मार्गमें गमन करते समय वह बहुतसी उपाधियां निकाल डालता है। और अनेक बंधन तोड़ डालता है। अंतमें मैं सम्पूर्ण स्वतन्त्र हूं, मुझे समाज अथवा सृष्टि भी बद्ध नहीं कर सकती इस तत्त्वको वह पहिचान लेता है। इस पद्धतिमें भी व्यक्तिका बंध-विमोचन ही सुधारणाका मुख्य लक्षण दृग्गोचर होता है। और इस धर्मकल्पनामें वैयक्तिक-स्वातंत्र्य पूर्णतया माना जाता है। इस लिये यह निष्पन्न होता है कि ऐसी स्थिति प्राप्त होना ही सम्पूर्ण सुधारणा है।

प्रकरण चौथा.

राजकीय अनुशासन.



सर्वांगीण प्रगतिही वास्तविक सुधारणा है। जिस प्रकार शरीरमें एक बिगड़ जानेपर वह फुंसियोंके रूपमें बाहिर निकलता है, उस समय यदि सर्वांगके रक्तकी शुद्धिका उपाय न कर केवल एकाधी फुंसीकोही मलहम पट्टी की जाय तो रोगका प्रतीकार नहीं होता उसी प्रकार सामाजिक विकारोंकी चारों ओरसे चिकित्सा होनेपरही राष्ट्रकी वास्तविक प्रगति हो सकती है। समाजके अन्य अनेक अंगोंमें एक राजनैतिक अंग भी है जो कि मुख्य अंग है। राजनीतिशास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे जो संबंध है उसको बतलानेके लिये सर फ्रेडरिक पोलाकने एक कोष्टक बनाया है। जिसका अनुवाद इस प्रकरणके आरंभमें दिया गया है। राज्य करनेकी सार्वत्रिक पद्धतियोंके मुख्य मुख्य तत्वोंका एकीकरण ही राजनीति है। जगतके प्रारंभसे जब जब कुछ मनुष्योंका समूह जहाँ जहाँ एकत्रित हुआ होगा वहाँ वहाँ और तब तब

उनके परस्पर संबंधको निश्चित करनेकी कुछ न कुछ योजना हुई होगी। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता ऍरिस्टॉटलने कहा है कि " मनुष्य राजकीय प्राणी है "। यह ठीक है कि मनुष्यका यह परस्पर संबंध काल और परिस्थितिके अनुसार बदलते रहता है। आरंभमें भी यह किसी न किसी तत्वपर निश्चित हुआ ही होगा। इस संबंधमे यदि प्रारंभिक स्थितिके वर्णनपर विचार किया जाय तो निर्णयके बाद यह मालूम होगा कि मनुष्य समूहको राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये छह बातोंकी आवश्यकता रहती है। पहिली जन-संख्या एक विशिष्ट प्रकारकी हो। कुछ व्यक्तियोंसे बने हुए कुटुम्बकी रचना और उसका परस्पर संबंध राष्ट्रके जन समूहके समान होने पर भी एक कुटुंब राष्ट्र नहीं कहलाया जा सकता। ऐसे अनेक कुटुंबोंके मिलनेपर ही राष्ट्र संज्ञा प्राप्त हो सकती है। हां ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि यह संख्या इतनीही हो। ग्रीस देशमें बहुत छोटे छोटे राष्ट्र थे। राष्ट्र होनेके लिये कमसे कम इतनी संख्या चाहिये कि कौटुम्बिक हित संबंधकी अपेक्षा एकत्वका संबंध अधिक व्यापक रीतिसे उत्पन्न हो सके। ज्यों ज्यों दिनपर दिन समयके साथ साथ राष्ट्रके प्रजाकी संख्या बढ़ने लगती है त्यों त्यों वह राष्ट्र अधिक प्रबल होता जाता है। और वह उससे छोटे राष्ट्रोंकी स्वतंत्रताके लिये यम स्वरूप होता है। और इसी लिये राष्ट्रोंकी जीवन कलहमें छोटे छोटे राष्ट्रोंकी सुरक्षितता और वृद्धिकी कमी होनेकी संभावना हो जाती है। परन्तु यह बात नहीं है कि राष्ट्र बननेके लिये विशेष बड़प्पनकीही आवश्यकता हो।

संख्याके बाद राष्ट्रकी दूसरी विशेषता भूमि है। किसी न किसी निश्चित भूमि-भाग पर रहनेवाले जन-समूहको ही राष्ट्र संज्ञा प्राप्त हो सकती है। अरबस्तान देशके मुसलमानों, पॅलेस्टाइन देशमें बसती करनेके पहिले हिब्रू लोगों और हिंदुस्थानमें पहिलेके भील, जाट, पेंढारी वगैरह लोगोंमें राष्ट्रके दूसरे लक्षण भलेही रहें हों परन्तु उनका वसतिस्थान निश्चित न होनेसे उनके समूहको राष्ट्र संज्ञा प्राप्त न हो सकी। यद्यपि मूलकी भूमि, दूसरे प्रदेशोंके द्वारा अपहरण होनेसे, विवाहादि कृत्रिम संबंधोंसे अथवा दाय भागके अधिकारादिसे कम ज्यादह हो सकती है परन्तु राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये निश्चित भूमि-भाग होनेकी अवश्य आवश्यकता है।

राष्ट्रके अस्तित्वके लिये तीसरी बात-यह आवश्यक है कि उक्त भूमि-प्रदेशमें रहनेवाले विशिष्ट जन-समूहमें सामान्य हितमूलक ऐक्य हो।

समूह एक प्रकारके हानि लाभसे संबद्ध होना चाहिए। इससे यह प्रयोजन नहीं है कि उस देशकी भिन्न भिन्न समाजोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ भेद न हो। क्योंकि ऐसा होना तो असंभव है, परंतु सब सामान्य हित-संबंध एक होनेसे एक सूत्रमें गुथे हुए परस्पर भिन्न परन्तु मालाके रूपमें एकत्र युक्त मणियोंके समान होना आवश्यक है और यही राष्ट्रीयत्व प्राप्त होता है।

चौथी बात समाजमें शास्ता और शासितके भेदकी आवश्यकताकी है। जिस समाजमें यह भेद नहीं है वह समाज राष्ट्र नहीं हो सकता। तीर्थ-दर्शनार्थ निकले हुए अनेक कुटुम्ब, तीर्थ दर्शनकी एक इच्छासे एकत्रित रहते हैं और उनमें अनुशासनका प्रश्न उपस्थित नहीं होता परन्तु साथही वे राष्ट्र भी नहीं कहे जा सकते। परन्तु राष्ट्र कहलानेवाले समूहमें अनेक इच्छाएं आदि होनेके कारण अनुशासन प्रश्न रहता ही है अतएव शास्ताका पक्ष होनाही चाहिये फिर चाहे वह एक व्यक्तिरूप हो, अल्प संख्याक हो अथवा बहु संख्याक हो। बिना शास्ताके हुए देशमें अराजक स्थिति उत्पन्न हो सकती है और रामायणमें कहे अनुसार "अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात" अर्थात् अराजकोंका कोई राष्ट्र नहीं होता। अतएव राष्ट्रमें शास्ताकी आवश्यकता है। यह शास्ता यदि एक ही मनुष्य हो और पूर्ण स्वतंत्रतासे राज्य करे तो इस प्रकारकी व्यवस्थाको राजसत्ताक पद्धति (Absolute monarchy) कहते हैं। यदि ऐसे एक व्यक्तिकी स्वतंत्रता पर जवाबदार मंत्रियोंका दबाव हो तो उस राजपद्धतिको मर्यादित राज्य सत्ता (Limited monarchy) कहते हैं। ऊपर कहे अनुसार यदि राज्य सत्ता किसी एक व्यक्तिके हाथमें न हुई और कुछ ठहराये हुए सरदार अथवा राजपुरुषोंके संघके हाथमें हुई और वह संघ स्वच्छंदतानुवर्तित्वसे अनियन्त्रित अधिकारोंका उपयोग करता हो तो उस पद्धतिको अल्प संख्याक (Oligarchy) राज्य-सत्ता कहते हैं। और यदि राज्य पद्धति तो इन ऊपर कही हुई पद्धतियोंमेंसे ही किसी प्रकारकी हो परन्तु वह केवल राज्यकर्ताओंके ही लाभका विचार न कर प्रजाजनके लाभका भी न्यूनाधिक रीतिसे विचार करे तो उसे (aristocracy) अभिजन सत्ताक पद्धति कहते हैं। इन सब पद्धतियोंमें यह विशेषता होती है कि राजपक्षपर प्रजा पक्षका दबाव नहीं होता। यद्यपि इन पद्धतियोंके द्वारा प्रजापक्षके लाभकी भी बातें हो जाती हैं परंतु वे प्रजाकी पक्षसे न होकर राज्यकर्ताओंकी उदारता अथवा प्रजावत्सलताके

कारण होती हैं। इनके सिवाय एक लोकसत्ताक राज्यपद्धति (Democracy) होती है। इसमें राज्यशासन प्रजाकी इच्छासे चलता है। निश्चित नियमोंके अनुसार प्रजाकी इच्छासे राज्य किया जाता है। यदि प्रजाको यह मालूम होता है कि प्रतिनिधि मंडल, पद्धति व अधिकारोंका अतिक्रमण कर रहा है तो इस पद्धतिमें प्रजाको यह अधिकार होता है कि वह प्रतिनिधि-मंडलसे सब अधिकार छीन ले। इस तत्त्वपर चलनेवाली राज्यपद्धतिमें भी न्यूनाधिक अधिकारोंके अनुसार तरतम भावसे श्रेणियाँ होती हैं परंतु अधिकारोंकी जड़ लोकपक्षको मानना, यह इस पद्धतिका मूल तत्त्व है। इन पद्धतियोंमेंसे किसी भी प्रकारकी राज्यपद्धति राष्ट्रके लिये होना आवश्यक है।

राष्ट्र होनेके लिये पांचवीं आवश्यकता समाजमें ऊपर बतलाये हुए गुणों-सहित एक प्रकारके प्राणित्वकी है। राज्यशासनकी क्रिया यांत्रिक क्रियाके समान निर्जीव न होकर सदेह और सेन्द्रिय प्राणिके समान सजीव * है। यह तत्त्व समझनेमें कुछ कठिन होनेके कारण इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। " मनुष्यमें प्राणित्व होता है " इस वाक्यमें तीन बातोंका समावेश है। पहिली बात तो यह है कि प्रत्येक प्राणी, प्राण व शरीरके मिश्रणका फल है अथवा उसकी क्रिया मानसिक व शारीरिक होती है दूसरी बात यह कि सम्पूर्ण अवयवोंके मिलनेसे यद्यपि प्राणीकी एक देह कहलाती है तो भी बाह्य क्रियाके कर्तृत्व भेदसे वे अवयव परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे कि शरीरके एक भागको होनेवाला दुःख दूसरे भागको नहीं होता, पाँवका काम हाथ नहीं कर सकता अतएव अवयव, कर्तृत्व भेदसे भिन्न भिन्न हैं। तीसरी बात यह है कि बाहरसे तो शरीरकी वृद्धि होती है परन्तु उस वृद्धिकी कर्तृ-

---

Thus we see that the state is identical in the characterestic of being an organization each composed of parts every subordinate and superior grouping having its own nature and principle.........

...Thus all there groupings are organs of a single pervading life.

The Philosophy of the theory of the state ch. VII

by Bernard Bosanquet.

त्व-शक्ति उस प्राणीमें ही रहती है । प्राणी-सृष्टि और स्थूल-सृष्टिकी तुलना करनेपर प्राणी-सृष्टिकी विशेषताएँ स्थूल सृष्टिमें नहीं दिखलाई पड़तीं । यदि कोई मिल या राजभवनकी प्राणी सृष्टिसे तुलना की जाय तो न उसमें प्राण है, न एकात्मता है और न वर्धनशक्ति ही है । परन्तु प्राणी-सृष्टिके लिए विशेषताएँ राष्ट्र कहे जानेवाले समाजमें मिलती हैं । उसमें पहिली विशेषता "प्राणित्व" की होती है । अथवा प्रत्येक राष्ट्रमें एक प्रकारका विशिष्ट कल्पनात्मक प्राण होता है । वह प्राण भिन्न भिन्न राष्ट्रोंमें भिन्न भिन्न गुणोंके द्वारा दृष्टोत्पत्तिमें आता है । परन्तु वह होना आवश्यक है ।

किसी राष्ट्रका स्वभाव धार्मिक होता है, किसीका स्वातंत्र्यप्रिय होता है, किसीका प्रजाको दु ख देनेका होता है और किसीका लोभी होता है * । जिस प्रकार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके भिन्न भिन्न स्वभाव होते हैं उसी प्रकार राष्ट्रोंके स्वभाव भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं । जिस प्रकार चैतन्यशक्तिके अनुसार कार्य करनेके लिये मनुष्यकी हस्त पादादि इन्द्रियाँ होती हैं उसी प्रकार राष्ट्रके भिन्न भिन्न विभाग राष्ट्र पुरुषके अवयव हैं । इन विभागोंके द्वारा योजित कार्य ठीक रीतिसे होते रहते हैं । ऊपर बतलाये हुए सजीव सृष्टिके दूसरे नियमोंके अनुसार यद्यपि यह सब अवयव—राजकीय विभाग—मिलकर एक राष्ट्र पुरुष होता है तोभी वे परस्परमें भिन्न होते हैं। मनुष्यकी इंद्रियोंके उदाहरणके समान एक विभाग दूसरे विभागका कार्य नहीं कर सकता । सेना संबंधी कार्य वैद्यकीय विभागमें कभी नहीं जायगा । और

* लार्ड मार्लेने अपने कम्प्रोमाइज Compromise नामक ग्रंथमें यूरोपके कुछ प्रमुख राष्ट्रोंके कल्पनात्मक-साध्यके स्वरूपका वर्णन किया है । वे लिखते हैं कि स्पेन राष्ट्रका साध्य स्वप्न यह है कि सम्पूर्ण राष्ट्र उपासक हो और ईश्वर व अपने देशसे बहिष्कृत किये हुए साधु पुरुषोंकी सेवा करें । अमेरिकाका साध्य अपने विस्तीर्ण प्रदेशकी अनंत साधन संपत्तिको खोजकर श्रेष्ठ पदको प्राप्त करना है । अर्वाचीन फ्रान्सका साध्य अपने देशकी राष्ट्रीय अथवा आकुंचित आत्मश्लाघाके वर्तुलके बाहिर फहराना है । जर्मनी अपने देशका एकीकरण कर उसके तेजको चारों ओर फैलाना चाहता है। और इंग्लेण्ड स्वातंत्र्यके तत्त्वका केवल मानसिक चिंतन न कर व्यवहारमें भी उसका प्रसार करनेकी इच्छा रखता है । Morley's "Compromise" P. 8–9.

न न्याय विभागका कार्य औद्योगिक विभाग करेगा। यदि किसी विभागका अधिकारी अपने अधिकारोंका अतिक्रमण कर दूसरे विभागका कार्य करता है तो उसका मुख्य विभागके द्वारा विरोध किया जाता है। इन उदाहरणोंसे राष्ट्र पुरुषके शरीर अवयवोंकी सजीवता और परस्पर भिन्नता सिद्ध होती है। सजीव सृष्टिके अंतिम तीसरे नियमके अनुसार मनुष्यके समान राष्ट्र भी वर्धिष्णु होता है। राष्ट्र की भी मनुष्यके ही समान बाल्य, तरुण और वृद्धावस्था होती है। अंतर इतनाही है कि मनुष्यकी अपेक्षा राष्ट्रकी अवस्थाएं अधिक लंबे समयकी होती हैं। राष्ट्रभी कालके वश होकर स्मृतिपथके पथिक बन जाते हैं। राष्ट्रोंका यह वृद्धि, क्षय बाहिरसे भी दिखलाई पड़ता है परन्तु उसके कारण राष्ट्रकी मनोवृत्तियोंमें गर्भित रहते हैं। इस प्रकार सजीव सृष्टिके सम्पूर्ण नियम राष्ट्रपर घटित होते हैं। और इसलिये राष्ट्रके लिये प्राणित्वकी आवश्यकता सिद्ध होती है।

राष्ट्रका छठवाँ अथवा अंतिमगुण, राष्ट्रके ऊपर कहे हुए स्वभावकी नैतिक और सात्विक गुणवर्तता है। दूसरे पांच गुण होनेपर भी यदि यह गुण नहीं हुआ तो राष्ट्रको राष्ट्रत्व प्राप्त नहीं हो सकता। वृक्ष, वनस्पति अथवा हीनजातीय मनुष्योंकी अपेक्षा राष्ट्रमें यह गुण अधिक परिमाणमें होता है। राष्ट्रका अभ्युदय और कीर्ति, उस राष्ट्रकी प्रजामें सदा स्फूर्ति उत्पन्न कर स्वार्थत्यागपूर्वक श्रेष्ठ व उदात्त कार्य करवाती है। राष्ट्रके स्वातंत्र्य अथवा अभिवृद्धिके लिये उत्तमोत्तम मनुष्य तन, मन, धन खर्च कर देते हैं। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' जननी जन्मभूमि स्वर्गसे भी अधिक महान हैं अथवा क्या कोई ऐसा मृत और पशुके समान मनुष्य होगा जिसका अंतःकरण अपनी जन्म-भूमिके लिये यह नहीं कहे कि यह मेरी मातृ-भूमि है आदि उक्तियाँ राष्ट्रके सात्विक और नैतिक तेजकी उत्कृष्ट साक्षी हैं।

इस प्रकार राष्ट्र संज्ञा प्राप्त होनेके लिये उक्त छह गुणोंकी आवश्यकता होती है। यदि इनमेंसे कोई गुण न हो तो वह राष्ट्र, राष्ट्रकी पूर्ण कोटि तक नहीं पहुँच पाता।

इस प्रकार राष्ट्रके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता है उसका वर्णन करनेपर शासित और शास्ताके परस्पर संबंधकी ऐतिहासिक चिकित्सा करके यह देखना है कि इसमें किस प्रकार परिवर्तन होता गया और उससे शासन

पद्धति पर क्या प्रभाव पड़ा ? । क्योंकि इस परीक्षासे ही राष्ट्रकी प्रगति और सुधारणा निश्चित की जा सकती है ।

भारतवर्षमें राजकीय कल्पनाकी उत्क्रान्ति किस प्रकार होती गई, पहिले यही जान लेना उचित होगा । किसीभी समाजके प्रारंभिक कालमें राजाकी उत्पत्ति बल सामर्थ्य-पर ही अवलंबित रहती है । और यह प्रगट ही है कि जिस समय समाजके विचार परिणत अवस्थामें नहीं होते उस समय जिसमें शौर्य, सामर्थ्य आदि गुण होते हैं वही मनुष्य दूसरेके आश्चर्य और कौतुकका विषय बन जाता है । अंग्रेजी कवि "काउपर" ने भी राज-कल्पनाकी उत्पत्ति इसी प्रकार मानी है * । परस्परमें लड़नेवाली समाजोंमें जो अपने पराक्रमसे जयको प्राप्त होता है समाज उसे अपना अगुवा मानता है । और उसके पराक्रमसे शांति हो जानेपर उसके शासन सामर्थ्यके कारण समाज उसे राज-पद देता है । वेदोंके प्रमाणोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वेदकालीन समाजकी कल्पना भी अलौकिक बल सामर्थ्यपर ही थी । द्वितीय मंडलके बारहवें सूक्तमें इन्द्रको सब देवोंमें श्रेष्ठ क्यों माना ? और उसने क्या किया ? इसका वर्णन किया है । इस वर्णनमें बल शौर्यादि गुणोंको ही श्रेष्ठत्व दिया है ।

यो हत्वा अहिं अरिणात्सप्त सिंधून्। यो गा उदाजदपधा बलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान । संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥

अर्थात्—जिसने अहिको मारकर सप्त सिंधुओंको मुक्त किया, जिसने बल नामक असुरको मार कर उसकी गायें छीनलीं और जिसने युद्धमें अनेक शत्रुओंके प्राण हरण किये वह इंद्र है । " तथा

" यं स्म पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषोऽस्तीति ।

---

* At length one eminent adove the rest, for strength, for stratagem, or courare, or for all, was chosen leader Him they served in war, and him in peace ..... Thus war affording field for the display of virtue, made one chief, whom times of peace which have their exigencies too and call for skill in government, at length made king.

" The Task "

" जिसके संबंधमें लोग यह पृच्छा करते हैं कि वह कोन (भयानक) कहाँ है ? " तथा

यस्मान्न ऋते विजयंते जनासः यं युध्यमान अवसे हवंते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव योऽच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

अर्थात्:—जिसके बिना लोगोंको जयप्राप्ति नहीं होती, युद्धोत्सुक लोग जिसकी सहायताके प्रार्थनार्थ हवन करते हैं, जो सब जगतके लिये प्रतिमारूप है वह इन्द्र है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट होता है कि देवोंके राजामें भी जिन गुणोंकी आवश्यकता दिखलाई है उनमें दया, शांति, वात्सल्य, राजनीति निपुणता आदि गुणोंका समावेश न कर शारीरिक पराक्रमको ही श्रेष्ठता दी है। समाजकी इस प्रकारकी स्थिति नष्ट होनेपर प्रजाके अनुशासनका प्रश्न उत्पन्न होता है। स्मृति ग्रंथोंमें हमें इसी समयका आदर्श मिलता है। स्मृतिकालमें शारीरिक पराक्रमके सिवाय दूसरे गुणोंकी आवश्यकता राजामें प्रतीत होने लगी थी। शास्ताकी आवश्यकताकी कल्पना तो कभीसे ही उत्पन्न हो गई थी। मनुने अपनी स्मृतिमे राजाकी उत्पत्तिके संबंधमें लिखा है कि:—

अराजकेहि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥

अर्थात्:—जब अराजक स्थितिमें सब लोग भयभीत होकर इधर उधर भागने लगे और सर्वत्र अशांति हुई तब सब लोगोंकी रक्षाके अर्थ प्रभुने राजा निर्माण किये। परमेश्वरके द्वारा राजाके निर्माण होनेकी कल्पनाको अथवा पर्यायवाची भाषामें कहा जाय तो राजाको परमेश्वरसे अधिकार प्राप्त होनेकी कल्पनाको ही अंगरेजीमें "Divine right of kings" कहा है। कुछ काल तक यह कल्पना यूरोपमें भी जड़ पकड़े हुई थी। राजामें सामर्थ्यका होना ईश्वरके द्वारा उसकी उत्पत्ति होनेके कारण ही माना जाता था। मनु कहते हैं कि—

यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥

अर्थात् —इन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओंके अंशोंके द्वारा उत्पन्न होनेके कारण ही राजा अपने पराक्रमसे सम्पूर्ण प्राणियोंपर स्वामित्व रखता है। परमेश्वरने राजा निर्माण किये, इस कल्पनापरसे ही राजा परमेश्वरका अंश माना गया और उसके लिये शास्त्रकारोंने "ना विष्णुः पृथिवीपतिः" आदि वाक्योंका उपयोग किया। इस प्रकार राजाका निर्माण हो जानेपर राजाके कर्तव्योंके संबंधमें शास्त्रकारोंने क्या कहा है! इसे भी साथही साथ देख लेना आवश्यक है। शास्त्रकारोंके मतानुसार राजा अपने अधिकारोंके सम्बन्धमें ईश्वरके प्रति जवाबदार होने पर भी प्रजाके कल्याणार्थ राज्य संचालन करनेके लिये बाध्य है। राजा शब्दकी व्युत्पत्ति भी यही कहती है, कि "प्रजारञ्जनात् राजा" प्रजाके रंजन करनेसे राजाको राजा नाम प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिमें स्पष्ट कहा है कि

पुण्यात् षड् भागमादत्ते न्यायेन परिपालनम्।
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम्॥

अर्थात्—"प्रजाका उत्तम रीतिसे परिपालन करनेपर प्रजाके पुण्य कर्मोंका षष्ठांश भाग राजाको प्राप्त होता है। अतएव प्रजाका पालन करना सर्व दानोंसे ज्यादह फल देनेवाला है।" इसी प्रकार प्रजा पीडनका भी स्पष्ट निषेध किया गया है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि।

प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्तते॥

अर्थात्—"प्रजापीडनके द्वारा उत्पन्न होनेवाली अग्नि सर्वनाश करती है।" इन सब उपदेशोंको हृदयमें रखनेवाले रामचन्द्रके प्रजापालन संबंधी विचार भवभूतिने एक अजरामर वचन द्वारा स्वयं रामचन्द्रसे इस प्रकार कहलाये हैं:-

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥

अर्थात्—लोकाराधनके कारण, प्रजेच्छाके कारण यदि मुझे स्नेह, दया, सौख्य और प्रत्यक्ष सीताका भी त्याग करना पड़े तो उससे मुझे दुःख नहीं होगा। इस प्रकार शास्त्रकारोंने लोकाराधन-लोकपरिपालनका ध्येय स्पष्ट भाषामें निश्चित कर दिया है। अब यह देखना है कि इस ध्येयको व्यवहारमें

लानेके लिये शास्त्रकारोंने कौनसा मार्ग दिखलाया है ?। ऊपरके तत्त्वानुसार राजाके अधिकार अनियंत्रित होने पर भी शास्त्रकारोंने उनका उपयोग अनियंत्रित रीतिसे न कर प्रजाकी सहायताके अर्थ करनेकी आज्ञा दी है। मनु कहते हैं:-

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम्॥

"जब कि कभी कभी सरलकार्य भी दूसरे की सहायताके बिना होना कठिन हो जाता है तब जिसमें बड़े बड़े कृत्य करना पड़ते हैं उस राज्य कार्यमें तो दूसरोंकी सहायता लेना ही चाहिये और इस सहायताके अर्थ राजाको योग्य सलाह देनेवालोंकी योजना करना चाहिये।" याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

श्रुताध्ययनसंपन्ना, धर्मज्ञा सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदाः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥

लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त, पंच त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा॥

अर्थात्—धर्म, शास्त्र, न्याय आदिसे संपन्न, सत्यवक्ता, शत्रुमित्रमें समान, लोकाचार, वेद और धर्मको जाननेवाले सात, पांच, अथवा तीन सभासदोंको राजा अपनी सभामें नियुक्त करे।" मनुने यह संख्या "सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्" सात अथवा आठ मानी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इन सभासदोंमें व्यापारके जाननेवाले वैश्य भी होना चाहिये। "वणिग्भिः स्यात् कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितं"। क्षत्रिय कुलके प्रतिनिधि स्वयं राजा अथवा सेनापति होते ही हैं। इन सभासदोंको काम बांट देना चाहिये और इन सभासदोंका उपयोग केवल शोभाके लिये न कर

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपालभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥

अर्थात्—"प्रत्येक सभासदसे उसका स्वतंत्र अभिप्राय पूछकर फिर राजा प्रजाहिततत्पर रहते हुए कार्याकार्यका विचार करे।"

इस प्रकारके राजशासनका स्वरूप आर्य-ग्रंथोंमें कहा है। इसी भावको प्रगट करनेवाले प्रमाण महाभारतादि ग्रंथोंसे भी उद्धृत किये जा सकते हैं। इस पद्धतिका सूक्ष्म विचार करनेपर एक मुख्य बात यह मालूम होती है

कि इसमें प्रजाके स्वतंत्र अधिकारोंको कहीं स्थान नहीं दिया गया है? जिन्हे वह आवश्यकता पड़नेपर उपयोगमें ला सके। अथवा उन अधिकारोंके कारण राजाके अधिकार मर्यादित हो गये हों। और न सार्वभौम राज्यशासनमें ही प्रजा-मतको स्थान दिया गया है। यद्यपि ग्राम-पद्धति जिसे अंग्रेजीमें Village system कहते हैं, के द्वारा ग्राम्य-कार्य ग्रामनिवासियोंकी इच्छानुसार अथवा उनके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियोंके द्वारा चलता था और वह वर्तमानकी म्युनिसिपालिटी या लोकलबोर्डसे भी अधिक व्यापक और स्वतंत्र पद्धति थी तो भी राज्यके मुख्य कार्यमें प्रजाको हस्तक्षेप करनेका कुछ भी अधिकार नहीं था। यदि कोई राजा उन्मत्त होकर अनीति करने लगता तो उसे पदच्युत कर उसके स्थानपर दूसरा राजा नियत करनेका अधिकार प्रजाको नहीं था। भारतके इतिहासमें अपवादात्मक एकाध प्रसंगके सिवाय ऐसे उदाहरण नहीं मिलते जिनसे कहा जाय कि राज्यके नित्य व्यवहारमें प्रजाका हाथ रहता था।

यूरोपके राज्यशासनकी कल्पनाके रूपान्तरको भी जान लेना उचित होगा। माना जाता है कि उपपत्ति सहित राजशासन करनेका क्रम यूरोपके ज्ञात इतिहासमें प्रथमतः ग्रीस देशमें शुरू हुआ। जिस प्रकार कलाकौशल और काव्यकी जन्मभूमि ग्रीस देश है उसी प्रकार राजनीतिकी जन्मभूमि भी वही है। ग्रीस देशकी परिस्थिति आजके किसी भी राष्ट्रकी परिस्थितिसे नहीं मिलती। वह बिलकुल भिन्न थी। तअल्लुकोंके समान ग्रीसमें अनेक छोटे छोटे संस्थान थे जो अपना राजकाज स्वतंत्रतासे चलाते थे। भारतकी पंचायती पद्धतिके समान प्रत्येक कुटुम्बके मुखियाका प्रवेश राजकार्यमें हो सकता था। और सबके बहुमतसे राज्यकार्य किये जाते थे। इस पद्धतिके संबंधमें अधिक विवेचन आगे किया जायगा। तो भी यहाँ इतना उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है कि ऐसे छोटे छोटे संस्थानोंकी परिस्थिति, व्याप्ति आदि आजकी परिस्थितिसे भिन्न होनेके कारण उस कालके राजकार्योंकी कल्पनाकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। इसके बादका बड़ा राज्य रोमन लोगोंका था। इस राज्यका देश-विस्तार और लोकसंख्या अधिक होनेके कारण ग्रीस देशके समान कुटुम्बके मुखियाओंकी सम्मति द्वारा राज्यसंचालन नहीं हो सकता था। यद्यपि रोम देशवालोंने ग्रीसकी प्रजाके सर्वव्यापक अधिकारोंकी कल्पनाका अनुकरण किया परंतु राज्यहित और प्रजाहित ये दोनों बातें भिन्न हैं और इन्हे एक नियम

लागू नहीं हो सकता, यह उनके ध्यानमें आनेके कारण उन्होंने अपनी कल्पनाओंमें परिवर्तन किया। यद्यपि अनेक नवीन देशोंको अधिकृत करनेके कारण रोमन राज्य साम्राज्य रूपसे परिवर्तित हो गया था, उन नवीन देशोंकी प्रजासे मूल-राज्यकी प्रजाके संबंधके उलझनोंवाले कई प्रश्न उत्पन्न हो गये थे और उन प्रश्नोंको न केवल राजनैतिक ही किंतु सामाजिक रूप प्राप्त हो गयाथा जिन्हें हल करनेमें राज्यके बुद्धिवान लोगोंकी बुद्धि खर्च हुई थी तो भी रोमन राज्यने ग्रीस देशके समान यह तत्त्व स्पष्टतया स्वीकार किया था कि लोकसत्ता पर ही राज्यसत्ताका आधार है। सिसरो * नामक सुप्रसिद्ध वक्ताने स्पष्ट कहा है कि "सम्पूर्ण कायदोंकी मूलाधार जनताकी इच्छा है"। यहाँ तकके समयको यूरपके इतिहासमें प्राचीनकाल मानते हैं। इसके बादके मध्यकालमें ईसाई धर्मका प्रचार यूरपमें अधिक हो जानेसे यूरोपका राज्य-सूत्र धर्मसत्ताके हाथमें चला गया था। और इसलिये उस समय यूरोपमें दो प्रकारके साम्राज्यका शासन प्रचलित था। इस समय यूरोपका मध्यभाग निरंकुश सरदारोंकी सत्ताके आधीन था। इस कालको मध्ययुग कहते है। और इसी कालके प्रारंभकालको साधारणत "प्राचीन संस्कृतिका उज्जीवन काल (Renaissance)" भी कहते हैं। इस कालकी राजकार्य सम्बन्धी कल्पना मैकियावेलीके ग्रंथोंमें देखनेको मिलती है। इस ग्रंथकारकी राजनीतिकी तुलना साधारणत. चाणक्यनीतिसे की जा सकती है। अपना साध्य सिद्ध करनेके लिये चाहे जिस उपायकी योजना करनेके तत्त्वके आधार पर इस ग्रंथकारने राजशासनकी इमारत खड़ी की है और इस लिये उसने सत्यासत्य, न्यायान्याय आदिके प्रश्नोंको मनमें स्थान नहीं दिया है। यह ग्रंथकार राजसत्ताके अधिकार और वैभवपर किसीका अंकुश होना उचित नहीं मानता। इसके मतसे नीति, धर्म आदि की बातोंपर ध्यान देनेका काम राज्यका नहीं है। और न वह यह स्वीकार करता है कि प्रजाको भी किसी प्रकारके अधिकार हैं। इसके मतका मुख्याधार 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की नीति है। इसने प्रतिपादन किया है कि राज्यकी रक्षा और वृद्धिके लिये आवश्यकतानुसार राजनीतिका उपयोग करना उचित है।

* The state means a people organized, and the will of the people was the source of all law.

Cicero " De Re Public "

इस कार्यक्षम परन्तु नीतिविरुद्ध राजसत्तासे कुछ अंशोंमें भिन्न कल्पना फ्रेंच ग्रंथकार " बोन बोदीं " ने की है। यद्यपि इसने भी राजकर्ताओंके अधिकार अमर्यादित माने हैं तो भी यह एकही व्यक्तिका अधिकार होना उचित नहीं बतलाता किंतु राजकुटुम्बके पुरुषोंको मिलकर अधिकारोंका व्यवहार करनेका प्रतिपादन करता है। अल्प सत्ताक राजपद्धति अथवा अभिजनसत्ताक राजपद्धतिका पुरस्कर्तृत्व इसने स्वीकार किया है। इसने यह स्पष्ट रीतिसे प्रतिपादन किया है कि प्रजाके कल्याणकी अपेक्षा राज्यकी स्थिरता अधिक महत्वकी होनेके कारण ग्रीस वगैरह देशके प्राचीन लोगोंने प्रजाहितको जो अवास्तविक महत्त्व दिया वह उनकी भूल थी।

अनियंत्रित सत्ताके इन दो प्रवक्त पुरस्कर्ताओंके बाद राजसत्ताको अमर्यादित माननेवाला परंतु उसमें प्रजाहितका अंतर्भाव करनेवाला तत्ववेत्ता ' ग्रगो ग्रोशियस ' हुआ। इसने अपने ग्रंथोंमें राजसत्ताकी व्याख्या इस प्रकार की है " सार्वजनिक हितके लिये और शेष स्वतंत्रताका उपभोग करनेके लिय स्वतंत्र प्रजाजनोंका पूर्ण ऐक्य ही राजसत्ताकी जड़ है " इसी तत्ववेत्ताने अपनी कल्पनामें राजशासनके कार्यमें प्रजाके कर्तृत्वका अंतर्भाव पहिले पहिल किया है। और इसी तत्ववेत्ताकी कल्पनामें राजसत्ता और प्रजाके परस्पर संबंधके लिये दोनोंमें करार मदार होनेकी विचारसरणीका आधार मिलता है।

जब कि यह सिद्धान्त मान्य हो गया कि राजशासनमें प्रजाका भी अधिकार है तब इस बातका विचार प्रारंभ हुआ कि यह अधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ और उसकी मर्यादा कितनी है ? । हाब्स नामक अंग्रेज ग्रंथकारने इस कल्पनाको अपने 'लव्हायथन' नामक ग्रंथमें मूर्तस्वरूप दिया है। * इस

---

* Every member of the community gives up to his chosen head, the right of governing himself, on condition that every other member does the same ....the person or body so invested with the power of the whole becomes a kind of new person, he that carrieth this person is called sovereign, and hath the sovereign power, and every one besides him, his subject.

Hobbes 'Leviathan'

विद्वानका कहना है कि जिस प्रकार दो स्वतंत्र व्यक्ति अपनी राजी खुशीसे करार मदार करते हैं और उसमेंसे एक पक्ष अपना मुख्तार दूसरेको बना देता है उसी प्रकार राजसत्ताके सब अधिकारोंका मूल प्रजाही है और उसने अपने सुभीतेके लिये अपने अधिकार एक वा अनेक व्यक्तियोंको दिये हैं। और इस लिये जिस प्रकार मुख्तार अपने मूल स्वामीके हितके विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार राजसत्ता भी प्रजाके सहज स्वातंत्र्यके विरुद्ध अपने अधिकारोंका उपयोग नहीं कर सकती। यद्यपि इस ग्रंथकारने राजसत्ताको प्रजाका मुख्तार माना है पर साथ ही वह यह भी मानता है कि प्रजा यह अधिकार छीन नहीं सकती। इसका कहना इतना ही है मुख्य शर्तके अनुसार राजसत्ताको अधिकारोंका व्यवहार करना चाहिये। इस विद्वानकी अधिकार न छीन सकनेकी मान्यताके कारण प्रजामतका अधिकार होना न होना एक समान हो गया क्योंकि राजसत्ता पर उसने अंकुश नहीं माना। हां यह अवश्य हुआ कि इस प्रकारकी कल्पना उत्पन्न हो गई।

उक्त कल्पनाओंमेंसे यह कमी निकाल डालनेका प्रयत्न 'जॉनलॉक'* नामक अंग्रेज ग्रंथकारने किया है। इसके मतानुसार जिस प्रकार दो व्यक्तियोंके परस्परमें किये हुए करारोंमेंसे किसी एकके द्वारा कोई शर्त तोड़ी जानेपर दूसरा व्यक्ति सब करार रद्द कर सकता है, उसी प्रकार प्रजाके द्वारा दिये हुए अधिकारोंका यदि राजसत्ता दुरुपयोग करने लगे तो वे अधिकार वापिस लेनेका अधिकार प्रजाको अवश्य है +। इस कल्पनासे राजस-

---

* Political society, in Lock's theory is constituted by a compact of its original members a compact renewed from generation to generation, in the person of every citizen when he comes to an age of discretion, to choose his allegiance to it.

Sir Frederic Pollock's History of The Science of Politics.

+ The authority of the state is not indefeasible, it may be forfeited by misuse. Under every form of government the community retains a supreme power of self-preservation.

Lock's " Essay on civil government. "

त्ताके ईश्वर द्वारा निर्मित होने, अबाधित रहने और प्रजाकी निरपेक्षताकी कल्पना नष्ट होती है ।

फ्रांससे भी ' जीन रूसो ' नामक विद्वान आगे आया है और उसने यह बतलाया है कि शासित और शास्ताके संबंधका लॉकके कहनेके समान न केवल रूप ही है किंतु उसकी उत्पत्ति भी इसी करार-मदारके तत्त्वके अनुसार है । इसने फ्रांसकी राज्यक्रांतिके समय इस विषयपर एक ' Social contract' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया था । इस ग्रंथमें इसने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि " ऊपर बतलाये हुए करार करनेके तत्त्वके अनुसार प्रजा अपने अधिकार समाजके कल्याणार्थ समाजको देती है न कि शास्ताको । इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तियों द्वारा दिये अधिकारोंका एकीकरण समाजके हाथमें होता है * । फिर समाज अपने सुभीतेके लिये राजा अथवा अन्य अधिकारीको नौकर रखकर उसके हाथमें सब अधिकार देती है । इस दृष्टिसे रूसोकी उपपत्ति हाब्स और लॉक दोनोंकी उपपत्तियोंसे आगे बढ़ जाती है । इस पद्धतिसे अधिकारी-वर्ग, राजधर्म मुक्त न होकर राजकीय अधिकारोंके केन्द्रस्थान समाज और समाजकी भिन्न भिन्न व्यक्तियाँ इन दोनोंका केवल मध्यस्थ मात्र है । +

इस प्रकार राजकीय अनुशासनकी उपपत्तिका अंतिम ध्येय यूरोपमें यहाँतक आ पहुँचा है ।

इस विचारसरणीसे अधिकारी सत्ताका जो लक्षण बतलाया है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे ठीक नहीं है । व्यवहारमें देखनेपर भी यह बात नहीं मालूम

---

* In a government each of us puts his person and faculties in a common stock under the sovereign direction of the general will, and we receive every member as an inseperable part of the whole.

Rousseau's " Contract Sociale "

+ The Government is not the sovereign, but a mediator between the community in its corporate capacity and its individual members as subjects.

' Ibed '

होती कि किसी राजाके राज्य ग्रहण करनेके पहिले प्रजा और राजामें करार हों और उसके बाद राजा राज्य करे और न ऐसा होना ही संभव है । रूसोकी उपपत्तिका वास्तविक तत्व यह है कि प्रजाका राज्यके अवयव होनेके नातेसे राज्य कारणमें अधिकार है और यह अधिकार बहुजन समाज लेनेका प्रयत्न करे तो उसका ऐसा करना सपूर्णतया न्याय्य है। इस तत्वमें उपबृंहणके तौर पर उसने उक्त ऐतिहासिक उद्गमकी कल्पनाको भी मिला दिया है । और इसका फायदा उठाकर ' मोंटेस्क्यू ' नामक तत्वज्ञने फ्रान्समें ' एस्प्रि द ल्वा ' अथवा ' राजकीय अनुशासनके वास्तविक तत्व ' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध किया । इसने रूसोकी उद्गम संबंधी काल्पनिक उपपत्तिका खंडन कर यह सिद्ध किया कि केवल ऐतिहासिक दृष्टिसेही राजकीय अनुशासनकी मीमांसा करना उचित है । और स्वयं इसी प्रकारकी मीमांसा कर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्येक राष्ट्र और समाजके अनुशासन के बीज उनकी परिस्थिति और इतिहास परम्पराके अनुसार भिन्न भिन्न होते हैं। और सम्पूर्ण समाजोंकी उपपत्ति एक प्रमाणके द्वारा नहीं मानी जा सकती। इसी समयके लगभग इंग्लैंडके विद्वान एडमंडबर्कने भी रूसोकी तत्वमीमांसाकी समालोचना की। परन्तु इसकी टीका विधायक नहीं थी । इसने रूसोकी पद्धतिको तो अवास्तविक ठहराया था, पर यह नहीं बतलाया था कि ' फिर वास्तविक पद्धति कौनसी है ।' वास्तवमें देखा जाय तो इस विद्वान्ने समय समय पर जो उद्गार निकाले हैं उनसे यही निश्चित होता है कि इसका मत भी रूसोके ही समान था अर्थात् यह भी यही मानता था कि " सम्पूर्ण अधिकारोंका मूल स्थान प्रजा ही है । " * अमेरिकाकी बलाहतके संबंधमें पार्लमेन्टमें इसने जो अनेक भाषण दिये थे उनमें यह मत अनेक बार इसने प्रगट किया था । परन्तु फ्रेंच राज्य-क्रान्तिके समय होनेवाले अत्याचारोंसे चिढ़ जानेके कारण तथा इस संसर्ग जन्य रोगसे अपने देशको बचानेके लिये इसने रूसोकी पद्धतिकी कठोर समालोचना की ।

इनके बाद भी यूरोपमें राजकीय तत्वकी चिकित्सा करनेवाले ग्रंथकार हुए है परंतु उनके सिद्धान्तोंमें विचार करने योग्य कुछ नहीं है । क्योंकि एक तो

For in all forms of Governmant, the people is the true legislator. ' Burke. '

उनमेंसे बहुतसे ग्रंथकारोंके मतोंमें नवीनता कुछ नहीं है। दूसरे उन्होंने भिन्न भिन्न पूर्व विद्वानोंके मतोंकी काँट छाँट कर अपने सिद्धांत बनानेका प्रयत्न किया है इसके सिवाय इनके मतोंको निश्चित महत्व न देनेका एक दूसरा भी कारण है वह यह कि राजकीय और ऐतिहासिक प्रश्नोंकी चिकित्सामें प्रस्तुतकालके मत, व्यक्ति विषयक वाद–कोटिके बाहिर नहीं जा सके हैं। अभी वादी और प्रतिवादी दोनो प्रकारके तत्वज्ञ मौजूद हैं और वे परस्परमें उत्तर प्रत्युत्तर करते रहते हैं। इन प्रतिस्पर्द्धियोंके वादविवाद को निर्णय करने योग्य समय भी व्यतीत नहीं हुआ है। यदि इनके मत वास्तविक भी माने जावें तो भी उनमें पुनरुक्ति ही अधिक है।

इस चिकित्सासे यही निश्चित होता है कि रूसोका सिद्धान्त ही अन्तिम सिद्धान्त है। और उस सिद्धान्तसे पहिलेकी यह मान्यता कि राजसत्ता श्रेष्ठ है, फिर वह श्रेष्ठता चाहे ईश्वरदत्त हो चाहे, श्रेष्ठकुलमें जन्म होनेके कारण हो अथवा सांपत्तिक अधिकतासे हो, नष्ट होकर यह माना जाने लगा कि राजसत्ताकी श्रेष्ठता प्रजाके और राजसत्ताके परस्पर करारोंका फल है। 'सर हेनरी सम्नर मेन' नामक कानूनी विद्वानने भी अपने Ancient Law नामक पुस्तकमें कानूनी परंपराकी सुधारणाकी दृष्टिसे चिकित्सा कर अनेक उदाहरणोंके द्वारा यही सिद्धान्त बाँधा है और इस विद्वान्के बाँधे हुए सिद्धान्तकी कसौटी पर ऊपरकी विचार पद्धतियोंको कसकर यूरोपियनोंने रूसोकी राजव्यवस्थाको सबसे अधिक सुधरी हुई माना है।

इस प्रकार आर्यावर्त और पाश्चात्यदेशोंमें जिस क्रमसे राजसत्ता और प्रजापक्षके परस्पर संबंधकी कल्पनाओंकी उत्क्रान्ति हुई है उसका इतिहास इस प्रकरणमें दिया गया है। इस वर्णनसे आगामी विवेचनमें बहुत कुछ सुगमता होगी।

राजकीय अनुशासन

अभिजन सत्ता.

जगत्के भिन्न भिन्न लोक समूहोंमें राजकीय अनुशासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं। परंतु परीक्षा करने पर शासित और शास्ताओंके एक दूसरे-पर होनेवाले परिणामोंकी दृष्टिसे उन सब भेदोंके मुख्यतया दो विभाग किये जा सकते हैं। एक अभिजन सत्ता और दूसरा लोकसत्ता। पहिले विभागका आधार अधिकार–सत्ताकी विषमता है। और दूसरेका

आधार समता है। एकछत्री राजाओं, अनियंत्रित अधिकारी-संघों आदिका समावेश पहिले भागमें होता है सोशियालिस्ट अथवा समाज हितवादी व मजदूर पक्ष वगैरहका अंतर्भाव दूसरे विभागमें होता है। इस प्रकरणमें पहिले विभागके अनुशासनका अर्थात् अभिजनसत्ताका, देशके जनसमूहपर मानसिक और नैतिक परिणाम क्या होता है? इसपर विचार किया जायगा। किसी भी देशकी व्यावहारिक राजकारणकी मीमांसा अपने समयकी परिस्थितिपर अवलंबित होनेके कारण उसका निर्देश करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। और न उसका करना ही शक्य है। यहाँ तो सुधारणाके पूर्वोक्त तत्त्वोंके अनुरोधसे परीक्षाकर किस प्रकारकी राज्यपद्धति उन तत्त्वोंके अधिक अनुकूल है यही देखना है। इंग्लैण्डमें जो राज्यपद्धति प्रचलित है वही अभिजनसत्तात्मक राज्यपद्धतिका सर्वोत्तम उदाहरण है। अतएव इसकी परीक्षा करनेसे अभिजनसत्ताक राज्यपद्धतिके गुणदोषोंका सूक्ष्म ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा।

यह परीक्षा करनेके पहिले आगामी विवेचनके संबंधमें पाठकोंको किसी प्रकारका भ्रम न हो जाय, इसलिये प्रस्तावना रूपसे दो शब्द लिखना उचित प्रतीत होता है। अभिजन सत्ताका विवेचन करनेसे हमारा प्रयोजन उन सब भेदोपभेदोंका भिन्न भिन्न विवेचन करनेसे नहीं है जो अधिकारोंके न्यूनाधिक उपयोगके कारण उसके हो सकते हैं। किंतु सामान्य तथा पूर्वेतिहास, मत, परंपरा और परस्पर प्रेम आदिके द्वारा निश्चित राजकीय अनुशासनका उसे एक पक्ष अथवा एक संस्था समझकर ही उसका विचार करनेका हमारा प्रयोजन है। जिस प्रकार किसी मनुष्यके सर्व व्यवहार उसके एक विशिष्ट हितके अनु-

---

If then we employ the term status, agreeably with the best writers, to signify personal conditons only and avoid applying the term to such conditions as are the immediate or remote result of agreement, we may say that the movement of progressive societies has hitherto been a movement from status to contract.

Maine's 'Ancient Law' chap. V.

रोधसे होते हैं उसी प्रकार सामुदायिक रीतिसे विशेष प्रकारके कुछ स्वहितों-को सिद्ध करनेके लिये अभिजन सत्ताके व्यवहार होते हैं। इन दोनोंमें अर्थात् मनुष्य विशेष और अभिजन सत्ताक राज्यपद्धतिमें स्वहित साधनरूप व्यवहा-रकी मुख्य दृष्टि प्रायः समान होती है। परन्तु दूसरे प्रकारकी समानताएं नहीं होतीं। एक मनुष्यमें जितने प्रकारके भिन्न भिन्न मनोविकार हो सकते हैं उतने प्रकारके समाजमें नहीं होसकते। और इसका कारण भी स्पष्टही है। अनंत प्रकारके स्वभाववाले अनेक मनुष्योंमें जिस एक प्रकारके स्वभावकी ऐक्यता होगी उसी स्वभावकी दृष्टिसे उनकी समाज बन सकेगी और फिर उसमें उसके अवयव स्वरूप व्यक्तियोंके इतर स्वभाव-भेदको स्थान नहीं मिल सकेगा। जैसे कि क्रिकेट अथवा टेनिस खेलनेकी इच्छा जिन्हे होती है वे इसी हेतुसे एकत्रित होकर एक संस्था स्थापित करते हैं। इस संस्थामें नीतिमान्, अनीतिमान्, आस्तिक और नास्तिक आदि सब प्रकारके लोग सम्मिलित होते हैं। संस्थामें अपने खेलनेके हेतुके सिवाय उसके सभ्योंके दूसरे गुणावगुणोंपर विचार नहीं किया जाता। क्योंकि उससे समाजके हेतुमें बाधा उपस्थित होनेकी संभावना है। तीन बार अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट होनेके बाद फिर अपने खेतमें हल फिरानेको जानेवाले जार्ज वाशिंगटनका और अपरिमित परिश्रमसे प्राप्त की हुई राजलक्ष्मीको रामदास गुरुकी झोलीमें अर्पण कर देनेवाले शिवाजीका उदाहरण समाजके किसी भी विशेष संघमें नहीं मिलता। क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जिस हेतुसे व्यक्ति समाजका घटक बनती है उस हेतुके बाहिर उसकी दृष्टि नहीं होती। सूर्य मंडलके आस पास फिरने-वाले ग्रहोंकी स्वतःकी गति भिन्न होने पर भी उन्हें सूर्यके आसपास भ्रमण करना ही पड़ता है उसी प्रकार समाजके घटक होनेके नातेसे मनुष्यको, समाजके सामुदायिक स्वार्थके लिये तदनुरूप आचरण करना ही पड़ता है। भिन्न भिन्न धार्मिक परंपराओं, राजसत्ताके भिन्न भिन्न विभागों, व्यापा-रियोंकी छोटी बड़ी दूकानों अथवा स्वतंत्र धंदा करनेवालोंके समूहोंमेंसे जिसे देखो वही अपने संघके स्वार्थका घोड़ा आगे ढकेलता हुआ दिखाई पड़ेगा। धर्म संस्थाके उदाहरणको ही लीजिये। सम्पूर्ण जगत्के धर्मोंका उद्देश परमेश्वर प्राप्ति और अखंड शांतिका लाभ प्राप्त करना है। परंतु इस साध्यकी ओर भिन्न भिन्न दृष्टिसे देखनेवाले और भिन्न भिन्न मार्गोंसे जानेवाले लोगोंके जो संघ हैं उनमें क्या हम शांति प्राप्तिके कार्यके लिए परस्परमें प्रेम होता है—?

नहीं। इंग्लैंडमे ईसाई धर्मके रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट ये दो विभाग हैं। ये दोनों ही यीशुख्राईस्टको अवतार मानते हैं और यीशुके उपदेशित शांतिप्रधान मार्गके पुरस्कार करनेका अधिकारी भी दोनों ही अपनेको समान रीतिसे समझते हैं। तीन चार शताब्दियोतक इन दोनोंमें कैसा हाड़ वैर रहा और एक दूसरेको जानसे मार डालने, जेलमें डालने तथा जीतेजी जला देने तककी नौबत पहुँचती रही यह किसीसे छिपी नहीं है। यह संभव है कि इन दोनों पक्षोंमें उदार मतकी कितनी ही व्यक्तियाँ होंगी और वे इन कार्योंको निंद्य भी समझती होंगी पर उनके किसी पंथके स्वीकार कर लेने पर फिर वह पंथ व्यक्तिके व्यक्तिगत विचारोंकी पर्वाह नहीं करता। उस पंथको केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी ही धुन रहती है। रण क्षेत्रमे सन्मुख खड़े होनेपर पिता पुत्र भी अपने स्वाभाविक प्रेमको भूल कर अपने पक्षकी ही पर्वाह करते हैं। यही बात राजसत्ताकी है। वह अपने हितके मार्गमें आते समय व्यक्तिगत मत और नीतिकी पर्वाह नहीं करती। नीतिशास्त्रमें भी श्रेणियाँ होती हैं। जिनकी दृष्टिसे किसी विशेष कृत्यकी नीतिमीमांसा की जाती है उनके संख्या-समुदायके प्रमाणसे वह मीमांसा व्यस्त रहती है। और इस कारण राष्ट्रीय नीतिमीमांसा निरपेक्षता और शुद्धताकी दृष्टिसे सबसे हीन होती है। राष्ट्रीय नीतिमत्ताकी अपेक्षा किसी राजकीय पक्षका हितसाधन नीति दृष्टिसे श्रेष्ठ होता है। यद्यपि स्वार्थ दृष्टि दोनोंमें समान होती है परंतु राजकीय पक्षमें वह कानूनके द्वारा नियमित होती है। राजकीय पक्षकी अपेक्षा सामाजिक नीतिमत्ता श्रेष्ठ होती है और सबसे श्रेष्ठ व्यक्तिगत नीतिमत्ता हो सकती है। व्यक्तिगत नीतिमत्ताको किसी समुदाय या संघमें देखना पागलपन है। यही अंतर अभिजन सत्ताकी मीमांसा करते समय भी ध्यानमें रखना चाहिये। अभिजनसत्ताके व्यक्तियोंका परस्परमें व्यक्तिगत व्यवहार कैसा भी हुआ तो भी अपने संघसे बाहिरकी व्यक्तियों या व्यक्तिसंघोंके साथ उनका व्यवहार स्वार्थ पूर्ण ही होगा यह नहीं भूल जाना चाहिये। अभिजन संघकी कुछ व्यक्तियोंमें प्रजाजनोंको अधिकार देनेकी इच्छा भी हुई तो भी यह कौन कह सकता है कि उनका सम्पूर्ण संघ अपनी सत्ता कम करनेको तैयार होगा।

अब यह देखना है कि इस प्रकारकी अभिजनसत्ताका परिणाम जनतापर साधारणतया क्या होता है?। जनसमुदायकी विशिष्ट व्यक्तियोंपर उसका

परिणाम शायद् भिन्न भी हो परंतु सामान्य जनसमूहपर होनेवाले परिणामसे ही उसकी कीमत मालूम होगी। किसी भी प्रकारकी अधिकार सत्ताका अंतिम साध्य राष्ट्रीय जनताकी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आदि सब प्रकारकी उन्नति करनेका होना चाहिये, इसे दृष्टिसे परीक्षा करनेपर देखें कि अभिजनसत्ता कहांतक कसोटीपर ठहरती है। राष्ट्रकी जनताके साधारणतया दो विभाग होते हैं। एक शिक्षित और दूसरा अशिक्षित। अशिक्षित वर्ग निजके निर्वाहके कार्यमें व्यग्र रहनेके कारण और राजनीतिकी विस्तृतताके कारण राजनीतिके सर्व सांगोपांगोंका आकलन करनेमें असमर्थ रहता है। और इसीलिये वह इस संबंधमें स्वतंत्र मत देनेके योग्य नहीं होता। यह काम, शिक्षितवर्गको होता है। शिक्षित वर्ग सारासार विचार, वस्तुस्थितिके स्पष्टीकरण और कानूनकी मर्यादाके द्वारा तथा इतिहासके ज्ञानसे अपने विचार निश्चित करता है। फिर अशिक्षित जनसमूहमें उन विचारोंको फैलाता है। और इस प्रकार प्रचलित प्रश्नकी मीमांसा कर उसका सांगोपांग ज्ञान श्रमजीवी वर्गको करा देता है। इस ज्ञानसे यद्यपि उन्हें वर्तमान परिस्थितिकी जानकारी होती है। तो भी उन लोगोंमें दीर्घ परंपरा और वस्तु स्थितिके स्वानुभवसे जो संस्कार पड़ जाते हैं वे तो स्थायी रीतिसे रहते ही हैं। इसके लिये इंग्लैण्डका उदाहरण काफी होगा। पाठकोंको मालूम होगा कि इंग्लैण्डकी राज्यव्यवस्थाके मुख्य तीन अंग हैं। पहिला अंग है हाउस आफ कामन्स जो कि महत्त्वपूर्ण है। यह लोक प्रतिनिधियोंकी सभा है। इसमें निश्चित नियमोंके अनुसार लोगों द्वारा चुने हुए करीब छहसौ सभासद बैठते हैं। येही वे प्रतिनिधि हैं जो राज्यकार्य चलाते हैं। सब प्रकारकी अधिकार-सत्ता और अनुशासन-सत्ता इस सभाके हाथमें है। राज्यव्यवस्थाका दूसरा भाग लार्ड सभा है। ये लार्ड दो प्रकारके होते हैं। एक तो वंश परंपरागत पदवीसे बने हुए और दूसरे निज पराक्रम और बुद्धिसे इस मानको प्राप्त करनेवाले। इस सभाका महत्त्व पहिली कामन्स सभाकी अपेक्षा बहुतही कम है। राष्ट्रके आय व्यय धनकी व्यवस्था करनेका इसे बिल्कुल अधिकार नहीं है। धन संबंधी किसी भी कानूनका मसविदा पहिले पहिल इस सभा में उपस्थित नहीं होता। और भी कई तरहसे इस सभाके अधिकार और कर्तृत्व मर्यादित हैं। इन दोनों सभाओंकी सापेक्ष स्थिति पर विचार करनेसे लार्ड सभा बहुत अंशोंमें हीन गुण और हीनाधिकार मालूम

होगी और राजनीति तथा कानूनके विद्वान इस सभाको ऐसा समझते भी हैं। तथा मजदूर लोगोंके मनमें भी इस सभाके संबंधमें यही भाव उत्पन्न करनेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु उन लोगोंके मनमें सरदार लोगोंको जो श्रेष्ठ समझनेकी कल्पनाने घर कर लिया है उसका निकलना बड़ा कठिन है। किसी मजदूर या मध्यमश्रेणीके मनुष्यसे किसी सरदारकी अचानक भेंट हो जानेपर मजदूरको अधिकारके तारतम्यकी दृष्टिसे सरदारके हीन होनेका कितनाही निश्चय हो तो भी उस सरदारके सन्मानार्थ उसका मस्तक साहजिक रीतिसे नम्र हो ही जाता है। क्योंकि उसके मनमें सरदारोंको श्रेष्ठ समझनेकी कल्पना चिरकालसे दृढ़ीभूत हो चुकी है। सरदारवर्गके बहुतकालसे यहां चले आये हुए अस्तित्वके कारण दूसरे लोगोंके मनपर उनके संबंधमें कुछ मानसिक और नैतिक संस्कार दृढ़ हो ही जाते हैं। सरदारोंकी सभा दरबारके मत कायम हुई थी। उस समय उसके अधिकार अमर्यादित थे। फिर क्रमक्रमसे वे मर्यादित होते रहे हैं। परंतु उसके अस्तित्वसे साधारण जनताके मनपर जो नैतिक और मानसिक संस्कार हुए हैं वे ज्योंके त्यों बने हुए हैं। यहाँपर अभिजनसत्ताके संबंधमें जो विचार करना है वह इसके द्वारा जनताके मनपर होनेवाले नैतिक और मानसिक संस्कारकी दृष्टिसे ही करना है। क्योंकि ये संस्कार दीर्घ कालतक टिकनेवाले होनेके कारण संस्कृति अथवा प्रगतिकी दृष्टिसे राष्ट्रपर इनका स्थायी परिणाम होता है। और दीर्घकालसे चले आये हुए इन परिणामोंके अनुसार राष्ट्रका ध्येय निश्चित हो जाता है। जिसका परिणाम न्यूनाधिक प्रमाणसे राष्ट्रकी सम्पूर्ण व्यक्तियोंपर होता है। जैसे कि हिन्दुस्तानका ध्येय निवृत्ति मार्ग है। जगत्को असार समझकर वास्तववस्तुकी प्राप्तिके अर्थ उसका त्याग करनेकी कल्पना योगियोंके लिये अनुभवनीय होनेपर भी दूसरोंके लिये वह प्रात्यक्ष नहीं मानी जा सकती परंतु उसके इस राष्ट्रीय संस्कारका परिणाम राष्ट्रके शीलपर इतना दृढ़ हो गया है कि क्षुद्र बातोंमें भी उसका ध्यान लोगोंको हो ही जाता है। किसी मनुष्यको प्रयत्न करनेपर भी यदि द्रव्य प्राप्ति नहीं होती तो वह निवृत्तिकी इस कल्पनासे अपना समाधान कर लेता है कि "बहुत धन कमाकर करना भी क्या है? जिन्होंने बहुत कमाया था वे क्या उसे अपने साथ ले गये। वह तो यहीं ही पड़ा रह गया। यहां तो खुले हाथ अकेले जाना पड़ता है। यह द्रव्य नाशवान् है"। इन विचारोंके उत्पन्न होनेका कारण उस

व्यक्तिके नैतिक और मानसिक संस्कार ही हैं। पूर्व समयमें स्पार्टादेशकी राष्ट्रीय कल्पना देशाभिमान थी। और प्रत्येक व्यक्तिकी कल्पनाका लय इसी देशाभिमानकी कल्पनामें होता था। राज्यक्रांतिके समय फ्रान्सकी राष्ट्रीय कल्पना "समता" थी। दो व्यक्तियोंमें द्रव्य, वय, ज्ञान, नीति तथा अधिकारसे अंतर होने पर भी यदि वे एक दूसरेका देश बंधु कह कर उल्लेख करतीं तो दोनोंको संतोष होता था। इस प्रकार भिन्न भिन्न समाजोंकी भिन्न भिन्न साध्य कल्पनायें, उन उन समाजोंकी व्यक्तियों पर जो नैतिक और मानसिक संस्कार हुए हैं उनसे बनी हैं। इस समय इंग्लेण्डमें दो परस्पर विरोधी कल्पनाओंका साम्राज्य है। एक तो अभिजन सत्ता अर्थात् श्रेष्ठ कुलमें जन्म होनेके कारण मनुष्यको प्राप्त होनेवाली श्रेष्ठताकी कल्पना है। और दूसरी लोक सत्ताकी कल्पना जिसका उदय ज्ञानके द्वारा हुआ है और जो मनुष्यकी सहज समताके कारण अधिक पसंदकी गई है। इन दोनोंका झगडा वहां अभी चालू है। नार्मन लोगोंके ब्रिटन देश जीतने पर वहां अधिकारके बल पर जिन लोगोंका सरदार संघ बना उसने सब कायदे कानूनोंकी बागडोर अपने हाथमें रखी और वहां (ब्रिटन) के मूल निवासियोंको गुलाम बना डाला। उन लोगोंकी हीन स्थितिके दर्शक चिन्हके तौर पर उनके गलेमें पीतलका पट्टा डाला जाता था, यह उल्लेख सर वाल्टर स्काटने अपने उपन्यासोंमें किया है। परंतु अब वह काल चला गया है और वहां उस अभिजन सत्ताका यहां तक पतन हो चुका है कि खदानमें काम करनेवाला एक मजदूर और श्रेष्ठ कुलका सरदार राजकीय और कानून की दृष्टिसे समान माने जाते हैं। एक मजदूर भी सरदारको न्यायालयमें खिचवा कर बुला सकता है। और लोड्यावीरोंको पार्लियामेन्टके चुनावके समय मत प्राप्त करनेके लिये गरीब मनुष्यकी मिन्नत करना पड़ती है। इतना होने पर भी सरदारोंकी श्रेष्ठताका जो संस्कार लोगोंके मन पर दीर्घ कालसे हो चुका है वह नष्ट नहीं हुआ है। लोगोंके मन पर होनेवाले स्थायी परिणाम ही राष्ट्र और समाजका मनोधर्म है। अतएव इसका विवेचन करना अत्यंत आवश्यक है कि इस दृष्टिसे अभिजन सत्ताका राष्ट्रके शील पर स्थायी परिणाम क्या होता है और वह कहां तक इष्ट अथवा अनिष्ट है।

अभिजन सत्ताका सबसे अधिक महत्वका परिणाम, मनुष्य समाजमें विषमताके तत्वका प्रचार है। इस तत्वका कोई उपदेश नहीं करता

किंतु सेव्य, सेवक, धनी और नौकर, बलवान् व दुर्बल आदिके परस्पर व्यवहारके अभ्याससे यह दोष उत्पन्न होता है। नित्यप्रति इस प्रकारका व्यवहार करनेसे समाजका एक वर्ग दूसरे वर्गको अपनेसे श्रेष्ठ समझने लगता है। और उसकी इस समझका परिणाम उसकी बुद्धिपर होता है। यह विषमता नैसर्गिक नहीं है किंतु समाजकी कृत्रिम स्थितिके कारण मानी जानेवाली विषमता है। जगत्में कोई भी दो वस्तुएं अथवा कोई भी दो मनुष्य सम्पूर्ण तया समान नहीं होते। इस दृष्टिसे मनुष्य वर्गमें तारतम्य भाव होना निश्चित है। जगतमें समता कभी भी नहीं होती बहुविधत्व, जगतका विशिष्टत्व है परंतु जगत्की नैसर्गिक विषमतासे मनुष्यकी मानसिक रचनामें अंतर नहीं पड़ता। जिस प्रकार न्यूनाधिक शक्तिवाले दो मनुष्योंके अवयव न्यूनाधिक नहीं होते उसी प्रकार बुद्धिसामर्थ्यके भेदसे बुद्धींद्रियोंमें भी अंतर नहीं होता। जगत्में जिन लोगोंको साधारण बातों अथवा गुणोंमें दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठत्व प्राप्त हो जाता है वे ही लोग समाजमें विषमता कायम रखनेके कार्यके प्रायः पुरस्कर्ता हुआ करते हैं। वे खुशामदियोंके द्वारा अपने झूठे अभिमानका पोषण कर एक प्रकारसे आत्मवंचना करते हैं। इस वर्गमें ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो यह समझते हैं कि जन्म अथवा कुलके कारण मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक स्थितिमें अंतर पड़जाता है और भिन्न भिन्न जातियोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंमें मनुष्य और मनुष्येतर प्राणीके समान अंतर होता है। और वे दोनोंके रक्तको भी भिन्न भिन्न रंगका शायद समझते हैं। परंतु यह कल्पना असत्य है। मनुष्य जातिमें एक प्रकारकी तात्त्विक और मानसिक समता है जिसे बुद्धि, शक्ति और अधिकारकी न्यूनाधिकता बाधा नहीं पहुँचा सकती। यह बात स्थूल दृष्टिमें भी आ सकती है। मनुष्य जातिमें उक्त कारणोंसे होनेवाली विषमता पृथ्वीके पृष्ठ भाग पर पर्वत और समुद्रके द्वारा होनेवाली ऊंचाई निचाईके समान क्षुद्र है। और यह बात एक प्रकरणमें बतला भी चुके हैं। किसी भी गुणका उत्कर्ष, मनुष्यसमाजको आश्चर्य चकित कर देता है और अपनी दुर्लभताके कारण वह आदरका पात्र होता है इस परसे आदर पात्र मनुष्यको तत्त्वतः इतर मनुष्य जातिसे भिन्न समझना भूल है। यदि उसे मनुष्य जातिसे भिन्न कोई उच्च व्यक्ति माना जाय और इस कारण उसके कुलको भी सबसे श्रेष्ठ और अपूर्व माना जाय तो समाज व्यवस्थाके कल्पनारूपी शरीरमें रोग प्रवेश करानेके समान होगा। क्योंकि

समताके अभावमें सेव्य-सेवक और उच्च-नीचके संबंधका अर्थविपर्यास होता है। एक वर्ग (नीच वर्ग) में आदर भावके स्थानपर लांगूल चालन करनेका अभ्यास उत्पन्न होता है और दूसरे (उच्च) वर्गमें उदार चारित्र्यके स्थानपर उन्माद उत्पन्न हो जाता है। सद्गुण, गुणरहित हो जाते हैं और नीति, समाजमें परस्परमें व्यवहार करनेवाले व्यक्तियोंके दर्जेके अनुरोधसे सहजमें फेंक देने योग्य जीर्णवस्त्र मानी जाने लगती है। बुद्धिमत्ता, श्रेष्ठ वर्गकी खुशामद करनेका एक उत्तम साधन मानी जाती है। और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न मनुष्य " यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः सः पंडित. स. श्रुतिमान् गुणज्ञः" इस श्लोकानुसार सर्वगुणसम्पन्न माना जाने लगता है। यहां तक कि उस व्यक्तिके यक्ष, गंधर्व, देव, आदिमें उत्पन्न होनेकी कल्पनाका समाजमें प्रसार हो जाता है। प्रत्येक राष्ट्रका उद्दाम भूत मध्यम वर्ग निराशाके भारसे दब जाता है और यह वर्ग अपने परिश्रमको उच्च वर्गकी सेवाके लिये, अपनी संपत्ति उसके आदरके लिये और बुद्धिमत्ता खुशामदके लिये समझने लगता है। जिससे उस वर्गका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। चारों ओर निराशाही निराशा दिखती है। और उसका आत्मविश्वास शून्य हो जाता है। कवि, शास्त्री, तत्त्ववेत्ता आदिको अपने गुणकी परीक्षार्थ श्रेष्ठ कुलोत्पन्न वर्गके पास दौड कर जाना पड़ता है। समाजके इन दोनों भागोंकी अवलोकन करनेकी दृष्टितक दूषित हो जाती है। सरदार वर्गके दो मनुष्योंका जुआ खेलते समय परस्परमें किया हुआ ऋण, सम्मानका कारण माना जाता है और उस ऋणको न देनेवालेकी निंदा होती है परंतु कष्टसे धन पैदा करनेवाले मध्यमवर्गके पाससे भोगविलासके लिये किया हुआ ऋण क्षुद्र समझा जाता है और वह न देनेपर उसका अपवाद भी नहीं होता। इस विषम व्यवस्थामें न्याया-अन्यायकी कल्पना भी विपरीत हो जाती है। यदि कानूनके शुद्ध स्वरूपके द्वारा एकाधवार वास्तविक न्याय मिल भी गया तो भी

स्वाभिमानद्रुमे छिन्ने दारिद्र्योन्मत्तदंतिना
उड्डीयंतेततः शीघ्रं सर्वे गुणपतत्रिणः

अर्थात् जिस प्रकार किसी मदोन्मत्त हाथीके वृक्ष उखाड़नेपर उस वृक्ष पर बैठे हुए पक्षी उड़ जाते हैं उसी प्रकार नीचभावके द्वारा स्वाभिमानरूपी वृक्षको उखाड़े जानेपर मनुष्य जातिके सम्पूर्ण गुण गण नष्ट हो जाते हैं। और इस प्रकार समाजका एक पूरा अंग लूला अथवा विकल हो जाता है।

अभिजनसत्ताका दूसरा विषमय परिणाम जनसमाजमें रहनेवाला अज्ञान है। किसी भी रूपमें रहनेवाली अभिजनसत्तामें लोक शिक्षणके विरुद्ध दुराग्रह दिखलाई ही पड़ेगा। अमेरिकाके लोगोंका उदाहरण लो। जिन्होंने गुलामोंको शिक्षा देना कानूनन बंद किया था अथवा इंग्लेण्डके सरदारोंका उदाहरण लो जिन्होंने मध्यम वर्गको केवल इसी हेतुसे शिक्षा देना निश्चित किया था जिससे वह वर्ग श्रेष्ठकुलकी सेवा उत्तम रीतिसे कर सके। अभिजनसत्ता जनसमाजमें शिक्षा प्रचारके सदा विरुद्ध रही है। शिक्षासे लोगोंको अपने अधिकारोंका ज्ञान हो जाता है। और उससे ऊपर कही हुई मानव-समाजकी तात्त्विक समता उनके निदर्शनमें आ जाती है। जिससे उनकी दृष्टिमे श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेनेकी कीमत कुछ अधिक नहीं रहती। अतएव अभिजनसत्ता अपनी इस स्वार्थ-दृष्टिके कारण कि शिक्षाके प्रचारसे सर्व साधारणकी दृष्टिमें अपनी श्रेष्ठताका कुछ महत्त्व नहीं रहेगा, जनताको शिक्षा देनेकी कल्पनाके अत्यंत विरुद्ध होती है। शिक्षणकी तुलना साधारणतया अमृतसे की जाती है। भूत,भाव समाजमें स्वतःकी स्थिति और भावी प्रगतिका ज्ञान उत्पन्न करनेवाली संजीवनी-विद्या, शिक्षाही है। कई लेखकोंने शिक्षाको परमेश्वरीय कलाके समान माना है।

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेत् वा विषमीश्वरेच्छया॥

अर्थात् परमेश्वरकी इच्छासे कभी विष अमृत हो जाता है और अमृत विष हो जाता है। कालिदासकी इस उक्तिमें प्रगट किये हुए ईश्वरकी इच्छाका कर्तृत्व अपने ऊपर लेनेवाली अभिजनसत्ता, अमृतरूपी शिक्षाको लोकसमाजके लिये विषमय समझती है और इस कारण उसकी गदा शिक्षाके ऊपर सदा पड़तीही रहती है। जिससे राष्ट्रकी स्थिति अत्यंत हीन हो जाती है और उसे सुधारणाकी सबसे नीची सीढ़ीपर लाचार होकर पड़ा रहना पड़ता है।

अभिजन सत्तासे एक बड़ी हानि यह है कि राष्ट्रके एक भागमें आलस्यकी अत्यंत वृद्धि हो जाती है। यह भाग, कुछ कामकाज न करना और जगत्के लिये उपयुक्त एवं उद्योगवर्धक कामोंको करनेमें साभिमान आलस्य दिखलाना ऐश्वर्य और बड़प्पनका कारण समझने लगता है।

आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समो बंधुः यं कृत्वा नावसीदति।

यह तत्त्व समूल नष्ट हो जाता है और उद्योगी पुरुषोंकी निर्भर्त्सना होने लगती है । अपने विनोदकेही लिये किये जानेवाला उद्योग भी निम्न श्रेणीका माना जाने लगता है । इसका एक उदाहरण हिन्दुस्तानमें हो चुका है । क्रिकेट खेलते समय गेंद लानेके लिये स्वयं दौड़नेवाले साहबसे एक हिन्दुस्तानी सरदारने कहा कि इस हलके कामको करनेके लिये आप किसी नौकरको क्यों नहीं रख लेते ? सारांश यह कि जिसे अँगरेजीमें Dignity of Labour परिश्रमका ऐश्वर्य कहते हैं, अभिजनसत्ताको उसकी कल्पना तक नहीं होती और इस कारण राष्ट्रका प्रायः एक भाग आलस्यरूपी राक्षसके पंजेमें आ जाता है जिससे अखिल राष्ट्र, पक्षाघात होनेके समान विकल होकर पड़ा रहता है । उठने नहीं पाता ।

इसके विरुद्ध लोकसत्ताके शासनमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्रता और समताकी स्थितिमें जन्म लेता है । और शिक्षाका प्रचार सार्वत्रिक हो जाता है । प्रोफेसर हक्सलेने लिखा है कि इंग्लेण्डमें जनताको सार्वत्रिक शिक्षा देनेके लिये उस देशके परोपकारी लोगोंने जो बोर्डस्कूल स्थापित किये थे उनके चलानेमें मुख्य अड़चन यही थी कि वहाँका धनिक वर्ग विरोधी था । लोकसत्ताके शासन-कालमें मनुष्यका पद उसकी बुद्धि और चरित्र पर अवलंबित रहता है । यदि लोकसत्ताके शासनमें कहीं कोई साधारण मनुष्य बड़े पद पर दिखलाई पड़ता है तो उसका कारण भिन्न भिन्न राजकीय पक्षोंकी सहायतासे चलनेवाली राज्य-व्यवस्था-पद्धति (Party System of Government) है । इन पक्षोंमें उन पक्षोंके मतके परंतु सब तरहकी बुद्धिके लोगोंका समावेश होता है । अमेरिका सरीखे देशोंमें शिक्षाका ही महत्त्व है । यहाँ अत्यंत श्रीमान् लोगोंको भी शिक्षा प्राप्त कर विद्वान् होना पड़ता है । बिना शिक्षाके केवल संपत्तिके कारण यहाँ मान नहीं मिलता । लोकसत्ताके शासनमें पर-राष्ट्रकी वकीलीकी जगह पर यहाँ विद्वान् और कर्तृत्ववान् पुरुषोंकी नियुक्ति होती है वहाँ अभिजनसत्ताके शासनमें बड़े बड़े कुटुम्बके लोग ही नियुक्त किये जाते हैं ।

लोकसत्तामें स्त्रियोंको भी सार्वत्रिक मान दिया जाता है । फ्रेन्च राज्य-क्रान्तिके पहिले फ्रान्समें व इतर देशोंमें स्त्रियोंके मानापमानकी भावनाका विपर्यास ही हो गया था । और धनी निर्धनियोंकी स्त्रियोंके मानसन्मानमें

विषमता उत्पन्न हो गई थी। सरदारोंकी स्त्रियोंकी इज्जतका जितना ध्यान रक्खा जाता था उतना गरीबोंकी स्त्रियोंकी इज्जतका नहीं रक्खा जाता था। मानों सरदारोंकी स्त्रियोंमें ही लज्जा और इज्जत होती है गरीब घरानेकी स्त्रियोंमें नहीं। उस समय गरीबोंकी स्त्रियोंको कष्ट पहुँचानेमें सरदारोंके तरुण लड़के दूषण न समझ भूषण समझते थे। इतनाही नहीं किंतु इस प्रकार अनीतिके संबंधसे गरीबोंकी स्त्रियोंकी इज्जत बढ़ती है यह माना जाने लगा था।

इस प्रकार लोकसत्ता और अभिजनसत्तामें अनेक प्रकारसे महत्त्वपूर्ण अंतर दिखलाई पड़ता है। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि इन दोनोंकी रचना दो भिन्न तत्त्वोंपर हुई है। सब मनुष्य समान होनेके कारण मनुष्यत्वके मूलभूत अधिकार भी सबके समान हैं, यह पहिले प्रकारकी सत्ता (लोकसत्ता) का तत्त्व है। और विषमता दूसरी (अभिजात) सत्ताका तत्त्व है। पहिले तत्त्वके अनुसार मनुष्यकी योग्यता और कर्तृत्वशक्तिका विचार समानताकी दृष्टिसे किया जाता है। और दूसरेमें उच्चनीच भावोंको प्रथम मानकर फिर बातोंका विचार किया जाता है। मनुष्योंके गुणोंका विकास, समाजके कृत्रिम बंधनोंके अभावमें ही होता है। कृत्रिम पद्धतिके द्वारा कुंडेमें लगाई हुई पुष्पलताके फूल जिस प्रकार, जंगलमें सृष्टिदेवताकी साधनसंपत्तिसे पूर्ण विकास पानेवाले फूलोंकी समानता नहीं कर सकते उसी प्रकार मनुष्यत्वका पूर्ण-परिमल भी श्रेष्ठता और कनिष्ठताके कृत्रिम वातावरणमें न फैलकर सामाजिक और राजकीय समताकी खुली हवामें ही फैलता है। यह एक सर्व सामान्य सिद्धान्त है। किसी समाज अथवा राष्ट्रका किसी विशेष अवस्थामें पूर्ण स्वतंत्र होना शायद शक्य न होगा और अयोग्यके हाथमें सामर्थ्य न होते हुए भी सत्ता देनेसे अनिष्टकारक परिणाम होनेकी भी संभावना हो सकती है; पर इससे मूल सिद्धान्तमें कोई बाधा न आकर प्रत्युत पुष्टिही होती है। छोटे बालकको यदि पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय तो वह अपने आपका अहित कर सकता है परन्तु इसी आशंकासे यदि उसे हिताहित जानने लगने पर भी स्वतंत्रता न दी जाय तो ऐसा करना कभी शक्य अथवा इष्ट न होगा। ऐसी अवस्थामें तो " प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत् " की नीतिके अनुसार ही उससे व्यवहार करना होगा। इसी प्रकार राष्ट्र-विशेषके किसी अनिष्ट कालके कारण परतंत्र हो जानेपर उसे यदि सदा कृत्रिम-सत्ताके आधी-

रक्खा जाय तो वह उस राष्ट्रको और परतंत्र रखनेवालोंको अक्षय सुखकी दृष्टिसे कभी सुखावह और हितकर नहीं हो सकता।

इस प्रकार स्थूल सिद्धान्तके रूपसे लोकसत्ता, अभिजनसत्ता अथवा धन, कुल और अधिकारके कारण प्रबल वर्गोंकी सत्ताकी अपेक्षा पूर्ण श्रेष्ठ होती है। अब विचार यह करना है कि इस (लोक) सत्ताकी इष्टानिष्टताके संबंधमें क्या क्या आक्षेप हैं और उनका निरसन किस प्रकार हो सकता है ?

राजकीय अनुशासन
लोकसत्ता।

अनुशासनकी दो मुख्य पद्धतियों—अभिजनसत्ता और लोकसत्ता—की तुलना कर गत प्रकरणमें यह सिद्धान्त निकाला गया है कि पहिली पद्धतिका साधारण परिणाम मनुष्य-जातिकी तेजोहानि, उसकी महत्वाकांक्षाका प्रतिरोध और उसकी नैतिक व मानसिक उन्नतिका आकुंचन करनेवाला होता है। और दूसरीका मनुष्यजातिको अधिक उच्च और श्रेष्ठ बनानेवाला होता है। इस भागमें इसी विषय पर और अधिक ऊहापोह कर लोकसत्ताकी इष्टताके ऊपर किये जानेवाले कुछ महत्वपूर्ण आक्षेपोंका विचार किया जायगा। क्यों कि किसी भी प्रश्नका एक बाजूसे विचार करना लोपयुक्त और हेत्वाभास-मूलक होता है। अतएव लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिके राजकीय, सामाजिक और नैतिक दोषोंको भी अवश्य देखना चाहिये। परन्तु इस विवेचन करनेके पहिले इस विषयके संबन्धमें जो लौकिक भ्रम हैं उनका निरसन कर देना उचित होगा। विवेचनीय विषयका वास्तविक स्वरूप ध्यानमें न रख कर उस विषयकी अवास्तविक कल्पना कर लेनेसे उसमें आवश्यकतासे अधिक दोष अथवा गुण दिखलाई पड़ने लगते हैं। और इस कारण फिर उसका विवेचन वास्तविक न होकर विकृत हो जाता है। इसलिये किसी भी विषयका विवेचन करते समय उसका शुद्ध स्वरूपही ध्यानमें रखना उचित है।

लोकसत्ताके आवश्यक और वास्तविक तत्वध्यानमें न रखकर इसके जो जो रूप पूर्वकालके इतिहासमें दृश्यमान हुए हैं उन्हें ही लोकसत्ताके वास्तविक और सर्वोत्तम रूप समझ सर्व सामान्य जनसमूह इसकी (लोकसत्ताकी) चिकित्सा करता है। इतिहास बाधा पर गत एक प्रकरणमें विचार कर यह सिद्ध किया जा चुका है कि लोग जो इतिहासको वर्तमान काल पर प्रकाश

डालनेवाली ज्योति समझते हैं यह भ्रम है। वास्तवमें वर्तमानकालका ज्ञान ही गत-काल पर प्रकाश डालता है। लोक-सत्ता-संबंधी विकृत कल्पनाका कारण भी इसी प्रकारकी दोषात्मक विचारसरणी है। इतिहासमें लोकसत्ताके जो रूप दिखलाई पड़ते हैं उन्हें ही लोकसत्ताका आदर्श मानकर और उनमें कभी भी परिवर्तन न होनेकी संभावना पर विश्वास रखकर उन रूपोंमें दिखलाई देनेवाले दोषोंके कारण यदि लोक-सत्ता हीन गुण मानी जाय तो यद्यपि वह उचित होगा, परन्तु उस मान्यता और संभावनाके लिये आधार क्या होगा? क्या लोक सत्ताके गत स्वरूपोंमें कभी परिवर्तन नहीं हुआ? क्या कभी किसीने विचार किया है कि प्रतिदिन बदलने वाली वस्तुस्थितिके कारण गत-कालसे भी अधिक शुद्ध स्वरूपमें प्रगट होनेवाली लोकसत्तामें भी जो दोष होते हैं वे उसके मूलग्राही दोष हैं या नहीं?। पूर्वकालमें ग्रीस और रोम देशोंमें लोकसत्तात्मक राज्यपद्धति थी। जिस प्रकार इस पद्धतिके कारण इन दोनों देशोंकी असीम उन्नति माननेवाले लोग हैं उसी प्रकार इस पद्धतिके कारण इन देशोंका पतन माननेवाले भी हैं। अर्थात् एकही कारणसे दो परिणाम होनेके वे लोग प्रमाण देते हैं। परंतु यह आक्षेप, कारणपर करना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि एक कारणसे तो एकही प्रकारका परिणाम होनेकी संभावना है। इसलिये यह आक्षेप कारण पर न कर कारणके साथ साथ रहनेवाली परिस्थिति पर करना ही उचित है। पदार्थको जलाना अग्निका सामान्य गुणधर्म है। परंतु यदि किसी पदार्थको वह न जला सके तो उसका कारण अग्निका गुणधर्म नहीं होगा किंतु उस पदार्थमें रहनेवाली दाह-प्रतिबंधक शक्ति ही होगी। सारांश यह है कि किसी भी कार्यकी चिकित्सा करते समय मूलकारणका परिणाम और आनुषंगिक बातोंके परिणामकी सूक्ष्म रीतिसे छानबीन किये बिना कार्य-कारण-भावका सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकेगा।

ग्रीस देशके उदाहरण पर पहिले यहां विचार करना उचित होगा। ग्रीस देशके इतिहासके पाठकोंको यह विदित होगा कि ग्रीसदेश, अनेक छोटे छोटे लोकसत्ताक राज्योंका एक समुदाय था। इन राज्योंका विस्तार आजकलके छोटे छोटे शहरोंके समान था। किसी महत्त्वपूर्ण राज्यकार्य पर विचार करनेके लिये उन राज्योंके बालिग मनुष्य एक स्थानपर एकत्रित होकर जो कुछ करना होता उसका निश्चय करते थे। समाजके सब लोग कभी भी सुशिक्षित नहीं हो सकते। और न तात्कालिक लाभ व चिरकालिक लाभके निश्चय करनेकी शक्ति ही सबमें समान

होती है । इस लिये प्रत्येक महत्त्वके प्रश्नमें लोगोंकी स्वतःकी आत्महानिकी ओर दृष्टि होना पूर्ण स्वाभाविक है और फिर घूँस खुशाई व कृपा आदिको भी अवसर मिल जानेकी संभावना है । यदि कोई सभासद अपनी योजना मंजूर कराना चाहे तो वह इतर सभासदोंको उनके निजी कामका आमिष दिखलाकर ऐसा कर सकता है । तथा किसी तात्कालिक क्षणिक मनोविकारके झटकेके वश हो जाने पर लोक-समूह हित अहितकी ओर दृष्टि न कर अपने क्षणिक मनोविकारोंके आवेशमें राज्य-कारस्थानको उसी दिशामें लगा सकता है । और इस दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्यको राज्यकार्यकी प्रत्येक बातोंमें प्रत्यक्षतया मत देनेका अधिकार होना उपपत्तिके तौर पर मनोहर होने पर भी परिणाममें हानिकारक ही सिद्ध होता है । यह बात प्रत्यक्ष है कि सुनार, सुतार, कोष्टी, चंभार वगैरह देशहितके संबंधमें कितने ही तत्पर हुए तो भी अपने अपने निर्वाह और धंदेकी ओर ही अधिक ध्यान लगानेके कारण वे एक पर-राष्ट्रीय सचिवके समान राज्यसंबंधी उलझनोंके प्रश्नोंको कभी समझ न सकेंगे । अपने कामके सिवाय दूसरे कामोंका साधारण ज्ञान होने पर भी उनके संबंधमें दूरदृष्टि होना असंभव है । इसके उदाहरणमें एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक चित्रकारने एक उत्तम चित्र बना कर सार्वजनिक समालोचनाके लिये आम रास्ते पर लटका दिया। और उसके साथ एक सम्मति-बही रख दी जिसमें यदि कोई चाहे तो अपनी सम्मति लिख सके । पहिले दिन एक चम्हारने आकर उस चित्रमें बने हुए जूतेकी जोड़ी पर अपनी समालोचना इस बहीमें लिख दी । शामके समय चित्रकारने आकर बही देखी और उसे चम्हारका कहना उचित प्रतीत हुआ अतएव उसने अपने चित्रमें चम्हारके लिखे अनुसार सुधार कर दिया । दूसरे दिन चम्हार फिर आया; अब उसने देखा कि मेरी समालोचना ठीक मानी गई तब वह अभिमानमें आगया और उस दिन चित्रमें दिखलाये हुए सृष्टिसौंदर्य पर उसने समालोचना लिख डाली । शामको आकर चित्रकारने देखा तब उसे मालूम हुआ कि पहिले दिनकी कार्रवाईसे चम्हारराम अभिमानमें फूल गये हैं और इस प्रकार धृष्टता कर बैठे हैं अतः उसने चम्हारके लिये उस बहीमें इस प्रकार सूचना लिख दी कि:—

यो यत्र कुशलः कार्ये तत्र तं विनियोजयेत् ।
कार्येष्व दृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोपि विमुह्यति ॥

अर्थात् जो जिस कार्यमें कुशल है उस कार्यके लिये उसे ही नियुक्त करना चाहिये। क्योंकि कार्यमें अकुशल चालाक भी कार्यके समय मोहित (भ्रमित) हो जाता है। सार यह है कि जिसका काम उससे ही ठीक होता है। दूसरेसे नहीं। ग्रीस देशमे प्रत्येक मनुष्यके राज्य कार्यमें प्रत्यक्ष भाग ले सकनेके कारण किसी प्रकारका निर्बंध नहीं रहा था। और इस प्रकारकी पद्धती उस देशमे प्रचलित होनेका कारण यह था कि उस देशका आकारका छोटा था। वास्तवमें लोक-सत्ता और छोटे राज्यका कोई अभेद्य संबंध नहीं है। उस समयके लोकसत्ताक राज्य छोटे थे, परंतु वर्तमानमें बहुत बड़े बड़े राज्योंमें यह पद्धति प्रचलित है और इसलिये इन राज्योंमें वह (सब मिल कर काम करनेका) दोष नहीं आ सकता।

रोमके प्रजासत्ताक राज्यमें एक दूसरा ही दोष दिखलाई देता है। वह यह कि वहाँके राज्यकी नींव गुलामीके अस्तित्व पर अवलंबित थी। गुलाम लोगोंकी सहायतासे जमीनके बड़े बड़े टुकड़े थोड़े लोगोंकी मालिकीके हो गये और वे लोग उन जमीनोंको गुलामोंके सिपुर्द कर बड़े बड़े शहरोंमें चैनकी वंशी बजाने लगे। मध्यम वर्गके लोग भी गुलामोंको बहुत कम महिन्ताना देकर अपना काम कराने और शहरोंमें रह कर सरदार लोगोंका अनुकरण कर अनीतिपूर्ण भोगविलासमें मग्न रहने लगे। ऐसे लोगोंमेंसे कुछ लोग सरदारोंकी ओर मिलते और कुछ दूसरे ही महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंमें जा मिलते और फिर परस्परमें लड़ाई झगड़े कराते थे। फल यह हुआ कि राष्ट्र-मेंसे स्वावलंबन, धैर्य, साहस, परिश्रम, आदि गुण नष्ट हो गये और रोमन राष्ट्रकी इमारत एक जीर्ण-शीर्ण महलके समान धराशायी हो गई। इस सब अनर्थका कारण गुलामी थी। न कि लोकसत्तात्मक राज्यपद्धति। यदि निमित्त कारण रूप परिस्थितिसे मूल कारणका परिणाम विपरीत हुआ तो उसका दोष मूल कारण पर नहीं आ सकता और उन परिस्थिति रूप कार-णोंके नष्ट हो जाने पर भी वही परिणाम होगा यह भी नहीं कहा जा सकता।

इसके बाद फ्रान्सकी राज्यक्रांतिके पीछेकी लोकसत्ताका उदाहरण लिया जा सकता है। इस उदाहरणमें एक तीसरा ही दोष दिखलाई पड़ता है। वह दोष यह है कि वहां सम्पूर्ण राज्याधिकारोंका केन्द्र बहुत थोड़े लोगोंके हाथमें था। सुधरे हुए अर्वाचीन देशोंमें राजकीय अनुशासनके उपाय, इतने बढ़ गये हैं कि गत

प्रकरणमें कहे अनुसार उनका एक अथवा थोड़े लोगोंके द्वारा कभी अच्छी तरहसे व्यवहार नहीं हो सकता। उस समय फ्रान्समें केवल इनी गिनी दो चार व्यक्तियाँ हीं अपने ढंगसे राजकार्य चलातीं थीं। भिन्न भिन्न राजकीय विभागोंके अधिकारों की बाँटनी कर देनेसे उनका उत्तरदायित्वभी बँट जाता है और वह प्रत्येक विभागके भिन्न भिन्न अधिकारियोंपर पड़ जाता है। वे अधिकारी अपने २ विभागके हिताहितको देख कर राज्यकारबारमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ राज्य-कर वसूल करनेके लिये रेव्हन्यु विभाग होता है। बिना कारण कर वसूलीको रुकने न देनेके संबंधके आवश्यक अधिकार इस विभागके अधिकारीको रहते हैं। साथहीमें दुष्काल, अवर्षण आदि कारणोंसे यदि फसल वगैरह ठीक नहीं होती तो कर वसूलीका काम उस साल बंद रखने अथवा माफ कर देनेका अधिकार भी उसी अधिकारीको होता है। इसी खातेके समान राज्यमें एक खासगी खाता भी होता है इस विभागके द्वारा राजाके निजी व्यक्तिगत कार्योंका प्रबंध होता है। इस विभाग के द्वारा राजा मन माना खर्च कर सकता है। मनुष्य स्वभावके अनुसार राजाका स्वार्थपर होना और इसलिये अपने निजी खर्चमें कमी न आने देना एक साधारण बात है। अब यदि राजाका यह खासगी विभाग और रेव्हन्यू विभाग एकही अधिकारीके हाथमें हो तो वह अधिकारी राजाके खर्चमें तंगी न आने देनेके लिहाजसे आवश्यकता पड़ने पर भी कर वसूलीका कार्य स्थगित नहीं करेगा और न करकी माफी देगा। परिणाम यह होगा कि आपत्तिसे जर्जर हुई प्रजाको करका बोझ असह्य हो जायगा और इसलिये उसमें असंतोष बढ़ जायगा और यदि ऐसे ही अनेक कारणोंसे असंतोष बढ़ता गया तो उससे राज्य और राजाकी सुरक्षिततामें कमीपना आजायगा। यह आपत्ति दोनों विभागके दो अधिकारी रखने और उन्हें उन विभागोंका भिन्न भिन्न अधिकार देनेसेही टल सकती है। क्योंकि वे अपने अपने विभाग का उचित प्रबंध करेंगे और प्रजाको संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करेंगे। सारांश यह है कि राज्यकारभारमें सम्पूर्ण अधिकारोंका और संपत्तिका स्थान विशेष पर केन्द्रीकरण होना अनिष्टकारक है।

एको न गच्छेदध्वानं नैकश्चार्थान् प्रचिन्तयेत् ॥

अर्थात् एकाकी मार्गमें गमन नहीं करना चाहिये और न अर्थका चिंतन करना चाहिये। इसी दोषके कारण फ्रान्सकी लोकसभाके कार्यमें विघ्न उप-

स्थित हुए। वहाँ लोक परिषद् होनेपर भी कभी उसका अधिवेशन नहीं किया जाता था। लोगोंकी दाद फर्याद नहीं सुनी जाती थी और न राष्ट्रके कर्तृत्व-शक्तिसंपन्न और लोक-विश्वास पात्र मनुष्योंकी सलाह ही ली जाती थी। इन सब कारणोंका संयोग मुख्य कारणसे होते ही थोड़ेही निमित्तसे वहाँ राज्यक्रान्ति हो गई। आश्चर्यकी बात यह है कि यही अधिकारोंका केन्द्रीकरण राज्यक्रान्तिके पश्चात् नेपोलियन बोनापार्टको अपनी जड़ जमानेके लिये बहुत लाभदायक हुआ। 'हम करें सो कायदा' की राज्यपद्धतिके लिये यह अधिकारोंका केन्द्रीकरण बहुत लाभदायक होता है। क्योंकि उससे जवाब पूछने वाला कोई न होनेके कारण वह सत्ता अमर्यादित रहती है। परंतु ऐसी सत्ता और लोकसत्ताके तत्वोंमें जमीन आसमानका अंतर होता है। फ्रान्समें लोकसत्ता नाममात्रको ही थी। व्यवहारमें तो पहिली राज्यक्रान्तिके बाद फ्रान्सकी स्थिति युद्धकालकी सेनाके समान एकसंघानुवर्ती थी। इसलिये यह दोष लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिका न होकर दूसरे ही कारणोंका माना जा सकता है।

इस प्रकार लोकसत्ताके मूलतत्वोंसे संबंध न रखनेवाली विषम परिस्थितियोंके संयोगके कारण लोकसत्ताको अपयश प्राप्त हुआ परंतु वास्तवमें वह उसके दोष नहीं थे। इसलिये जिस प्रकार जमीनमें बोये हुए धान्यके पौधोंको बढ़नेमें उनके साथ साथ पैदा होनेवाले दूसरे पौधे (घाँस वगैरह) विघ्नरूप होते हैं और किसान यह दोष जमीन व बीजको न देकर उस घाँस वगैरहको निदाईकर निकाल डालता है उसी प्रकार राजकीय बातोंमे भी तत्वज्ञों और सुधारकोंको दूसरे दोषोंको निकाल डालनेका प्रयत्न करना चाहिये।

जिस प्रकार लोकसत्ताके साथ साथ रहनेवाली परिस्थितियोंको भूल जानेके कारण लोकसत्तापर दोषारोपण किया गया है उसी प्रकार समयानुसार होने वाले सैद्धान्तिक स्थित्यंतरोंको भी आक्षेपक लोग भूल जाते हैं। जगत्के आरंभ कालसे ले कर आज तक मिले हुए अनुभवोंके कारण तथा परिवर्तन-शील परिस्थितियोंके कारण राजकीय तत्वज्ञानके कुछ मूल सिद्धान्त तक आज बदल गये हैं। यह एक साधारण नियम माना जाता है कि इतिहासकी पुनरावृत्ति होती रहती है। कुछ लोग इस नियमको शब्दशः ठीक समझते हैं। महाभारतके 'यक्षप्रश्न' नामक प्रकरणमें धर्म राजासे किये हुए इस प्रश्नका कि 'यम-

धर्मसे सुखी कौन है ?' उत्तर दिया गया है कि "अनृणी चाप्रवासी च" अर्थात् जिस पर कर्ज नहीं है और जो प्रवास नहीं करता। पहिलेके जमानेमें जब कि रास्ता चलना बहुत कठिन था और मार्गमें ठहरने आदिके अनेक कष्ट राजाओं तकको होते थे इस सिद्धान्तका होना ठीक माना जा सकता है। परन्तु आजके जमानेमें जब कि एक घंटेमें साठ मील चलनेवाली रेलगाड़ियाँ और स्थान स्थान पर ठहरनेके सुभीते आदि साधन हो गये हैं तब इस सिद्धान्तका माना जाना कभी ठीक नहीं होगा। परिस्थितिके कारण यह सिद्धान्त परिवर्तन हो गया है। और यही दशा दूसरी बातोंकी भी है। कुछ भी करने पर पहिले कालकी परिस्थिति उत्पन्न नहीं की जा सकती। जैसे कि पहिले सर्व साधारणका यह विश्वास था कि राजाको परमेश्वरके द्वारा राज्य प्राप्त होनेके कारण राजकारणके समान धर्मकारणकी सत्ता भी राजाको ही होनी चाहिये। और वह राजकीय सुव्यवस्थाके समान धार्मिक व्यवस्थाके संबंधमें भी जवाबदार है। और इस लिये जिस प्रकार वह राजव्यवस्थाके लिये कायदे कानून बनाता है उसी प्रकार धर्मव्यवस्थाके लिये भी उसे कायदे कानून बना कर अधार्मिकोंको दंड देना चाहिये। परन्तु आजकल यह मान्यता नष्ट हो गई है। अब राजाके अधिकार ईश्वर निर्मित कोई नहीं मानता और न धर्म और राजनीतिका ही कोई नित्य संबंध मानता है। राजनिष्ठ होना प्रजाका प्रथम कर्तव्य है और इसलिये उसके अनुशासनका अधिकार राजाको होता है। परंतु उसके साथ ही धार्मिक बातोंमें अमुक तरहसे चलनेकी आज्ञा देनेका राजाका अधिकार अब कोई माननेको तैयार नहीं है। और इस लिये अधार्मिकताके कारण दुष्काल, युद्ध आदि आपत्ति विपत्ति प्रजाको भोगना पड़ती है। यह विश्वास रखनेवाले राजाको भी आज धार्मिक अनुशासनकी सत्ता हाथमें लेना संभव नहीं है। ऐसी स्थितिमें मूल सिद्धान्तोंमें जो अंतर पड़ गये हैं उन पर लक्ष्य दिये बिना कभी किसी पद्धति पर दोषारोपण करना उचित न होगा। इस प्रकार लोकसत्ताके संबंधमें जो दो प्रकारके प्रासंगिक भ्रम हैं—अर्थात् पूर्वकालमें परिस्थितियोंके कारण होनेवाले अनिष्ट परिणामोंके आक्षेप लोकसत्ता पर करना—उन भ्रमोंका निरसन कर अब इस पद्धति पर जो सामान्य और विशेष आक्षेप किये जाते हैं और उनका जो उत्तर दिया जाता है उन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस शासन पद्धति पर पहिला आक्षेप यह है कि इसका पर्यवसान अत्याचारपूर्ण राज्य-पद्धतिमें होनेकी बहुत कुछ संभावना रहती है। राजा और प्रजाके बीचमें, रेलगाड़ीके दो डब्बोंके नाके पर होनेवाले धक्का रोकनेके कमानीदार यन्त्रके (Buffer) समान यदि अभिजन सत्ता होगी तो उससे न तो राजसत्ता अप्रतिबंधक हो सकेगी और प्रजा भी अनियंत्रित न हो सकेगी। लोकसत्तामें स्थायी रूपसे कोई नियंता न होनेके कारण उसके द्वारा राष्ट्रमें राज्यक्रांतिके समान भयंकर आपत्तियां आती रहेंगी और फिर "अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्" यह वाल्मीकिका वचन सत्य होगा। परंतु अभिजन सत्तात्मक देशोंमें इस प्रकार होना शक्य नहीं है और इसका उदाहरण इंग्लैण्ड है। दूसरे देशोंमें केवल जुल्मी राजसत्ता अथवा अनिवार्य प्रजासत्ता होनेके कारण उनमें कईबार राज्यक्रान्तिका बवूला उठा परंतु इंग्लैण्ड देश मेरु पर्वतके समान सदा अचल रहा है। इंग्लैण्डमें जिस प्रकार राजा जॉनके अत्याचारोंको रोकनेमें अभिजन सत्ता सफल हुई उसी प्रकार फ्रान्सकी राज्यक्रांतिके समय इंग्लैण्डमें प्रजाजनमें उठी हुई राज्यक्रांतिकी इच्छाके महापूरको रोकनेमें भी वह सफल हुई और राज्यको स्थिर बना रखा। अतएव केवल लोगोंके हाथमें ही सत्ता देना कभी सुरक्षित और चतुराईका काम नहीं है। इस प्रकार लोकसत्ता पर आक्षेप किया जाता है परंतु तत्त्वदृष्टि और व्यवहार दृष्टिसे इसमें कुछ भी सार नहीं है।

तत्त्वदृष्टिसे देखने पर इस आक्षेपमें पहिले यही शंका उत्पन्न होती है कि अभिजनसत्ता अपने स्वार्थके विरुद्ध प्रजापक्षको सहायता किस प्रकार दे सकती है?। इस सत्ताका आधार देशकी प्रचलित व्यवस्था पर अवलंबित है। प्रत्येक आन्दोलनसे समाजमें क्रान्ति उत्पन्न होती है। और ऐसे समयमें बड़े बड़े लोगोंकी संपत्तिके भयमें आ जानेकी संभावना रहती है। यदि अभिजन सत्ता प्रजापक्षमें जा कर ऐसे समयमें मिल जाय तो उसे और भी अधिक बल मिलेगा और वह फिर किसीके रोके न रुक सकेगी। जिस प्रकार एंजिनको चालन देना कठिन है परन्तु चालन मिल जाने पर वह अपनी ही शक्तिसे अमर्यादित चल सकता है उसी प्रकार प्रजापक्षकी अधिकार-लालसाको अभिजनसत्ताके द्वारा थोड़ासा भी उत्तेजन मिलने पर फिर उसे सम्हालना कठिन हो जाता है। और ऐसी दशासे बड़े बड़े लोगोंकी स्थावर जंगम संपत्तिका टिका रहना असंभव प्रतीत होता है। इस दृष्टिसे देखने पर यह

विश्वास नहीं किया जा सकता कि जिसका हित प्रजा-जागृतिके विरोधमें समाया हुआ है वह अभिजन-सत्ता, राजसत्ताके विरुद्ध प्रजापक्षको कभी भी सहायता दे। तत्त्व दृष्टिसे यह कल्पना असंभव प्रतीत होती है। अपने हितके विरुद्ध मनुष्य अथवा समाजका व्यवहार करना, मानवीय स्वभावके विरुद्ध है और इस नियमको मान लेनेपर ऊपर कहे अनुसार सरदारोंका प्रजाके कल्याणके लिये राजसत्तासे विरोध करना कभी संभव नहीं माना जा सकता।

यही तत्त्व व्यावहारिक उदाहरणोपरसे भी सत्य सिद्ध होता है। इंगलैंडमें ही देखा जाय तो चार्ल्स राजाके समयमें सरदार लोग प्रजाके विरुद्ध राजामें मिले रहे। उसके बाद क्रामवेलकी मृत्यु हो जानेपर उसके दूसरे पुत्र चार्ल्स दूसरेको लानेका काम भी सरदारोंने ही किया। फ्रान्समें भी पहिली राज्यक्रांति-के पहिले राजाके अत्यंत जुल्मी होनेपर सरदार लोगोंने अपनी सत्ताका उपयोग प्रजा हितके लिये नहीं किया किंतु राजाके अत्याचारोंकी ही सहायता की जिससे वे भी राजाके साथ साथ प्रजाके साथ जुल्मके सताव किस पाये। यद्यपि उस समय लोगोंके हाथोंसे भी अनिष्ट कार्य हुए परंतु उसका दोष लोक-सत्ताक राज्यपद्धति पर न होकर पहिले कहे अनुसार उस परिस्थिति पर ही था जिसके कारण लोकसत्तात्मक राज्यव्यवस्था शुरू न हो सकी थी। अर्थात् राजाके नष्ट हो जाने पर कुछ महत्त्वाकांक्षी पुरुषोंने आगे आकर पहिलेसे चले आये हुए अधिकार-केन्द्रीकरणकी पद्धतिसे अपना लाभ उठाना चाहा और इस प्रकार प्रजाको एक ओर रखकर आपही बादशाहत करने लगे। लोक सत्तामें इन बातोंके अर्थात् अधिकारोंके केन्द्रीकरण और एकीकरणके पूर्ण विरुद्ध हैं और इसलिये यह दोष लोकसत्ता पर लादना कभी उचित नहीं होगा। अस्तु। फ्रान्सके उदाहरणसे यह बात सिद्ध है कि अभिजन सत्ताने उस समय लोक पक्षको सहायता नहीं दी।

आक्षेपकोंका प्रश्न यह है कि इंग्लेण्डमें राजसत्ता और अभिजन सत्ता होते हुए भी कभी भी फ्रांसके समान अव्यवस्था अथवा घृणित प्रसंगके न आने और स्वातन्त्र्यके दिन पर दिन बढ़ते रहनेका मर्म क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि इंग्लेण्डके स्थानिक स्वराज्यको सब बातोंमें लोक-सत्ताका ही अधिकार है। अभिजन सत्ता और राजसत्ता उनमें हस्तक्षेप नहीं कर पातीं। इस लिये वहाँ इन दोनोंमें टक्करें होनेकी संभावना नहीं है।

जिस प्रकार अमेरिकामें अड़ताळीस संस्थानों—रियासतों—को अपनी अपनी रियासतोंका अनुशासन करनेका पूर्ण अधिकार है उसी प्रकार इंग्लेण्डके परगनेवालोंको उन परगनोंके अनुशासनका पूर्ण अधिकार है। केवल साम्राज्यके अंतिम प्रश्नोंके संबंधमें अभिजनसत्ताको कुछ अधिकार हैं और वे भी दिन दिन कम होते जाते हैं। सारांश यह कि अनुशासनके एक भागमें तो उसे बिल्कुल अधिकार नहीं है और जो है वह केवल दिखाऊ है। अर्थात् इंग्लेण्डमें अभिजन सत्ता बलवान् रूपमें नहीं है और इस लिये लोकसत्ताके आड़े आनेकी ताकद् भी उसमें नहीं है। जहाँ वह विरोध करती है वहाँ उसका पराभव होता है। और इस कारण एक आक्षेपकोंके कहे अनुसार राजसत्ता और लोकसत्ताके बीचमें अभिजनसत्ताकी आवश्यकता अनुभवसे भी सिद्ध नहीं होती।

लोकसत्ता पर एक यह आक्षेप है कि उसमें किसी व्यक्तिका जन्मसे अर्थात् वंश-परंपरासे अधिकार अथवा महत्त्व न माना जानेके कारण वह बालूके असंख्य कणोंसे बने हुए एक नदीके तटके समान है। ऐसी स्थितिमें यदि कोई महत्त्वाकांक्षी मनुष्य प्रजाहितका ढोंग कर पहिले तो प्रजाका प्रेम संपादन कर ले और फिर अधिकार प्राप्त कर लेने पर जुल्म करने लगे तो उसे रोकनेके लिये कोई भी आगे नहीं आ सकेगा। किसी मैदानमें गरीब घोड़ेको छोड़ देनेपर उसे फिरनेको मनमानी जगह मिलनेसे पहिले तो आनंद होगा परंतु जब वह अपने आपके कब्जेमें भी नहीं रहेगा तब तुरंत ही यह इच्छा भी होगी कि उसे रोकनेको यदि मैदानमें कोई झाड़ अथवा टीला होता तो अच्छा होता। और इन प्रतिबंधक कारणोंका न होना उस समय लाभदायक न मानकर हानिकारकही माना जायगा। इसी प्रकार ऊँच, नीच भावनाओंसे रहित राजकीय मैदानमें महत्त्वाकांक्षारूपी घोड़ेके मनमाना छूट जानेपर हानि होनेकी अधिक संभावना है। इसके लिये नेपोलियन बोनापार्टका उदाहरण दिया जा सकता है। फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिके समय राजसत्ता और अभिजनसत्ता नष्ट हो जानेपर निर्वीर-उर्वीतल पर नेपोलियनको स्वैरसंचार करनेका खूब अनुकूल अवसर मिला। और उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने अपने निजका अत्याचारपूर्ण शासन स्थापित किया। इसी प्रकार रोमन लोकसत्ताके समयमें भी कॉसल, प्रीटर वगैरह अधिकारियोंको केवल बादशाहका नाम धारण न कर बादशाहके सब अधिकारोंके सूत्रोंको अपने

हाथमे लेकर बादशाहसे भी अधिक जुल्म करनेका जो मौका मिला उसका कारण भी यही है कि उस देशमें किसी भी प्रकारकी प्रतिबंध करनेवाली सत्ताका अभाव था। निरस्त पादप अथवा वृक्षहीन मैदानमें एरंडके समान छोटे भी वृक्षत्वका अधिकार प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार उच्च नीच भाव-रहित लोकसत्ताके शासनकालमें साहसी और महत्त्वाकांक्षी मनुष्योंको अवसर मिलता है। अधिकारकी दृष्टिसे ऊंची नीची सीढ़ियोंकी अत्यंत आवश्यकता है उनके होनेसे कोई मर्यादा भंग नहीं कर सकता। परंतु लोकसत्ताक राज-पद्धतिमें इस बातका अभाव होनेसे वह अपवादकी पात्र है।

परन्तु यह आक्षेप भी उचित नहीं है। लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें सब लोग बुद्धि, कर्तृत्व आदिमें साधारणतः समान माने जाते हैं। और इस लिये किसी मनुष्य विशेषके आगे आकर जुल्म करनेकी संभावना असंपूर्ण है। यदि सम्पूर्ण प्रजाजन दुर्बल, अशिक्षित अथवा स्वतन्त्रताके ज्ञान रहित हुए तो इस प्रकारकी आपत्ति आनेकी सम्भावना हो सकती है। ऊपर बतलाये हुए दोनों अवसर इसी प्रकारके थे। नेपोलियनके समयमें फ्रान्स देशके लोग अशिक्षित थे। और अनेक वर्षोंसे उन पर जो जुल्म हो रहे थे उनके कारण, वे निःसत्त्व हो गये थे। विषमज्वरसे अत्यंत दुर्बल हो जानेवाले मनुष्यमें वायुके प्रकोपके कारण तात्कालिक शक्ति आ जाती है परन्तु वह प्रकोप नष्ट हो जाने पर वह पहिलेसे भी अधिक निर्बल हो जाता है इसी प्रकार राज्य-क्रान्तिरूपी वातप्रकोपके नष्ट हो जाने पर फ्रान्स देश बहुत अधिक निर्बल हो गया था। और अनेक वर्षोंसे राजसत्ताके आश्रयमें गुलामके समान रहनेका अभ्यास होनेके कारण उन लोगोंको स्वतंत्रताका पूर्ण ज्ञान भी नहीं था। केवल शाब्दिक ज्ञान था। इसी कारण नेपोलियन उन लोगोंकी सांप-त्तिक, मानसिक और शारीरिक दुर्बलतासे काम उठा सका। परन्तु जहाँ प्रजा सुशिक्षित है, सांपत्तिक और नैतिक परिस्थितिसे सुखी है और स्वतंत्र-ताके मिष्ट फलसे जो परिचित है वह कभी किसी व्यक्ति-विशेषको प्रबल नहीं होने देती। अमेरिकामें प्रति बार प्रेसीडेन्ट चुना जाता है और वह दूसरोंकी अपेक्षा बुद्धि, कर्तृत्व एवं प्रभाववान् होनेके कारण ही चुना जाता है परन्तु डेढ़ सौ वर्षोंसे अधिक समय हो जाने पर भी इतिहासमे ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी प्रेसीडेन्टके अपने अधिकारको स्थायी बनानेके प्रयान करनेका तथा उसके सफल होनेका उल्लेख हो।

इसका कारण यही है कि यहाँके लोग सुशिक्षित, धूर्त, संपत्तिमान् और स्वतंत्रताके प्रेमी हैं। तथा स्वतंत्रताके लिये स्वार्थत्याग करनेके लिये वे सदा तत्पर रहते है। ऐसी समाजोंमें अत्याचारका प्रवेश होना असंभव है। इसके सिवाय अमेरिकाके प्रेसीडेन्ट भी उस सुशिक्षित और स्वातंत्र्य प्रिय प्रजाके एक घटक होनेके कारण प्रेसिडेन्टका पद छोड़ देने पर भी वे प्रजाके कल्याण और अभिवृद्धिके अर्थ ही प्रयत्नशील रहते है। अतएव ऐसी समाजोंमें किसी एक व्यक्तिके प्राबल्यका भय नहीं किया जा सकता। यदि सुशिक्षित और कर्तव्यनिष्ठ समाज होने पर भी उसके व्यक्ति पृथक् पृथक् रह कर काम करें तो भी उक्त भयको स्थान मिल सकता है। परंतु औद्योगिक, राजनैतिक आदि विषयोंकी अभिवृद्धिके अर्थ संघ स्थापित कर उनके द्वारा यदि समाजकी व्यक्तियाँ कार्य करती हैं और उनके प्रयत्नोंको संहत रूप प्राप्त हो जाता है तो फिर इस प्रकारके भयका नाम लेनेको भी अवकाश नहीं रहता। क्योंकि कोई भी अन्यायपूर्ण कार्य किये जानेकी संभावना होते ही उस कार्यसे हितसंबंध रखनेवाली संस्थाएं देश भरमें आन्दोलन खड़ा कर देती हैं। प्रभावद्वारा, पुस्तकों द्वारा और समाचारपत्रों द्वारा राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको उस अन्यायसे परिचित करा देती हैं और उन्हें विरोध करनेके लिये तैयार करती हैं। ऐसी परिस्थितिमें अत्याचारको बहुत कम मौका मिल पाता है। सारांश यह कि व्यक्ति विशेषको अपना घोड़ा आगे ढकेलनेके लिये जिस अज्ञान, आलस्य आदि युक्त परिस्थितिकी आवश्यकता है उसके दिन पर दिन नष्ट होते जानेके कारण अब लोकसत्ता पर इस प्रकारके आक्षेपको अवसर नहीं है।

लोकसत्ता पर जो तीसरा आक्षेप है वह उक्त दोनों आक्षेपोंसे बिलकुल उलटा है। आक्षेपकोंका कहना है कि ऊपरके आक्षेपोंके निरसनमें जो यह कहा गया है कि लोकसत्तात्मक शासनमें कोई भी व्यक्ति सबसे उच्च होकर नहीं रह सकती तो इससे समाजको एक यह भय होगा कि उसके व्यक्ति किसीके अधिकारको नहीं मानेंगे और इसलिये राष्ट्रमें सर्वत्र अव्यवस्था हो जावेगी। ईसप्नीतिमें एक कहानी है कि एक तालावमें एक बगुला राज्य करता था। वह अपनी मेंढक-प्रजामेंसे एकके बाद एकको खाने लगा। इसलिये मेंढकोंने इन्द्रसे प्रार्थना की कि हमें कोई दूसरा राजा दिया जाय। इन्द्रने लकड़ीका एक कुंदा पटक दिया। उस मय मे― ― ― ―

रखो। इसी प्रकार राष्ट्रमें भी किसी एक अधिकारयुक्त ऐसी व्यक्तिके न होने पर जिसके कहनेको सब स्वीकार करें सर्व साधारण स्वच्छंद रीतिसे व्यवहार करने लगेंगे और इस प्रकार समाज अव्यवस्थित हो जायगी।

परन्तु यह भय भी निराधार है। क्योंकि लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें समाज इतनी सुशिक्षित और कर्तव्य-चतुर होती है कि उसमें भयसे शान्ति नहीं रक्खी जा सकती। उसका निजका कर्तव्य ज्ञान ही शांति रखनेमें बस होता है। आफ्रिकाके जंगली लोगो अथवा हिंस्र पशुओंमें शांति रखनेके लिये भयकी आवश्यकता होती है। यदि यही नियम सुशिक्षित और अनुभवी समाजके लिये भी काममें लिया जाय तो अनुचित होगा। जिन लोगोंको राजकीय शिक्षा और अनुभव कितनेही वर्षोंसे मिलता रहा है, जो अधिकारी और कानूनका मान रखना अपने निजके और समाजके लिये हितावह समझते हैं और जो यह जानते हैं कि परस्परकी कलहसे समाज और राष्ट्रका नाश होगा उन लोगोंमें अधिकारसत्ताकी दुर्बलता कभी नहीं देखी जा सकती। इस और ऊपरके दोनो आक्षेपोंका मुँह तोड़ उत्तर देनेके लिये अमेरिकाके संयुक्त राष्ट्रका उदाहरण हमारे सामने है। एक संयुक्त कुटुम्बमें जिस प्रकार अमबुद्ध बालक ही आपसमें लड़ते हैं, विचारवान् और वयस्क मनुष्य नहीं लड़ते और इसीलिये वे अधिकारके पात्र माने जाते हैं उसी प्रकार राजकीय उत्क्रान्तिकी श्रेष्ठ स्थितिको पहुँचे हुए मनुष्यही लोकसत्ताक राज्यपद्धतिके योग्य होते हैं। क्योंकि उन्हें राज्यकी सुस्थितिके मार्गोंका ज्ञान अच्छी तरह होनेसे उनमें अव्यवस्था नहीं हो सकती। इसके सिवाय लोकसत्तात्मक पद्धतिकी दिन पर दिन अधिकाधिक विजय होते जानेसे प्रत्येक राष्ट्रको उसके पड़ोसी लोकसत्तात्मक राज्यसे उत्तेजन मिलता है और उसके निवासी अपने राष्ट्रको पड़ोसी राष्ट्रके समान किंबहुना उससे भी अधिक व्यवस्थित बनाना चाहते हैं। और इसलिये वे अपनेही बनाये हुए कानूनोंको अवश्य मानते हैं। इस तरह उस पर यह तीसरा आक्षेप भी नहीं हो सकता।

लोकसत्ता पर राजकीय दृष्टिसे चौथा और अंतिम आक्षेप यह है कि इस राज्यपद्धतिमें स्वार्थसाधक वाचाल (Demagogue) लोगोंको बहुत कुछ अवसर मिलता है। इस आक्षेपका विवरण अधिक देना पड़ेगा। लोकसत्ताक राज्यपद्धति मानव वर्षके इतिहासमें बहुत ही कम स्थानों पर देखनेको मिलती है। और इसलिये ऐसे पुरुषों (D... ...

gue) की कल्पना हमें होना कुछ कठिन बात है। परंतु जब कि पाश्चात्य देशोंकी कल्पना भारतमें आ रही है तब इस प्रकारके व्यक्तिकी कल्पना हो जाना भी आवश्यक है।

कोई भी समाज अथवा राष्ट्र सामुदायिक रीतिसे कितना भी सुशिक्षित हुआ तो भी विचार शक्तिकी दृष्टिसे उसकी व्यक्तियोंमें न्यूनाधिकता होवे होगी। किंबहुना बहुजन समाज साधारण शिक्षितही होगी और इसलिये वह दूसरोंके सिखाये मुताबिकही व्यवहार करेगी। सम्पूर्ण समाज शिक्षणकी एक विशिष्ट कोटितक पहुँच जानेके कारण उसके सन्मुख किसी विषयका विवेचन करने पर उसे समझनेकी शक्ति उसमें होनेपर भी उसकी प्रत्येक व्यक्तिमें स्वतंत्ररूपसे और अपनीही बुद्धिसे उस विषयकी पूर्ण चिकित्सा कर सकनेकी योग्यता होना संभव नहीं है। लोकसत्ताक पद्धतिके कारण प्रत्येक प्रश्नको हल करनेका काम अंशतः प्रत्येक व्यक्तिको करना पड़ता है ऐसी स्थितिमें मत देनेके लिये आवश्यक बातोंका सांगोपांग और रुचिकर रीतिसे जो कोई सर्व साधारणके सन्मुख वर्णन करता है वह उनके आदरका पात्र होता है। लोगोंके आदरका पात्र होनेवाला मनुष्य सुविचारक, प्रत्येक प्रश्नपर गहरा तथा समर्पक रीतिसे विचार करनेवाला और योग्य मतको प्रामाणिकतासे प्रगट करनेवाला होना चाहिये। इस कार्यके लिये उत्तम वक्तृत्वकी बहुत आवश्यकता होती है। परंतु सृष्टिमें यह एक साधारण नियम देखा जाता है कि जो एक गुणमें निपुण होता है वह दूसरे गुणमें हीन होता है। अंधे मनुष्यको स्पर्श ज्ञान अच्छा होता है और गूंगे बहिरेको आंखसे दिखता है। इसी प्रकार गहन विचार करनेवालोंमें वक्तृत्व शक्ति कम होती है। वे अपने विचार केवल लेखनरूपसे ही जगत्‌के सन्मुख रखते हैं। परंतु सुधरे हुए देशोंमें जीवन कलह अधिक होनेके कारण वहांके निवासियोंको अपने निर्वाहके उद्योगोंसे अवकाश बहुत कम मिलता है और इसलिये वे गहन विषयोंके ग्रंथोंका वाचन व मनन नहीं कर पाते जिससे उनका और गहन विचारकोंका विचार विनिमय बहुत ही थोड़े रूपमें हो पाता है। ऐसी स्थितिमें साधारण लोगोंकी भाषामें लोगोंके परिचित उदाहरणोंके और अस्खलित वक्तृत्वशक्तिके द्वारा यदि कोई व्यक्ति अपने विचार प्रगट करे तो उसका अलौकिक परिणाम हुए बिना नहीं रहेगा। क्योंकि दूरी

नहीं है। अपने विचारोंको मूर्तिमान् खड़ा कर श्रोताओंको अपना कहना स्वीकार करानेकी शक्ति वक्ताके सिवाय दूसरेमें शायद ही होती हो। वक्तृत्व शक्तिका यह अपार सामर्थ्य प्राचीनकालसे प्रसिद्ध है। ऋग्वेदमें भी वाक्शक्तिकी प्रशंसामें कहा है कि:—

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि। तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम्॥

अर्थात् वाक्शक्ति चाहे जिस मनुष्यको उग्र, ब्रह्मज्ञ, ऋषितुल्य आदि कर सकती है। समय समय पर धर्म संस्थापकोंने इसी शक्तिकी सहायतासे धर्म प्रसारका कार्य किया है। राजकीय बातोंके संबंधमें इस शक्तिके लिये उपयोगी भूमि लोकसत्ताके समान दूसरी नहीं है। क्योंकि लोकसत्ताके शासनमें लोगोंके अधिकारोंको अपने अनुकूल परिणत करानेकी इच्छासे वक्तामें स्फूर्ति उत्पन्न होती है। जहां लोगोंके हाथमें कुछ सत्ताही नहीं होती वहाँ उनके आगे वक्तृता देनेका हेतु भी क्या हो सकता है?। इसलिये राजसत्ता अथवा अभिजनसत्ताके शासनमें वक्तृत्व शक्तिको बहुत कम अवसर मिलता है। और लोकसत्तामें बहुत अधिक मिलता है। इस अवसरसे काम उठा अगर यदि वक्ता सर्व साधारणको अपने कहनेमें करले तो श्रोतागणके आदरका वह पात्र बन जाता है और सर्व साधारण उसे अनुकरणीय मानकर उसके विचारोंकी चिकित्सा नहीं करते। ऐसी दशामें सर्वसाधारणको उत्तम विचारोंका अनुयायी बनाना जितना संभव है उतनीही किम्बहुना उससे भी अधिक संभावना—मनुष्यके स्वार्थपर स्वभाव पर दृष्टि देनेसे—दुष्ट विचारोंके अनुयायी बनानेकी है। प्रसिद्ध इंग्लिश कवि शेक्सपियरने अपने 'ज्यूलियस सीझर' नामक नाटकमें वक्ताके अपार सामर्थ्यका बड़ा सुंदर चित्र खींचा है। ज्यूलियस सीझरका खून हो जानेपर जब उसका शव दफन करनेके लिये लाया गया तब उसके खून करनेवालोंमेंसे ब्रूटस नामक एक व्यक्तिने सीझरके खूनसे भड़क जानेके कारण इस कृत्यके भले बुरेपनका निर्णय करनेमें असमर्थ लोगोंके सन्मुख एक वक्तृता दी और उसमें बतलाया कि "सीझर अत्यंत महत्वाकांक्षी पुरुष था। वह लोकप्रिय लोकसत्ताक राज्यपद्धतिको तोड़कर स्वयं बादशाह बनना चाहता था। इस लिये लोगोंकी स्वतंत्रताकी रक्षाके अर्थ उसका खून करना हम लोगोंने आवश्यक समझा"। उसके कथनको सुनकर सर्व साधारण "साधु साधु" कहने और इस कृत्यकी प्रशंसा करने लगे। ब्रूटसके बाद

भाषासे बोलना शुरू किया। पहिले तो उसने खून करनेवालोंकी स्तुति कर उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि वह उनके विरुद्ध नहीं बोल रहा है। फिर क्रमशः सीज़रके गुणोंका वह वर्णन करने लगा। उसने सीज़रके अनेक गुणों-का और जनता परके प्रेमका वर्णन उदाहरण सहित करके श्रोताओंकी मनः-स्थिति इतनी उलटी कर दी कि वे सीज़रको एक प्रकारसे परमेश्वरका अव-तार मानने लगे और उसका खून समान नीच काम करनेवालोंको मारकर उनका घर बार जला देने तकको वे तैयार हो गये। श्रोताओंकी यह स्थिति देखकर खूनी लोग वहांसे भाग गये। वक्तामें इस प्रकारकी शक्ति होती है। ग्रीस देशको डेमास्थनिजने और रोमन राष्ट्रको सिसरोने केवल वक्तृत्व शक्तिके कारण ही अपनी मुट्ठीमें कर लिया था। और इसी साधनसे उन्होंने अपने अपने देशमें कर्तव्य जागृति की थी। परन्तु फ्रान्सकी राजक्रांतिके समय डेंटन्, रॉबस्पियर, वगैरह लोगोंने प्रायः प्रजामें खलबली मचानेमें अपनी वक्तृत्व-शक्तिसे सहायता दी थी। इंग्लेण्डमें भी समय समय पर राजकीय, सामा-जिक, औद्योगिक आदि विषयों पर चर्चा करनेके लिये क्लब स्थापन हुए हैं जिनमें वक्तागण उत्तम प्रकारकी वक्तृत्व शक्ति, हाजिरजवाबीपन, लोकमत देखकर भाषण करनेकी समयसूचकता, लोकप्रिय कोटियां, युक्तियां, ढंग आदि गुणोंसे श्रोताओं पर अपना प्रभाव जमाते रहे हैं। इस कारणसे प्रचलित विषय संबंधी सत्यज्ञान और गहन तथा विलोप विचारोंके बदलेमें असत्यज्ञान, उथले विचार, और हेत्वाभास मूलक विचारसरणी, क्षणिक लाभकी आशासे लोगोंमें प्रचलित हो जानेकी आशंका है जिसका फल लोकसत्तात्मक राज्यपद्धतिमें बहुत हानिकारक हो सकता है।

यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। जिस तरह स्वार्थसाधु चापलूस वक्ताओं (Demagogue) के लिये लोकसत्ताक राज्य पद्धति ही सर्वोत्तम भूमि है। उसी तरह ढोंग और धूर्ततासे कीर्ति प्राप्त करनेवालोंके द्वारा नुकसान होनेका अधिक भय इसी पद्धतिमें नहीं है। क्योंकि राजसत्ता अथवा अभिजन सत्तामें वंशपरंपरागत श्रेष्ठताके सिवाय उच्च पद प्राप्त होनेका बहुत कम अवसर रहता है। इसलिये जिसपदकी प्राप्तिकी संभावना बिलकुल नहीं है अथवा बहुत कम है उस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तिसे बदला लेनेकी इच्छा करनेमें और उसके संबंधमें असत्य विचार फैलानेमें महत्वाकांक्षी पुरुषोंका स्वार्थ रहता है। अंगूर न मिलनेपर [illegible]

मनुष्यका स्वभाव होता है। और इस स्वभावके अनुसार अप्राप्य पद या वस्तुकी झूठी सच्ची निंदा करनेकी अतृप्त लोगोंमें उत्तेजनाका होना असंभव नहीं है। ज्यों ज्यों उन्हें अपनी स्थिति असह्य मालूम होने लगती है त्यों त्यों उनके प्रयत्न अधिक जोर पकड़ते हैं परन्तु लोकसत्तामें इससे बिलकुल भिन्न स्थिति होती है। लोकसत्तात्मक स्थितिमें यदि कोई व्यक्ति अपने युक्तिवाद और बुद्धि वैभवसे लोक प्रीतिका पात्र बन जाता है तो आगेपीछे उसे अपने कथनके अनुसार काम करनेके लिये तयार भी रहना पड़ता है। क्योंकि उसे अधिकार मिल जानेपर लोग उसके वचनोंकी याद दिला दिला कर उस मुताबिक कार्य करनेको लाचार करते हैं। यदि उस समय वह अपनी युक्तियों और कोटियोंके अनुसार कार्य नहीं करता तो उसे अपमानके गढ़ेमें प्रजा ढकेल देती है और फिर उसके लिये ' संभावितस्यचाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ' की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिये लोकसत्तामें वास्तविक गुणोंकी और सत्यताकी ही छाप लोगोंपर बैठ सकती है। नकली मालकी कीमत इस बाजारमें कभी नहीं होती या उसका नकलीपन बहुत जल्दी प्रगट हो जाता है। और इस कारण ऐसे नकली लोकनायकोंसे हानिके बदले लाभ ही अधिक होता है। ' निंदकका घर पडोसमें होना चाहिये ' इस उक्तिके अनुसार अधिकारारूढ़ पक्ष अथवा व्यक्तिको उनके अवगुणोंका ज्ञान ऐसे लोक नायकोंके द्वारा हो जाया करता है और उन्हें अपनी भूल सुधारनेका अवसर मिल जाता है। इसके सिवाय साधारण जनतामें भी ज्ञानका प्रचार होता है जिससे वह अपने अधिकारको और उसका प्रतिरोध कौन किस प्रकार करता है इसको जान जाती है। फिर ऐसे नकली लोकनायक एकही पक्षके नहीं होते। भिन्न भिन्न पक्षका समर्थन करनेवाले होते हैं इससे जनताको प्रत्येक पक्षकी बातें सुननेका अवसर मिलता है और उसके निर्णयका मार्ग और अधिक सुगम बन जाता है। इस प्रकार प्रतिस्पर्धियोंके द्वारा रस्ता चलते लोकनायककी तुच्छता दर्शक पदवी प्राप्त करनेवाले इन लोगोंसे भी राष्ट्रका लाभ ही होता है और इस कारण यह आक्षेप भी लोकसत्ताको दोषी नहीं ठहरा सकता।

लोकसत्ता पर राजकीय दृष्टिसे जो स्थूल आक्षेप किये जाते हैं उनका दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। और छोटे मोटे आक्षेपोंका समावेशभी

अब दूसरी दृष्टियोंसे इस पद्धति पर जो आक्षेप किये जाते हैं उनका विचार करना उचित होगा। इस पद्धति पर एक अर्थ शास्त्र विषयक आक्षेप किया जाता है। वह आक्षेप इस प्रकार है कि सब प्रकारकी समता लोकसत्ताका ध्येय है। लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुयायियोंमें एक ऐसा समाजवादी (Socialism) पक्ष है जो मनुष्य-समाजमें सांपत्तिक विषमताको अन्याय मूलक समझता है। इस पक्षका कहना है कि कुछ लोगोंका स्वयं परिश्रम न करते हुए भी वंशपरंपरागत संपत्तिके कारण भोग विलासमें मग्न रहना और कुछ लोगोंका परिश्रम करते हुए भी—और प्रायः सद्गुणी होनेपर भी-सदा दारिद्र्यका दुःख उठाना, अभिजनसत्ताके कारण होनेवाली श्रेष्ठता और अधिकारकी विषमताके समानही अन्यायमूलक है और इस लिये जिस प्रकार राजकीय दृष्टिसे विषमता नष्ट कर देना श्रेयस्कर है उसी प्रकार संपत्तिकी विषमता भी नष्ट कर देना उचित है। इस पक्षका यह भी कहना है कि द्रव्य, सामाजिक वस्तु है इसलिये प्रत्येक व्यक्तिके द्रव्यको अपने अधिकारमें लेकर समाजको चाहिये कि वह समानतासे उसे बाँट दे। व्यवहार दृष्टिसे ऐसा होना कहाँतक शक्य है, इसका विचार क्षणभरके लिये एक ओर रख कर देखना यह है कि लोकसत्ताके शासनकालमें यह विषमता नष्ट होकर समानता स्थायी रीतिसे रह सकती है या नहीं। यदि समानता रहे तो ठीक ही है यदि समानता न रही और अन्यान्य कारणोंसे विषमता उत्पन्न होकर राष्ट्रकी संपत्ति एकही वर्गके हाथमें चली गई तो फिर इस सत्ताको निरुपयोगी माननेमें कोई संदेह नहीं रहेगा। आक्षेपकोंका कहना है कि लोकसत्तात्मक शासनमें भी इस प्रकारकी विषमता फिर उत्पन्न हो सकती है और वह इस प्रकार उत्पन्न होती है कि इस सत्ताके शासनकालमें प्रत्येक व्यक्तिको बुद्धिस्वातंत्र्य और विचारस्वातन्त्र्य होनेके कारण प्रत्येक व्यक्ति नवीन नवीन कल्पनाएँ और आविष्कार जगत्के सम्मुख उपस्थित कर सकती है। मानवीय बुद्धिपर किसी प्रकारका कृत्रिम दबाव जैसा कि अभिजनसत्ता आदिके समयमें रहता है और जिसके कारण गॅलिलियसको पृथ्वी भ्रमणका सिद्धान्त खोजनेके बदलेमें कारागृह भोगना पड़ा था लोकसत्तामें नहीं रहता। इसके सिवाय वर्तमानकाल भी शास्त्रीय सुधारणामें बड़ी शीघ्रतासे आगे बढ़ रहा है। शास्त्रीय ज्ञानकी व्याप्ति भी बहुत अधिक बढ़ती

योग करनेकी और शास्त्रीय शोधका लक्ष्य है और इस लिये जगत्‌में नवीन नवीन शोधोंके कारण यंत्र सामर्थ्य अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है और इस कारण मानवीय श्रमसे किये गये कामकी अपेक्षा यंत्रका काम अधिक व्यवस्थित, कम खर्चका और कामदायक होता है। फल यह होता है कि प्रत्येक धन्देमें व्यक्तिगत कारीगरी कम हो जाती है। और बड़े बड़े कारखाने खुलते हैं। इन कारखानोंमें बहुत कुछ पूँजीकी आवश्यकता होती है। और कारीगरोंको यांत्रिक कौशल्य प्राप्त कर नोकरी करना पड़ती है। इन कारखानोंमें जो लाभ होता है वह पूंजीवालोंको मिलता है और कारीगरोंको केवल नोकरीपर ही संतुष्ट होना पड़ता है। जिससे एक वर्ग फिर धनवान हो जाता है और दूसरा वर्ग निर्धन अवस्थामें ही रहता है। क्योंकि मजदूरोंको लाभमेंसे भाग न मिलनेके कारण और तनख्वाह भी जैसी चाहिये वैसी न बढ़नेके कारण गरिबहीमें रहना पड़ता है। यदि यह क्रम अधिक दिनोंतक रहा तो लोकसत्ता जिस विषमतासे डरती है वही विषमता उसकी स्वतन्त्रताके सिद्धान्तके कारण समाजमें फिर फैल जाती है। और 'विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्' की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

परन्तु यह आक्षेप भ्रमपूर्ण है। अमुक कारणसे अमुक कार्य होता है। ऐसा कहते समय उस कारणका सविस्तर विचार करना उचित है। ऊपर यह विधान किया गया है कि लोकसत्ताके शासनमें भी अभिजनसत्ताके समान संपत्तिकी विषमता उत्पन्न होनेकी संभावना है। सूक्ष्म विचार करने पर यह विदित होगा कि लोकसत्तामें यह संभावना होनेपर भी इस संभावनाको सुधारनेका साधन जो लोकसत्तामें होता है वह अभिजनसत्तामें नहीं होता। यह साधन अनुशासनका अधिकार है। अभिजन सत्तामें जिनके पास संपत्तिका बड़ा हिस्सा होता है उन्हें ही अनुशासनका अधिकार होता है। इसलिये वे उस विषमताको बनाये रखनेमें ही अपने अधिकारोंका उपयोग कर सकते हैं और स्वार्थके अनुरोधसे वे ऐसा करते भी हैं। साधारण जनतामें उस समय वस्तुस्थितिका ज्ञान होने पर भी उसे बदलने योग्य राजकीय सामर्थ्य नहीं होता। इस कारण जनताको अन्याय सहन करते हुए भी चुप रहना पड़ता है। परन्तु लोकसत्तामें अधिकारोंका केन्द्र लोकपक्ष होनेके कारण सांपत्तिक विषमताके बढ़तेही उसे नष्ट

भय लोकसत्ताके समयमें नहीं हो सकता। प्रत्युत उसके नष्ट होनेका ही अव-सर रहता है। जैसे कि किसी कारखानेमें अधिक मुनाफा होने पर और उसमेंसे जनताको भाग न मिलने पर जनता उस कारखानेके माल पर अधिक कर लगा सकेगी। और इस तरहसे कारखानेवालेके अमर्यादित लाभमें प्रतिबंध कर सकेगी। आमदनी परका कर आजकल राष्ट्रकी आयका एक मुख्य भाग बन गया है। इस करकी वृद्धि कर देनेसे कारखानेवालोंके लाभका बहुत बड़ा अंश राष्ट्रकी तिजोरीमें आ पड़ता है। और इस प्रकार अप्रत्यक्षरीतिसे वह सार्वजनिक प्रजाको मिलता है। कुछ वर्षों पहिले इङ्गलैण्डमें लार्ड्स व कामन्स अर्थात् सरदार और प्रजाके झगड़ेके समय वार्षिक बजटमें पड़नेवाली कमी केवल सरदारोंकी आमदनीमेंसे वसूल करनेका जो प्रयत्न किया गया था वह ऊपर कहे हुए प्रजा शासनाधिकारका स्पष्ट-उदाहरण है। तात्पर्य यह है कि लोगोंके हाथोंमें सत्ता होनेसे राष्ट्रमें किसी प्रकारकी अव्यवस्था उत्पन्न होनेपर वह उसका सुधार कर सकते हैं। परन्तु यदि सत्ता हाथमें न हो तो 'सिर पर सांप और दवाई हिमालय पर' कहावतके अनुसार प्रजा निरुपाय हो जाती है। लोकसत्तामें संपत्तिकी विषमताकी रोक हो सकती है और अनियंत्रसत्तामें नहीं हो सकती। इसलिये आक्षेपकोंके कहे अनुसार दुरवस्था लोकसत्तामें नहीं हो सकती और ऐसी अवस्थामें अर्थशास्त्रविषयक यह आक्षेप भी लोकसत्ता पर नहीं आ सकता।

इस पद्धतिपर नैतिक दृष्टिसे दो आक्षेप किये गये हैं। इसमेंसे पहिला आक्षेप टोकेविहल नामक लेखकने अमेरिकाके संयुक्त संस्थानकी लोक-स्थितिका प्रत्यक्ष अवलोकन कर किया है। इस लेखकका मत है कि अनियंत्र-सत्तामें तो अल्प संख्याक लोगोंका हुक्म होता है। परन्तु इस लोक सत्तामें बहु संख्याक लोगोंका हुक्म होता है अर्थात् किसी बातको बहु मतसे अच्छी या बुरी ठहरा देनेपर इस पद्धतिमें उसकी अच्छाई और बुराई उसीसे निश्चित हो जाती है। और फिर उसके विरुद्ध यदि किसीकी सदसद्विवेक बुद्धि कुछ कहना चाहती है तो वह कहना उसके लिये बहुत कठिन हो जाता है। जगत्के व्यवहारोंमें यह अनुभव पद पद पर आता है कि एक अथवा कुछ लोगोंकी इच्छाके अनुसार चलना जितना कठिन है उससे भी अधिक कठिन बहुजन समाजकी इच्छाके अनुसार चलना है। एकका नोकर

एक स्वामीकी अप्रसन्नताका भय नहीं होता । परन्तु लोकापवादका बहुत अधिक भय रहता है । ' यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं नाचरणीयम् नोकरणीयम्' इस उक्तिमें लोकमतका इतना भारी प्रभाव प्रगट किया गया है कि उसके आगे सत्यमतको भी एक ओर रख देना उचित है । तो जब कि अधिकार न होनेकी हालतमें लोकमतकी यह स्थिति है । तो सत्ता मिल जानेपर तो पूछना ही क्या है ! । सुभाषितमें लौकिकाचारके संबंधमें इतनी स्पष्ट आज्ञा दी गई है कि—

यद्यपि स्यात् स्वयं ब्रह्मा, त्रैलोक्याकर्षणक्षमः ।
तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न लंघयेत् ॥

अर्थात् त्रैलोक्यका आकर्षण करनेका सामर्थ्य रखनेवाले ब्रह्माको मनसे भी लौकिकाचारोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिए । सारांश यह है कि लोकसत्ताकी अवस्थामें लौकिकापवादके भयसे अपने निजके मतको दबाकर दूसरोंके मतानुसार चलनेके लिये बाध्य होना पड़ता है । नैतिक दृष्टिसे यह मनुष्यका अधोगमन है । तुकाराम सरीखे साधु अपने आपके लिये और पर्यायसे सर्व साधारणके लिये शुद्धाचरणके सम्बन्धमें इस प्रकार कहते हैं कि

" सत्य असत्यासी मन केलें ग्वाही मानियेले नाहीं लोकमत " अर्थात् सत्य और असत्यका मन जो निर्णय करे वही मानना चाहिए लोकमत नहीं लोकसत्तात्मक राज्य पद्धतिमें इसके विरुद्ध करना पड़ता है । अतएव नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे यह समाज-व्यवस्था सदोष है । इसके कारण जीवनके प्रत्येक व्यवहारके सम्बन्धमें मनुष्यके आत्म स्वातंत्र्य पर दबाव डाला जाता है । यदि कोई पुरुष सिर पर हैट, शरीरमें धोती, पैरोंमें पैजामा पहिनना चाहे तो वह केवल लोक हँसाईके भयसे ऐसा नहीं कर सकता । वास्तवमें देखा जाय तो इस पोशाकमें दोष किसी प्रकारका नहीं है । जिस प्रकार इस पोशाक जैसी तुच्छ बातमें लोकमतका दबाव है उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण बातोंमें भी उसका दबाव रहता है । पारस्परिक शिष्टाचार, ईश्वरोपासना आदि बातोंमें व्यक्तिगत मतोंकाही गला दबाया जाता है । अभिजनसत्ताक पद्धतिमें श्रेष्ठ पुरुषोंके किसी मतसे भिन्नता होनेपर व्यक्ति विशेष अपने अनुकूल मतवाले जनसमुदायमें मिल सकता है । परन्तु सम्पूर्ण समाजके मतके विरुद्ध व्यवहार कर-

है ? इसलिये जिस पद्धतिके कारण इस प्रकार बहुसंख्याक लोगोंका अत्याचार होता है वह पद्धति नीति दृष्ट्या त्याज्य मानी जानी चाहिये।

इस आक्षेपमें वर्णन की हुई स्थिति सर्वांशमें सत्य न होनेपर भी कुछ अंशोंमें सत्य अवश्य है। और वह अपरिहार्य है। जगत्में व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता। बहुजन समाजका मतही मान्य किया जाता है। राजकीय दृष्टिसे देखनेपर भी लोकसत्तात्मक शासन व्यवस्थामें जब दो पक्षोंमें चुनाव की स्पर्द्धा होती है तब पराभव पानेवाले पक्षमें बहुतसे मनुष्योंके होनेपर भी उन्हें निराश होना पड़ता है। और उन सबोंकी इच्छाके विरुद्ध राजकार्य चलाया जाता है। जब कि सम्पूर्ण व्यक्तियोंका मत समान नहीं हो सकता तब बहुमतही राष्ट्रका मत माननेके सिवाय दूसरी गतिही नहीं है। जो तत्त्व राजकीय संबंधमें सत्य है वही समाजके दूसरे व्यवहारोंमें भी सत्य है। यदि प्रत्येक मनुष्य, आचार, विचार, धर्म आदिका स्वेच्छानुकूल व्यवहार करने लगे तो समाजमें किसी प्रकारका निर्बंध नहीं रहेगा। इस लिये बहुजनसमाजके आचरण अथवा मत आदर्श माने गये हैं। प्रत्येक मनुष्यका आचरण स्वातंत्र्य, दूसरे मनुष्योंके आचरण स्वातंत्र्यसे मर्यादित रहता है। एक ग्रंथकारने स्वातंत्र्यकी व्याख्या इसी प्रकार की है। उसने लिखा है कि "दूसरोंके अधिकारोंमें बाधा न हो सके इस प्रकार अपने अधिकारोंका उपभोग करनेकी छूट होना स्वातंत्र्य है"। इस दृष्टिसे दूसरोंका मन जिन बातोंसे दुखे उन्हें करनेका अधिकार किसीको नहीं है।

एक दृष्टिसे ऊपरका आक्षेप किसी अंशमें सत्य मानना पड़ता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या लोकसत्ताके सिवाय दूसरी राज्यपद्धतियों पर इस आक्षेपको करनेका अवसर नहीं। यदि उन पर यह आक्षेप नहीं हो सकता तो वे अवश्य स्वीकार करने योग्य हैं। परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह मालूम होता है कि इस आक्षेपके लिये लोकसत्ताके समानही किंबहुना इससे भी अधिक स्थान दूसरी पद्धतियोंमें भी है। अभिजनसत्तात्मक पद्धतिमें एकसे एक चढ़ती हुई ऊंची श्रेणियां होती हैं। और उन प्रत्येक श्रेणीके लोगोंका एक छोटासा राज्यही होता है। और इन लोगोंका जुल्म अधिक असह्य होता है। गति-शास्त्रका एक ऐसा नियम है कि कोई भी शक्तिका क्षेत्र जितना कम होगा उतनाही उसका परिणाम अधिक होगा। इस नियमके अनुसार सम्पूर्ण

णाम समाजके मर्यादित भागमें होता है। क्योंकि व्यक्तियोंके लिये वही मर्यादित कक्षा होनेसे व्यक्तियाँ उसके बाहिर नहीं जा सकतीं। गुजरातमें कितनीही उपजातियाँ ऐसी हैं जिनकी लोकसंख्या बहुत ही थोड़ी है ऐसी उपजातियोंमें कन्याका धन लेनेकी चाल इतनी त्रासदायक होती है कि उसके कारण तरुणोंका विवाह होना कठिन हो जाता है। और समाजसे बाहिर होनेकी तैयारी न होनेतक नाक पकड़कर लोकमतकी शरण जाना पड़ता है। इसी प्रकार अपनी जातिके सिवाय दूसरी जातियोंमें विवाह न करनेका उन जातियोंमें नियम न होनेसे भी विवाह होना कठिन हो जाता है। परन्तु ऐसी घटनाएं लोकसत्तात्मक पद्धतिके अनुसार चलनेवाली समाजोंमें नहीं हो सकतीं। कुछ वर्षों पहिले युरोपके सरदारोंमें जो रीतियां जोरसे प्रचलित थीं उनको न माननेवाले लोगोंका समाजमें रहना कठिन हो गया था। जैसे कि उस समय यह रीति थी कि यदि कोई किसीका अपमान करे तो उस अपमानका बदला द्वंद्व युद्धसे लिया जाय। और इस कारण इस रीतिसे विरुद्ध व्यक्तिको भी इसीका अनुसरण करना पड़ता था। दूसरी रीति उस समय यूरोपमें जुआ खेलनेके लिये लिया हुआ ऋण चुकानेको पवित्र कर्तव्य माननेकी थी। फिर चाहे वह ऋण चुकानेके लिये लाया हुआ द्रव्य भलेही किसी गरीब व्यापारीको ठगाकर ही क्यों न लाया गया हो। इस तरहका द्रव्य लाना बुरा नहीं माना जाता था। परन्तु जुआका कर्ज न चुकाना नीचताका कारण माना जाता था। इस प्रकार कृत्रिम रीतिसे मानी हुई मानापमान और कर्तव्याकर्तव्यकी जवाबदारीके विरुद्ध होना समाजके मर्यादित भागोंमें अधिक कठिन होनेके कारण सामाजिक मतोंका दबाव ऐसी समाजोंमें ही अधिक होता है। परन्तु लोकमतके परमतसहिष्णु होनेके कारण तथा उसमें भिन्न भिन्न पक्षोंका विस्तृत क्षेत्र होनेके कारण व्यक्तिको दंडका इतना अधिक भय नहीं रहता।

नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे इस पद्धति पर दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि इसके कारण साधारणतया समाजकी नीति, हीन अवस्थाकी ओर जाती है। समाज सदा अच्छे और बुरे मनुष्योंसे बना हुआ होता है। यदि समाजके सब व्यक्ति समान अधिकारके पात्र माने जांय तो सबकी योग्यता समान मानना पड़ती है। और फिर एक नीच मनुष्य भी श्रेष्ठ मनुष्यकी बराबरी

मताकी कल्पनासे नीच मनुष्य तो श्रेष्ठ होते ही नहीं है परन्तु श्रेष्ठ नीच हो जाते हैं। कोई दारू बाज अथवा सजायाफ्ता पुरुष किसी श्रेष्ठ पुरुषके साथ सदा व्यवहार करने लगे तो वह तो श्रेष्ठ पुरुषके समान योग्य हो न सकेगा परन्तु उस श्रेष्ठ पुरुषकी योग्यता अवश्य कम हो जायगी । और इस तरह water finds its lowest level अर्थात् जलके नीचे की ओर जानेके स्वभावानुसार समाज सबसे हीन श्रेणीपर आ पहुँचेगी ।

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है । इस विचार सरणीमें दो दोष है । समाजकी योग्यता किसी एक छोटेसे वर्ग अथवा व्यक्ति विशेष परसे ठहराई नहीं जाती । वह समाजके सर्वसाधारण जनसमूहकी योग्यतापरसे ठहराई जाती है ।

असमानतासे जो सबसे श्रेष्ठ वर्ग होता है उसीपरसे यदि संपूर्ण समाजकी योग्यता ठहराई जाय तो उससे बहुत कुछ भ्रम हो सकता है । यहाँ पर यही गृहीत रखकर विचार करें कि श्रेष्ठ वर्गकी नीति भी श्रेष्ठही होती है । वास्तवमें उनकी नीति श्रेष्ठ है या नहीं इसका विचार पीछे करेंगे । तो यह मानने पर कि श्रेष्ठ वर्गकी नीति श्रेष्ठ है तब समाजको भी श्रेष्ठ माना जाय तो ऐसा मानना उचित और ठीक नहीं होगा । पाश्चात्य राष्ट्र जिस प्रकार कार्नेगी अथवा फोर्डके उत्पन्न हो जानेसे निर्वृत्ति-पर नहीं माने जा सकते । और हिन्दुस्तानमें इतिहास प्रसिद्ध एक दो व्यक्तियोंके व्यवहार कुशल हो जानेसे जिस प्रकार यह प्रवृत्ति-पर नहीं माना जा सकता उसी प्रकार समाजमें थोड़ेसे व्यक्तियोंके योग्य हो जानेसे संपूर्ण समाजकी योग्यता नहीं बढ़ती । प्रत्युत उस श्रेष्ठ वर्गकी योग्यता तक पहुँचनेमें अपनेको असमर्थ माननेवाले हीन वर्गमें नैतिक दृष्टिसे अपनी योग्यता बढ़ानेकी महत्वाकांक्षा स्फुरित होकर फैलने नहीं पाती । और इस प्रकारकी ईर्षाके अभाव तथा निराशाके दबावसे वे अपनेको जन्म सिद्ध हीन मानने लगते हैं । और इसलिये श्रेष्ठ वर्ग द्वारा किये हुए अपमानको वे सहन करते हैं । यह बात समान स्थितिमें रहनेवाली समाजमें नहीं होती । वहां सबके आगे सर्व सामान्य नीतितत्वोंका एकही आदर्श रहता है । और उसके अनुसार चलनेका हरएक प्रयत्न करता है । प्रत्येक

[illegible]

मेंकी संभावनाके कारण अपनी योग्यता बढ़ानेका प्रयत्न करती है। और इस प्रकारकी स्पर्धासे समाज, सामान्य तथा प्रगतिकी ओर गमन करता है।

उक्त विचारसरणीमें यह माना गया था कि अभिजनसत्ताका माना हुआ सर्व श्रेष्ठ वर्ग नीतिमें भी दूसरोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। परन्तु यह नीति कौनसी इसपर विचार करनेसे यह मालूम होगा कि यह त्रिकाला-बाधित नैतिक सत्य नहीं है किन्तु आचारविचार अथवा शिष्टाचारोंके जिन व्यवहारोंको उस श्रेष्ठ समाजमें नीति मानते हैं वह नीति है। सत्य भाषण करना चोरी न करना दूसरोंके धनका अपहरण न करना व्यवहारमें शुद्ध आचरण रखना आदि नैतिक नित्य तत्त्वोंके आचरणमें अभिजन सत्ताका श्रेष्ठ वर्ग कभी श्रेष्ठ नहीं होता। हाँ अदबसे चलने, अधिक न बोलने, ठहराई हुई पद्धतिसे पोशाख पहिरने आदिकी नीतिमें यह अवश्य श्रेष्ठ हुआ करता है। पर इस काल्पनिक नीतिसे समाजका हानि लाभ कुछ विशेष नहीं है। क्योंकि इस प्रकारकी नीति, देश, क्षेत्र और कालपर अवलंबित है। इन तीनोंके बदलनेसे यह भी बदल जाती है। इस प्रकारकी नीति वास्तविक नहीं किन्तु काल्पनिक है। वास्तविक नीतिमत्ता समाजकी सामान्य-सुधारणा, परंपरा और राष्ट्रीय शील पर अवलंबित रहती है और उसमें लोकसत्ताके कारण कभी हीनता आनेकी संभावना नहीं है।

इस पद्धति पर सामाजिक दृष्टिसे भी दो आक्षेप किये जाते हैं। प्रथम आक्षेप यह है कि लोकसत्तामें नवीनता और विचित्रता नहीं रहती। बहुविधता सृष्टिका वास्तविक रूप है। चमत्कारसे प्रत्येक वस्तुमें नवीनता आती है। और इसी कारण "उत्सवप्रियाः मनुष्याः" मनुष्यको उत्सव, नवीनता अथवा चमत्कार प्रिय होते हैं। यही नवीनता न होनेके कारण लोकसत्ताके समयमें समाज वैचित्र्यरहित होता है और फिर निरुत्साही हो जाता है। समाजमें भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंके कारण आचार विचार पोशाक, व्यवहार, आदिमें जो चित्रविचित्रता होती है उसके कारण समाजमें एक प्रकारका उत्साह रहता है। परन्तु यह विचित्रता नष्ट हो जाने और इकरंगीपन आ जानेसे समाज अनुत्साही हो जाती है। परन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि लोकसत्तामें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य होनेके कारण आचार, विचार, पोशाक, व्यवहार आदिमें विचित्रता न होनेपर

मनुष्योंके वर्णपरसे आचार, विचार, पोषाक, भाषण आदिका अनुमान किया जा सकता है। परन्तु अमेरिका सरीखे प्रजासत्ताक राज्यमें यह नहीं कहा जा सकता कि इन बातोंमें कब किस प्रकारकी विविधता दृष्टिगत होगी। अभिजनसत्ताकी समाज रचना राजाके उपवनके समान है। वह निश्चित नमूने पर बने हुए होनेके कारण उसकी वाटिकाएं, कुंज, पुष्करिणी आदि भी निश्चित पद्धतिसे बनी हुई होती हैं। एक बार इस प्रकारका बाग देख लेने पर फिर अनेक राजाओंके बाग देखे हुए से हो जाते हैं। परन्तु हिमालयकी तलहटीके जंगलमें अथवा मलबार प्रदेशके वनोंमें गगन चुंबित वृक्ष, योजनों तक फली हुई पुष्प वाटिकाएँ, अदृष्टपूर्व वनस्पति, उच्च पर्वत-श्रेणीके ऊपरसे गिरनेवाले जल प्रपात, हिमाच्छादित शिखर आदि सृष्टिसौंदर्य जिस प्रकार राजाओंके उपवनोंमें नहीं होता उसी प्रकार व्यक्तिस्वातंत्र्यके क्रीडाङ्गणमें होनेवाले मानवीय बुद्धिके स्वतंत्र नृत्यकी समानता, ठहराये हुए नियमों और नमूनोंके हुक्म पर नाचनेवाली कृत्रिम बुद्धि कभी नहीं कर सकती। इसलिये वास्तविक विविधता लोकसत्तामेंही हो सकती है।

इस पद्धति पर अंतिम आक्षेप यह है कि इसमें प्रत्येक मनुष्यका लक्ष स्वहितकी ओर ही अधिक रहेगा क्योंकि ऐसी समाजमें भिन्न वर्ग न होनेसे उन वर्गोंका कोई एक निश्चित हित न रहेगा। और ऐसी स्थितिमें "सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयंति" की नीतिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य द्रव्योपार्जनमें ही आसक्त हो जायगा। जिसके कारण सर्वगुणसंपन्नता अथवा सुसंस्कृति (Culture) की अभिवृद्धि न हो सकेगी। ललितकला, काव्य-शास्त्र आदिको सरदार और धनी लोगोंका आश्रय होता है। लोकसत्तामें इन लोगोंका अभाव होनेके कारण इन कलाओंकी वृद्धि भी न हो सकेगी। औरंगजेब बादशाहके समयमें गायनकला लुप्त होनेकी स्थितिमें आगई थी। क्योंकि बादशाहका सर्व लक्ष राज्य कारस्थानोंकी ओर रहता था और उसकी मानसिक प्रवृत्ति भी इसके विरुद्ध थी। गायनकलाकी यह स्थिति देख उसकी ओर बादशाहकी अभिरुचि उत्पन्न करनेके लिये गायनकलाके प्रेमियोंने बादशाहके महलोंमें जहां बादशाह अर्जियां सुनते थे वहाँ एक मुर्देकी ठठरीसी बनाकर ले गये। और उसके साथ बड़े बड़े सरदार, उमराव, गवैये आदि गये। बादशाहकी इस ओर नजर पड़ते ही बादशाहने पूछा कि यह क्या

राज्यमें भूँखे मरनेके कारण गायनकला मर गई है। बादशाह भी उस्ताद था। उसने उत्तर दिया कि यदि वह मर गई है तो उसे गहरा गड्ढा खोदकर गाड़ दो जिससे वह फिर न जीसके। सारांश यह है कि जिस प्रकार औरंगजेबके शासनकालमें गायनकलाकी अवस्था हुई वही दशा लोकसत्तात्मक पेट सक शासनमें होनेकी सम्भावना है। शेक्सपियर सरीखे पाश्चात्य कवि और कालिदास सरीखे भारतीय कवि व तानसेन सरीखे गवैये वगैरह गुणी लोग बिना राजा और सरदारोंके उदयमें नहीं आते।

यदि सुसंस्कृतिकी चिन्हस्वरूप कलाओंको धनिक और श्रेष्ठ मनुष्योंके मनोविनोदकारी आधार होता तो यह आक्षेप लोकसत्तापर किया जा सकता था परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यद्यपि धनिक और श्रेष्ठ पुरुषोंके मनोविनोदसे कलाओंकी उन्नतिमें सहायता होती है तो भी उनकी उत्पत्तिका मुख्य आधार मनुष्यस्वभावमें ही समाया हुआ है। ऐसे मनुष्य कितने मिलेंगे जिन्हें गायनकला जन्मसे ही प्रिय न हो और जो सुन्दर चित्र देखकर प्रसन्न न होते हों। कविने कहा है कि " केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय " अर्थात्—ऐसे कितने हैं जिनके कौतुककी कविता कामिनी पात्र नहीं है तो जब कि कलाओंकी अभिरुचिका बीज मनःस्वभावमें ही समाया हुआ है तो जिस स्थितिमें मनुष्यको पूर्ण मतस्वातन्त्र्य और कृतिस्वातन्त्र्य होता है उस स्थितिमें उन कलाओंको सहायता न मिलनेकी सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है ?। यह बात भी नहीं है कि लोकसत्तामें गुणोंके उत्कर्षके द्वारा लोकाश्रय प्राप्त करनेका अवसर न मिलता हो। यद्यपि यह ठीक है कि लोकसत्तामें धनी, गरीब, छोटे बड़े सब पर अपने अपने धन्धे करनेका भार रहता है। तो भी सबको समान रीतिसे ही करना पड़ता हो, यह बात नहीं है। उसमें भी मापतिक दृष्टिसे न्यूनाधिकता रहेगी ही। लोकसत्तामें श्रीमन्तोंके लिये कानूनन ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं होता कि वे कलाओंको आश्रय न दें। अमेरिकामें इसके उदाहरण मिलते ही हैं। इसके सिवाय अभिजन सत्ताके धनिकोंका उदाहरण लोकसत्तात्मक शासनकी छायामें रहनेवाले धनिकोंके आगे रहनेके कारण उनमें भी स्फूर्ति उत्पन्न हो सकती है। अमेरिकामें तो कलाओंके सांगोपांग अध्ययनके लिये विद्यालय तक हैं। अतएव इस दृष्टिसे भी लोकसत्ता आक्षेप [illegible] नहीं ठहर सकती।

इस प्रकार लोकसत्तात्मक पद्धति पर जितने प्रकारके आक्षेप भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे किये जा सकते हैं उनकी परीक्षा कर लेने पर यह सिद्ध होता है कि यह पद्धति राज्य शासन और समाज व्यवस्थाकी दूसरी सब पद्धतियोंसे श्रेष्ठ है । गत द्वितीय परिच्छेदमें सुधारणाके जो तत्त्व प्रतिपादित किये हैं उन तत्त्वोंके अनुसार ही लोकसत्ताका उद्गम होनेके कारण शास्त्रीय रीतिसे भी यह पद्धति दूसरी सब पद्धतियोंसे उच्च ठहरती है । क्योंकि सुधारणाका मुख्य चिन्ह जो व्यक्तिस्वातंत्र्य माना गया है, उसका प्रकटीकरण इसी पद्धतिमे सबसे अधिक होता है । जिस प्रकार अपने स्वतःके मार्गसे उन्नति करनेका अवसर देनेवाला धर्म, व्यक्तिस्वातंत्र्यकी दृष्टिसे श्रेष्ठ माना जा सकता है और व्यक्तिको पूर्ण आचार-स्वातंत्र्य देनेवाली व्यवस्था जिस प्रकार समाज रचनाकी दृष्टिसे श्रेष्ठ कही जाती है उसी प्रकार राज्य कारबारमें भी जिस पद्धतिके द्वारा वैयक्तिक मतका प्रतिबिंब अनियमित रीतिसे राज्य व्यवस्था पर डाला जा सकता है वह पद्धति सर्व श्रेष्ठ मानी जाने योग्य है । और यह काम अभिजन सत्ताकी अपेक्षा लोकसत्तामें अधिक है । इसलिये वही सर्व श्रेष्ठ है । शारीरिक, मानसिक, सांपत्तिक, धार्मिक आदि किसी भी विषयमें बाह्य उपाधिका विरोधही उन्नतिके लिये प्रतिबंधक होता है । इस विरोधके नष्ट हो जाने पर मानवीय प्रगतिकी वृद्धि झपाटेसे होती है । सृष्टिके स्वभाव-धर्मकी उपाधि और समाजके बहुमतकी उपाधियां कुछ भी हुआ तो भी सदा रहेंगी । परन्तु इन अपरिहार्य उपाधियोंके सिवाय अन्य कृत्रिम उपाधियोंका न रहना ही प्रगतिकी दृष्टिसे अधिक हितकर है । इस प्रकार चारों ओरसे विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मानवीय आयुष्यका श्रेयः साधन कर देनेवाली लोकसत्ताक पद्धतिही सब पद्धतियोंमे श्रेष्ठ है ।

एडमंड बर्कने अनुशासन करनेवाली सर्वोत्तम राज्यपद्धतिके स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया है कि

" उत्तम राज्यव्यवस्था तात्कालिक और नश्वर कामकी प्राप्तिके अर्थ की हुई भागीदारी नहीं होती किंतु भौतिक शास्त्र, कलाकौशल्य, सद्गुणोंका विकास आदिके पूर्णत्वके लिये वह एकत्रित देवघबुत्वके समान है " * राज्यव्यवस्थाकी इस कसोटीपर लोकसत्तात्मक पद्धतिही ठहर सकती है । अतः यही पद्धति सर्व श्रेष्ठ है ।

---

* A state is not a partnership in things subservient only to the gross animal existence of a temporary and perishable nature, but a partnership in all sciences, in all arts, in every virtue and in all perfection.
Burke.

चतुर्थ परिच्छेद ।

उपसंहार ।



प्रकरण पहिला ।

पूर्व वृत्त ।



संस्कृति शास्त्रके तत्त्व खोजनेके लिये कौनसे प्रमाण माने जाते हैं और उनमेंसे सत्य प्रमाण कौनसे हैं ? इनका विचार करनेके बाद सुधारणरूपी साध्य की मीमांसा की गई । और उसमें उस साध्यका लक्षण, उस तक पहुँचनेके उपाय, मार्गके विघ्न और विघ्नोंको दूर करनेकी रीतिका विवेचन किया गया । इसके पश्चात् निश्चित की हुई तत्त्वमीमांसाके अनुसार मनुष्य मात्रकी सर्वांगीण कृतिकी परीक्षा कर उस कृतिके भिन्न भिन्न व्यवसायों और व्यवहारोंमें उस तत्त्वका पालन कहाँ तक और किस प्रकार होता है इसका भी सूक्ष्म अवलोकन उन व्यवसायोंकी चिकित्सा द्वारा किया गया और इस प्रकार संस्कृति शास्त्रके जो प्रमेय शास्त्रीय रीतिसे सिद्ध ठहरे उनका अभ्यास किया गया ।

परन्तु इसके साथही इतर मीमांसकोंके इस विषय संबंधी प्रमेय कौनसे हैं ? यह जान लेनेसे तुलनात्मक रीतिसे अपने सिद्धान्तोंके निरीक्षणमें सुभीता हो जायगा । तथा पहिलेके विवेचकोंने अपने अपने मतानुसार जो सिद्धान्त निश्चित किये हैं वे कौनसे तत्त्व पर किये हैं इसका अवलोकन कर लेनेसे यह भी मालूम हो जायगा कि वे तत्त्व ठीकहैं या नहीं । और यदि ठीक नहीं है तो क्यों नहीं है ? । और इस प्रकारके विवेचनसे अपनी विचार परंपरामें जो भूल होगी उसे दूर करना सुलभ होगा । इस लिये यहाँ सुधारणा शास्त्रके पूर्व वृत्त पर विचार किया जाता है ।

किसी भी देश, समाज, राष्ट्र अथवा संस्थाका इतिहास लिखनेवाले बहुतसे हुआ करते हैं। परन्तु केवल गत घटनाओंका उल्लेख और रसीली बातें लिख देनेसे तत्त्व विवेचनके कार्यमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती। बिना गत घटनाओंकी जड़में रहनेवाले तत्त्वको निकाले केवल घटनाओंका उल्लेख कर भावी पीढ़ीको कोई पाठ नहीं सिखलाया जा सकता। लोगोंको बुखार आता है, सिर दुखता है, पेटमें दर्द है आदि रोगोंकी केवल सूची परसे औषधिकी योजना नहीं की जा सकती। बिना रोगीका निदान किये और यह जाने कि बुखार उष्णताका है या शीत का है, दोषी है, अथवा सादा है, चिकित्सा करना निरुपयोगी ही नहीं किंतु कभी कभी हानिकारक भी हो जाता है। वकालतके धंधेमें दोनो पक्षकारोंकी ओरसे सुबूत दिया जाता है। उसमें अपनी अपनी बाजूको सिद्ध करनेकी एक प्रकारकी विचार दृष्टि हुआ करती है। उस दृष्टिसे सुबूतका अवलोकन न करनेसे उन सुबूतोंकी संगति ही नहीं बैठती। और मामलेका निर्णय भी दुष्कर हो जाता है। उसी प्रकार इतिहासकी गत घटनाओंकी चिकित्सा भी किसी न किसी तत्त्वके अनुरोधसे ही करना पड़ती है। अतएव उस तत्त्वके अनुसार सब बातोंकी परस्परमें संगति बिठलाना चाहिये।

इस प्रकार आज तक संस्कृति शास्त्रकी चिकित्सा भिन्न भिन्न ओरसे विवेचकोंने की है, उनके मतोंका अब अपन विचार करें। इन विवेचकोंमें कोंटही मुख्य है। इसकी जनता-धर्म और समाज रचना संबंधी कल्पनाका सविस्तर वर्णन गत प्रकरणमें किया जा चुका है। इसने जनताके चैतन्ययुक्त पुरुषत्वको सुधारणाका आद्य तत्त्व और उसकी गुरु-किल्ली बतलाया है। भौतिक शास्त्रकी प्रगतिकी उत्कृष्ट मीमांसा करके धर्म कल्पना की उत्क्रांतिसे उसका संबंध क्या है? इसका इस विद्वानने सुंदर विवेचन किया है। साथमें यह भी दिखलाया है कि धार्मिक कल्पनाओंपर समाजके उच्च, नीच उपविभागोंकी रचना किस प्रकार अवलंबित है। परन्तु इस विद्वानका मुख्य दोष यह है कि इसने अधिभौतिक तत्त्वोंको अवास्तविक महत्त्व दिया है। आधिभौतिक विचार सरणीकी दौड़ किस प्रकार मर्यादित है? और उस विचारसरणीको ही धर्मत्व देनेके प्रयत्नमें यह किस प्रकार असफल हुआ है? यह देख आये हैं। जगत्का आदि कारण कौनसा हो सकता है? उसमें आवश्यक गुण, धर्म है या नहीं? मनुष्यकी स्थूल व सूक्ष्म देहके

सिवाय कोई अविनाशी तत्त्व है या नहीं, इन बातोंका कैंटने जो विचार किया है वह सदोष और अपूर्ण है ? और इस कारण वह यह न दिखला-सका कि धर्म तत्त्वोंसे तत्त्वज्ञानकी उन्नति किस प्रकार कराती है। इसी प्रकार आधिभौतिक बातोंको अधिक महत्त्व देते हुए, इसने आधिभौतिक परिस्थिति का विचार कैसा करना चाहिये या नहीं किया। और इस कारण कैंट यह न बतला सका कि आदर्श तक पहुँचनेमें समाजकी वर्तमान परिस्थिति किस प्रकार आड़ी आती है। और उसे किस तरह दूर करना चाहिये। क्योंकि उसके कह देने पहले ही तो कोई बात हो ही नहीं सकती। व्यापकताको भी देखना चाहिये। और इस कारणसे कैंट, धर्म, राजकारण, समाज रचना आदि मानवीय व्यवसायों में एकही तत्त्वका आविष्करण किस प्रकार होता है, यह स्पष्ट दिखला कर उनकी आपसमें संगति नहीं मिला सका। यद्यपि इसने मानसशास्त्रके नियमोंका बहुत कुछ उपयोग किया था, परन्तु अब तक उसे समझमें न आनेके कारण मनुष्यका मन, जनताके समान सदोष, अपूर्ण और विसंगत कल्पनाको देवता मान कर उसकी उपासना किस प्रकार करने लगता ? इसकी व्याख्या उसे नहीं हुई। सारांश यह है कि यद्यपि कैंटने सुधारणा शास्त्रके कुछ नियमोंके द्वारा मनुष्य जातिकी गति, स्थितिकी चिकित्सा करनेका उपक्रम कर देनेका पहिला मान प्राप्त किया तो भी अपनी विचार शृंखलाकी सब कड़ियोंको परस्परमें न जोड़ सकनेके कारण उसका उपक्रम अपूर्ण ही रहा।

इसके बाद गिजो नामक तत्त्ववेत्ता प्रवर है। इसने अपने सुधारणाके इतिहासमें भिन्न भिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजकीय संस्थाओंका वर्णन बड़े मजेका किया है। और इन संस्थाओंके परस्परमें होनेवाले घात प्रत्याघातका परिणाम सुधारणा पर किस प्रकार होता है ? यह इसने अनेक उदाहरणोंसे सिद्ध किया है। रोमकी सत्ताका नाश हो जानेपर, जिन्हें जंगली (Barbarians) कहते हैं उन जर्मनोंके पूर्वजोंके द्वारा रोम साम्राज्यके अनेक प्रदेश पादाक्रान्त करनेकी घटनासे आरम्भ कर रोमन धर्मसंस्था, रोमन नगर रचना, रोमन राज्य-व्यवस्था, रोमन समाज रचना, वगैरहके इतिहासके अनुक्रमसे इसने यह दिखलाया है कि, इन संस्थाओंका रूपांतर आगेके कालमें किस प्रकार और क्यों हुआ ? तथा कालान्तरमें वह क्रम भी बदलकर "फ्यूडलिज्म"का उदय किस प्रकार हुआ और फिर वही पद्धति भिन्न भि-

चंचक राजसत्तामें किस प्रकार परिणत हुई। तथा धर्मके संबंधमें केवल आचार भाग पर ही सब आधार रख लेने और धर्मके वास्तविक तत्त्व भूल जानेसे ईसाई धर्मकी अवनति किस प्रकार हुई? और उसके कारण ल्यूथरको धर्म सुधारणाका अवसर किस प्रकार मिला इसका भी उसने विवेचन किया है। परन्तु ये रूपांतर जिन तत्त्वोंके कारण हुए उन तत्त्वोंका गिज़ोने स्वतंत्ररूपसे विवेचन नहीं किया। जिस प्रकार किसी पदार्थ संग्रहालयमें असंख्य पदार्थोंको लाकर वर्गीकरण पूर्वक रख लेने पर भी यदि उनके वर्गीकरणके तत्त्वोंका उल्लेख न किया जाय तो उससे प्रेक्षकोंको जो ज्ञान प्राप्त होना चाहिये वह नहीं होता उसी प्रकार गिज़ोके इतिहासकी स्थिति हुई है। इसने यद्यपि सुधारणाका इतिहास लिखा परन्तु तत्त्वनिर्णय नहीं किया। हाँ इसके लेखनसे इतना काम अवश्य हुआ कि तत्त्व निर्णय करनेके योग्य सामग्रीका बहुत कुछ संग्रह हो गया।

गिज़ोके ही समान 'बकल' नामक विद्वानने भी एक सुधारणाका इतिहास लिखा है। इसमें इसने गिज़ोकी कमी दूर करदी है। इसने आधिभौतिक शास्त्रकी प्रगतिको सुधारणाका नियामक तत्त्व मान कर अपने इतिहासमें तत्त्व चिकित्सा की है। इसके विवेचनमें यह विशेषता है कि उक्त दोनों लेखक अपने विवेचनमें जो पौर्वात्य देशोंको भूल गये थे वह यह नहीं भूला और अपने मतानुसार उनकी स्थितिका भी इसने विचार किया है। और इसी लिये यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसने पौर्वात्य देशोंको असंस्कृत-बिन सुधरे हुए-ही माना है। इसका मत है कि अवश्य पंच महाभूतोंसे दर दर ही पौर्वात्योंने इनका दासत्व अथवा इनकी सेवा करना स्वीकार किया। और इसी कारण पौर्वात्योंकी धार्मिक विचारसरणीमें पंचमहाभूतोंको देवस्थान प्राप्त हुआ। हिन्दुस्थानमें जो वर्षाके लिये यज्ञ करनेवाले, पृथ्वीकी पूजा करनेवाले और नदियोंको देव मानकर उनकी भक्ति करनेवाले लोग हैं वे सृष्टिके रूपसे डरे हुए हैं, यह बकलका मत है। वह कहता है कि उनके इस धर्म विश्वासके अनुसार इस सृष्टिके वासल्यका परिणाम उनकी परिस्थिति पर भी हुआ। पाश्चात्योंसे संसर्ग होनेके पहिले सुधारणाके साहित्यसे भारतवासी अपरिचित थे। रेलगाड़ी, तार, टेलिफोन आदि सुखकी वृद्धि करनेवाले साधनोंका उन्हें ज्ञान न होनेके कारण वे सुधारणाकी सीढ़ी पर चढ़ न सके। पाश्चात्योंने इसके विरुद्ध किया। उन्होंने पंचमहाभूतोंको अपना दास समझा उनकी

सेवा करनेके बदले उनसे अपनी सेवा करवाई। इस कारण वे युद्धके सब साधनोंको प्राप्त कर सके और सुधारणा उनके हाथकी कठपुतली बन गई। धर्मांधता और लोकभ्रम नष्ट हो गया। आर्थिक संपत्ति बढ़ गई। राजनीतिका सुधार हुआ। और इस प्रकार उन्हें श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त हुई। यही तत्त्व बकलने इतिहासके सब प्रसंगो पर घटाकर सुधारणाका विवेचन किया है।

इस विचारसरणीकी भूल आधिभौतिकवादियोंके *प्रमाण*—प्रकरणमें दिखा दीगई है कि भौतिक शास्त्र परिमित हैं, सूक्ष्मरूप मन और उसकी शक्ति स्थितिका वे अनुमान भी नही कर सकते। और मानस शास्त्रके अभ्यासके सिवाय धर्म, राजनीति आदि मानवीय व्यापारोंके प्रेरक हेतुओंका बोध नहीं होता। और यह सिद्धान्त अब प्रायः निश्चित हो गये हैं। परन्तु बकलकी दृष्टि इतनी संकुचित हो गई है कि बाह्य मानवीय व्यवहारोंके इन सब अंगोंको अनावश्यक ही नहीं किंतु अहितकारक समझता है। जिस धर्मके कारण चित्तको शांति प्राप्त होती है और मनुष्यकी निरंतर श्रम शमन करनेवाली मनोवृत्तिको विश्रान्ति मिलती है उस धर्मको बकल, शुद्ध चित्तभ्रम राजकारण संबंधी श्रेष्ठ नैतिक तत्त्वोको यह मनुष्यजातिकी मूर्खता और उस मूर्खताको सुधारनेके लिये की हुई भूलके सिवाय दूसरा विशेषण ही नहीं देता। और साहित्यको तो वह " लोगोंकी विद्या भूल होनेके लिये कुछ लोगों द्वारा रचा हुआ वर्णन " समझता है। उसका कहना है कि " नीतिशास्त्रसे जगत्‌के कामकी अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। क्योंकि इस शास्त्रका आधार लेकर धार्मिक और राजकीय बातोंमें दखलदी लोगोंको अवास्तविक महत्त्व प्राप्त हो जाता है और उनके मतका जनता पर प्रतिकूल परिणाम होता है " इस लिये उसका स्पष्ट मत है कि जगतमें भौतिक शास्त्रही सुधारणाकी कुंजी है। भला इतनी विपक्षय दृष्टिवाले मनुष्यको जगतकी वस्तु स्थितिका और उसके अंतर्यामी तत्त्वोंका सत्यज्ञान न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

इसके पश्चात् संस्कृतिशास्त्रकी मीमांसा कारलाइलने की है। इसने भी सुधारणाके नियामक तत्त्वको खोजनेका यत्न किया है। इसका निर्णय बकलसे बिलकुल उलटा है। इन दोनोंके निर्णयमें उत्तर ध्रुव और दक्षिणध्रुवके समान भेद है। कारलाईलके मतानुसार सृष्टिका आधिभौतिक स्वरूप सत्य वस्तुपर किया हुआ मुलम्मा है। यह केवल बाह्यवेष है। मनुष्य शरीरपरके कपड़े जिस प्रकार मनुष्य नहीं हैं उसी प्रकार जगत्‌का अनुभवमें आनेवाला

रूप भी सत्य नहीं है। मनुष्य देहसे भेरकवस्तु दूसरी ही है जो कि आत्मा है। यही सत्य सत्य है। उसके जगत्की उपाधिमें पड़नेके कारण ही उसको यह बाह्यरूप प्राप्त हुआ है। इस प्रकार कार्लाइलने जगत्की सुन्दर मीमांसा अपने " सार्टर रिसार्टस " नामक ग्रंथमें की है। और अपने ग्रंथका विनोद-रूपसे उसने उपनाम " कपड़ेकी नीति मीमांसा " रखा है। इसके मत, आर्यतत्त्व ज्ञानके वेदान्त मतसे बहुत कुछ मिलते हैं। इसके मतसे बिना शरीर-धारणरूप उपाधिके आत्मतत्त्व प्रकट नहीं हो सकनेके कारण वह विभूति-रूपसे सबसे अधिक शुद्ध स्थितिमें व्यक्त होता है। और उस विभूतिके अव-लंबनसे ही समाज, सुधारणाके मार्गमें आ सकता है। उसकी इस श्रेष्ठ पुरु-षोंकी कल्पनामें बकलके भौतिकशास्त्रके पंडितोंको स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु लूथर, महम्मद, दांटे, सरीखे अध्यात्म तेजसे प्रकाशित और जग-तकी दिखावदार चाँचलीको छोड़कर आत्मतत्त्वकी नित्य ज्योतिकी ओर एकाग्र चित्त लगानेवाले वैराग्यवान् पुरुषोंको ही स्थान दिया है।

मानवीय आयुष्यके अंतिम साध्यकी दृष्टिसे कार्लाइलकी मीमांसा अनुपम है। परन्तु प्रत्येक मनुष्यमें अंतरीक्षमें स्वैरसंचार करनेवाले गरुड़पक्षीके समान अध्यात्मके विस्तृत आकाशमें स्वच्छंद उड़नेका मानसिक अथवा नैतिक सामर्थ्य नहीं होता। जगत्में प्राय. मनुष्य पाँवोंमें घुंघरू पहिरे हुए कबूत-रके समान परिस्थितिकी शृंखलासे जकड़े हुए हैं। और ऐसे ही बहुतसे लोगोंका समुदाय समाज होती है। इसलिये ऐहिक सुधारणाकी दृष्टिसे कार्लाइलकी मीमांसामें अपूर्णता रह गई है। जगत्में कौटुम्बिक, आर्थिक सामाजिक, राजकीय वगैरह अनेक प्रकारके संबंध मनुष्यके रहते हैं; परन्तु कार्लाइलने इन संबंधोंके परिणामकी चिकित्सा विशेष रीतिसे नहीं की। और न आधिभौतिक व अध्यात्मके संबंधकी तथा एकमेंसे दूसरेके मार्गमें जानेकी ही उसने मीमांसा की है। बकलने संस्कृतिशास्त्रकी सबसे नीची सीढ़ीकी मीमांसा की है और कार्लाइलने सबसे ऊंची सीढ़ीकी की है और इसी लिये दोनोंकी ही अपूर्ण हुई है।

यह अपूर्णता दूर करनेका हर्बर्ट स्पेन्सरने बहुत बड़ा प्रयत्न किया है। इसने विश्वके संपूर्ण पदार्थोंकी सर्व कालीन गतिस्थितिका यथार्थविवेचन करनेकी असीम महत्त्वाकांक्षा की है और अपने System of Phulosophy तत्त्वज्ञानपद्धति नामक शास्त्रमें उसका विवेचन उत्क्रान्ति तत्त्वकी प्रणालीसे

किया है । इस तत्वके कुछ सूत्रोंका पहिले विवेचन किया जा चुका है। उनकी पुनरुक्ति करनेका कोई प्रयोजन नहीं है । इनके मतसे सृष्टिके सम्पूर्ण कोटिके पदार्थोंकी गति स्थिति उत्क्रान्तिके एकही तत्वसे होती है । हजारों-प्रकारकी वनस्पतियाँ, कृमिकीटकादि क्षुद्र जीव उनसे हाथी घोडे आदि अधिक सामर्थ्यवाले जीव और अंतमें बुद्धि विशिष्ट मानवजाति इन सबकी गति उस उत्क्रान्तिरूप एकही तत्वके अनुसार होती है । एक विशिष्टरूपसे अनेक विधरूप होना, अनिश्चितका निश्चित होना, असंबद्धका संबद्ध होना उत्क्रांति तत्वका ही फल है । जीवनरसयुक्त अंडेका इंद्रियाऽवयव युक्त पक्षी होना, घांसके समान सीधा सरलरूप धारण करनेवाले जंतुका पंख, पांव, आँख आदि अवयवोंयुक्त पतंग बनजाना बन्दरकी विरूपता नष्ट होकर सुन्दररूपका मनुष्य होना, उत्क्रांति तत्वकाही खेल है । इससे आगे जंगलमें पशु समान पृथक् रूपसे रहनेवाले मनुष्योंका स्वार्थ सिद्ध बनकर एक एक कुटुम्ब होना, फिर अनेक कुटुम्बोंका मिलकर एक वर्ग (tribe) बनना अनेक वर्गोंके एकी-करणसे राष्ट्र अथवा समाज होना उत्क्रांति तत्वका ही फल है। इस प्रकार एकविधतासे अनेक विधता ही अनुभवमें आती है । यह स्पेन्सरकी मीमां-साका संक्षिप्त दिग्दर्शन है । इसने मानवसमाजकी आर्थिक उत्क्रांतिको अपने उत्क्रान्ति तत्वका एक भाग माननेके कारण उसका स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है । और इस कारण मानवीय-व्यवसायके अतर्गत तत्व कौनसे हैं। और कौनसे तत्वोंसे समाज-धर्म अथवा राष्ट्रकी रचना होती है, और उन-मेंसे कौनसे तत्व वास्तविक और कौनसे अवास्तविक हैं, इसका स्पेन्सरने विचार ही नहीं किया है । मनुष्य प्राणीकी कृति सदा सहेतुक होती है और समाजमें उसका व्यवहार भी कुछ न कुछ विशेष हेतुओंसे प्रेरित हुआ करता है इसलिये उन हेतुओंका फल, आचरणसे मिलेगा अथवा नहीं इसका विचार समाज-चिकित्सामें अवश्य होना चाहिये । और यह विचार न होनेके कारण स्पेन्सरकी विचार प्रणाली महत्वपूर्ण होनेपर भी व्यवहारिक दृष्टिसे निष्फल है, यही कहना होगा ।

स्पेन्सरके विचारमें एक और दोष दिखलाई पड़ता है वह यह कि स्पेन्सरकी मीमांसा केवल स्थूल सृष्टिसे ही संबंध रखने वाली है और दृश्य अथवा स्थूल वस्तुकी उत्क्रान्ति किस प्रकार होती है ? यही बतलानेका उसने यत्न किया हैं। इस कारण सूक्ष्म सृष्टि और अतीन्द्रिय वस्तुओंके संबंधमें स्पेन्सरके विचारोंसे

कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यह कमी दूर करनेका जर्मनीके हेगेल नामक तत्त्ववेत्ताने प्रयत्न किया है। इसने सृष्टिके स्थूल रूपकी ओर न देख केवल मनः सृष्टि और विचारसृष्टिका ही विवेचन किया है। तो भी इन दोनोंमें अपूर्व विचार-साम्य है। उत्क्रान्तिके जिन तत्त्वोंको स्पेन्सरने स्थूल सृष्टिपर घटाया है वे ही हेगेलकी विचार सृष्टिमें भी अनुभवमें आते हैं। स्थूलके सूक्ष्म होने, सीधेके टेढ़ेतिरछे होने और विसंगतके सुसंगत होनेके तत्त्वको ही हेगेलने भी प्रमाण माना है। अंतर केवल इतनाही है कि हेगेल मानसिक विचारोंको सृष्टिका आविष्कार मानता है।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्म करोति।
" यत्कर्म करोति तत्फलेन अभिसम्पद्यते "।

अर्थात् " मनुष्य मनसे जो विचार करता है वही वाणीसे बोलता है। और जो वाणीसे बोलता है वैसा ही कर्म करता है और जो कर्म करता है उसीका फलरूपसे अनुभव करता है। हेगेलका भी यही सिद्धान्त है। और इसलिये न केवल मनुष्य कृतिकी ही किन्तु स्थूल सृष्टिके रूपकी जड़ भी उसने विचार शक्तिको ही माना है। जिस प्रकार केवल नेत्रोंसे अव्यक्त रूपसे दिखलाई देनेवाला तारक समूह, दूरबीनकी सहायतासे मनुष्यकी विचार शक्तिके उद्दीपित हो जाने पर व्यक्त और अनेकविध दिखने लगता है और इसमें मनुष्यके अंतःकरणकी जिज्ञासाका विचार कारणभूत होता है उसी प्रकार विचारशक्तिकी तीव्रताके कारण मनुष्य कलाकौशल्य, शास्त्रीय शोध आदि अनेक प्रकारके सुखोंके साधन ढूंढता है और अंतमें जब भौतिक साधनोंके सुखोपभोगसे तृप्ति नहीं होती तब विचारशक्तिके ही कारण आत्म चिन्तनाके पीछे लगकर

यः स्वात्मरति रेवः स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते

की स्थितिको प्राप्त होता है। यह हेगेलकी मीमांसाका सार है। हेगेल और स्पेन्सर इन दोनोंकी मीमांसाके मिलनेसे विश्वके स्थूल और सूक्ष्म रूपकी संपूर्ण चिकित्सा होती है परन्तु केवल हेगलकी मीमांसा स्पेन्सरके ही समान सदोष है। और इसके वही दो कारण हैं जो स्पेन्सरकी समालोचना करते समय ऊपर दिखला आये हैं। एकने अपनी उपपत्तिमें केवल स्थूल

सृष्टिको समेटा तो दूसरेने सूक्ष्म सृष्टिको आदि कारण मानते हुए विचार सृष्टिकी मीमांसामें हाथ डाला परन्तु इन दोनोंके उद्योगकी व्याप्ति विस्तृत होनेके कारण मानवीय संस्कृतिके परिमित विषयोंका सापेक्षतासे विवेचन करनेका काम दोनोंमेंसे एक भी न कर सका। दूसरा दोष यह है कि दोनोंकी चिकित्सा एक देशीय हुई। अर्थात् स्पेन्सरने स्थूल सृष्टिकी चिकित्सा की तो हेगेलने सूक्ष्म सृष्टिकी। और इसलिये स्थूल व सूक्ष्म व आधिभौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे मानवजातिकी सुधारणा किस प्रकार होती गई और इन दोनों दृष्टियोंका परस्पर क्या संबंध है? यह साकलकी कड़ियाँ जोड़नेका काम स्पेन्सरके समान हेगेल भी न कर सका।

इस प्रकार मानवीय प्रगतिका गोरख धंधा सुलझानेका काम पाश्चात्य विद्वानोंने जो कुछ किया है उसपर विचार करनेके बाद यदि भारतीय विचार परंपरा पर विचार करें तो मालूम होगा कि यहाँ इस दृष्टिसे प्रयत्न ही नहीं हुआ है। सर्व जगत् मिथ्या है। परब्रह्म ही श्रेष्ठतत्व है। मनुष्यकी जगत्की वस्तुओंको सत्य माननेकी समझ केवल माया है, इस प्रकारके विश्वासको माननेवाली विचारसरणीमें मानवीय व्यवहारोंकी चिकित्साको अवकाश बहुत न मिले तो इसमें आश्चर्य नहीं है। राजनीतिशास्त्र, चातुर्वर्ण्य प्रधान समाज रचना, यज्ञयागादिपर कर्म मीमांसाशास्त्र, व्यवहार प्रकरणादि कानून, उत्क्रांतिवादके ही समान सृष्टिकी उत्पत्तिकी चिकित्सा करनेवाले वैशेषिक दर्शन आदि बहुतसे व्यावहारिक शास्त्रोंपर अत्यंत अमूल्य और अपूर्व ग्रंथ प्राचीनकालमें लिखे गये हैं। परन्तु मानव संस्कृतिको मुख्य विषय मानकर उसके समाज रचना, धर्मसाधन, राजकारण आदि विभागकर इन सबमें मनुष्य-कृति किस पद्धतिसे गमन करती है, इनका परस्परमें क्या सम्बन्ध है और इन सबके सकलित परिणामोंसे समाजका उत्कर्ष और अपकर्ष किस प्रकार होता है इसका साधन्त विवेचन चिकित्सक पद्धतिसे किया हुआ कहीं नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि भारतका यह विश्वास है कि यदि अनंतकाल ऊपरके व्यावहारिक शास्त्रोंका अभ्यास किया जाय तो भी त्रिकाल-सत्य तत्वज्ञानकी वह समानता नहीं कर सकेगा। क्योंकि इन दोनोंकी भूमिका ही भिन्न है। भारतवर्षकी यह प्राचीन विचारसरणी है कि यदि जगत्को सत्य मानें तो उक्त कारणोंको महत्व देना चाहिये। और यदि उसे नश्वर मानने योग्य आत्मिक उन्नति हो जाय तो फिर नश्वर वस्तुकी चिकित्सा करनेसे लाभ कुछ-

नहीं है । और इसी कारण भारतमें इन दो भिन्न प्रकारके शास्त्रोंका विचार-कर मानवीय प्रकृतिकी चिकित्सा करनेका प्रयत्न नहीं किया गया है। तो भी वर्तमानकालमें पाश्चात्य विद्याके संसर्गके कारण स्थूल सृष्टि और मानवीय व्यवहारोंका पृथक् विचार करनेका महत्त्व भारतवासियोंको मालूम होनेसे संस्कृतिके पृथक्करण करनेकी इच्छा प्रबल तथा होने लगी है । ऐसे समयमें उस चिकित्साके कार्यमें सहायता मिलनेके लिये चिकित्साके मुख्य मुख्य तत्त्वोंका ज्ञान होना आवश्यक है और इस दृष्टिसे इस ग्रंथमें किया हुआ प्रयत्न अवश्य महत्त्व पूर्ण माना जायगा, ऐसी आशा है ।

प्रत्येक विषयका विचार हर ओरसे होना चाहिये । आजतक जो चिकित्साएं हुई हैं उनमें इस प्रकार विचार नहीं किया गया है । यह बात इस प्रकरणमें किये हुए विवेचनसे ध्यानमें आये बिना नहीं रहेगी । पहिले इसका विचार होना चाहिये कि सुधारणाके तत्त्व निश्चित करनेके प्रमाण अथवा साधन कौनसे हैं ? फिर उन साधनोंसे तत्त्व निश्चय हो जाने पर जिस साध्य-स्थितिकी अपेक्षा की जाती है उसके प्रति, हम जा रहे हैं या नहीं यह जाननेके लिये उसका लक्षण अथवा स्वरूप समझना चाहिये । इसके पश्चात उसके मार्गका ज्ञान होनेकी आवश्यकता है । मार्गका ज्ञान हो जानेपर उन मार्गोंसे अपने पहिलेके गये हुए लोगोंकी कृतियोंका विश्लेषण कर निश्चित किये हुए तत्त्व उनकी कृतियोंमें हैं या नहीं इसकी परीक्षा करना चाहिये । इस प्रकार शास्त्र-शुद्ध पद्धतिसे आजतक इस विषयका अभ्यास न किये जानेके कारण इस पद्धतिसे किये हुए इस नवीन उपक्रमके लिये योग्य कारण और अवसर था यह कहनेमें कुछ हानि नहीं है ।

प्रकरण दूसरा

सुधारणाका अचल स्वरूप.



अब तक सुधारणा-शास्त्र सम्बन्धी किये हुए विवेचन परसे जो सिद्धान्त निकले हैं उनका विशेष रीतिसे विवेचन करना अधिक बोधकारक होगा। सुधारणा अथवा संस्कृति एकही समयमें कार्य करनेवाली अनेक शक्तियोंका एकत्रित परिणाम है। ये शक्तियां कौन कौनसी हैं और इनका समाज पर किस प्रकार परिणाम होता है? इसका जो विवेचन अब तक हो चुका है उसीका यहां संक्षिप्त रीतिसे अवलोकन किया जाता है।

सुधारणाके अवयवोंका स्थूल वर्गीकरण करनेसे उनके चार भेद होंगे। प्रथम वर्तमान परिस्थिति दूसरा भेद आधिभौतिक शास्त्र तीसरा भेद धर्म और चौथा भेद ज्ञान। अब इनके कार्योंका यहां अवलोकन करना उचित होगा।

वर्तमान परिस्थिति यह पहिला भेद है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज परिस्थितिसे बद्ध होता है। इसलिये उसकी प्रगतिकी चिकित्सामें परिस्थिति ही सुधारणाका नियामक तत्त्व होती है। इस परिस्थितिका अपने समयकी सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राजकीय आदि सब प्रकारकी विचारसरणीसे अत्यंत निकट सम्बन्ध होता है। और इसलिये परिस्थितिके द्वारा ही उस तत्कालीन समाज या व्यक्तिकी अवस्थाकी पूर्ण कल्पना हो सकती है। भौतिक परिस्थितिके कारण राजकीय परिस्थिति निश्चित होती है और इन दोनोंके मिश्रणसे समाज रचना होती है और ये तीनों भौतिक, राजकीय तथा सामाजिक परिस्थितियां नैतिक अवस्थाके लिये कारणभूत होती हैं। आरम्भ कालमें देशकी वायु, भूमि, लोक-संख्या और मानव वंशमें ही समाजकी भिन्न भिन्न अंतर्जातियोंकी विषमताकी जड़ रहती है। इन अन्तर्जातियोंमें परस्पर होनेवाली स्पर्धा तथा उसके कारण होनेवाले झगड़ोंसे राजकीय और आर्थिक भेद पड़ते हैं इसी प्रकार स्वस्थता प्राप्त हो जानेपर उद्योग धंदोंके कारण इन जातियों की समाज रचनामें उच्च नीच भाव उत्पन्न हो जाता है। तथा दिग्विजय

अथवा दूसरेके देशपर अधिकार कर लेनेसे जेता और जितोंमें स्वामी सेवक सम्बन्ध उत्पन्न होता है जिससे राजा, महाराजा, सरदार, जागीरदार, मध्यम वर्ग, मजदूर वर्ग आदि अनेक प्रकारकी विषमता उत्पन्न हो जाती है। और इस प्रकारकी विषमताके कारण ऊपर बतलाये हुए भिन्न भिन्न श्रेणीके लोगोंकी साधन संपत्तिमें भी न्यूनाधिकता हो जाती है जिससे उस समाजकी रचनामें श्रेष्ठ और कनिष्ठ, धनिक और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित आदि अनेक भेद पड़ जाते हैं। इन सामाजिक भेदोंसे समाजके नीतिशास्त्रमें भी अंतर पड़ जाता है। गरीबोंकी और धनियोंकी नीति कल्पना भी भिन्न हो जाती है। जो बात गरीबोंके लिये अपराध स्वरूप होती है वही धनियोंके लिये विलास और खेलका कारण मानी जाने लगती है और एक प्रकारकी हीन स्थिति प्राप्त हो जाती है। परंपरा इतने ही परिणामसे रुकती नहीं है किन्तु राष्ट्र अथवा समाजकी प्राण अथवा जीवन स्वरूप जो एक सर्व श्रेष्ठ साध्य कल्पना होती है—जो कि किसी की स्वातंत्र्य रूप, किसी की आध्यात्मिक, किसी की कीर्ति प्राप्त करनेकी और किसीकी पर पीड़ा दायक होती है वह भी—अवनतिको प्राप्त होने लगती है। और अंतमें शुद्ध, श्रेष्ठ तथा सत्य नीतिके पाये पर समाजकी रचना हो, अथवा पाशविक बलकी सत्तापर इसका निश्चय भी परिस्थितिसे ही होता है। इस प्रकार सुधारणाके पहिले अंगका—परिस्थितिका—परिणाम होता है।

इसके बाद दूसरा भेद भौतिक शास्त्र है। सुधारणाका नियामक तत्त्व परिस्थिति होनेके कारण उसमें अनुकूल परिवर्तन होनेसे सुधारणाका मार्ग अधिक सुलभ हो जाता है। यह अनुकूल परिवर्तन करनेका बहुतसा श्रेय भौतिक शास्त्रको प्राप्त है। इसके द्वारा जो लाभ हुए हैं उनका प्रायः सबोंको अनुभव होनेसे उसका सविस्तर वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संक्षेपसे इतना ही कहना बस होगा कि इस शास्त्रके कारण जो औद्योगिक प्रगति हुई है उससे मनुष्यको सुखके असंख्य साधन प्राप्त हुए हैं। शारीरिक परिश्रमके कितने ही कार्य यंत्रोंके द्वारा होने लगनेसे कितना ही मानवीय श्रम बच गया है। और अब मनुष्य जातिको केवल बुद्धि विषयक भार उठानेकी ही आवश्यकता रह गई है। समाजमें शारीरिक परिश्रम नीच श्रेणीका माना जाता है और इसके कारण समाजमें कृत्रिम भेद उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि भौतिक शास्त्रकी सहायतासे मानवीय श्रमका काम यंत्रोंसे लेनेकी क्रिया

इसी प्रकार अव्याहत रीतिसे चलती रही तो यह कृत्रिम भेदभावके जड़से नष्ट हो जानेकी और सुधारणाके कार्यमें बहुत कुछ सहायता प्राप्त होनेकी आशा है। इस शास्त्रके कारण समाजकी आर्थिक स्थितिमें बहुत कुछ उन्नति होती है और यह बात पाश्चात्य राष्ट्रोंके उदाहरणसे अच्छी तरह मानव समाजके ध्यानमें आ चुकी है। इस शास्त्रके कारण अनेक नये नये उद्योग धंदोंके उत्पन्न होनेसे मनुष्योंमें परस्पर बहुत कुछ संबंध बढ़ गया है और शिष्टाचारोंमें भी वृद्धि हुई है। और इस कारण जंगली समाजका एकविध स्वरूप नष्ट होकर समाजको अनेकविध स्वरूप प्राप्त हुआ है।

परन्तु केवल परिस्थितिके अनुकूल होनेसे ही सुधारणा नहीं होती। इसके लिये परिस्थितिमें होनेवाले अंतरोंका एक दूसरेसे व श्रेष्ठ कल्पनासे समीकरण होनेकी आवश्यकता होती है। यह समीकरणका कार्य बहुत कुछ अंशोंमें भौतिक शास्त्रने किया है। बंदूककी बारूद इसी शास्त्रकी खोजका फल है जिससे दुर्बलकी दुर्बलताका बलवान शक्तिसे भी समीकरण हुआ। इसी समीकरणके कारण गुलामोंके समान समाजके एक अपंग अंगमें सामर्थ्य आई और गुलामकी सत्ता नष्ट हुई। इसी प्रकार रेलगाड़ी, तार, टेलीफोन, छापखाने आदि साधनोंसे ज्ञानका प्रचार बहुत सुलभ होगया जिससे अशिक्षितोंकी बुद्धि हीनताका अल्पसंख्याक सुशिक्षितोंकी बुद्धिमत्तासे समीकरण हुआ। इस प्रकार भौतिक शास्त्रने समीकरणके कार्यमें बहुत कुछ सहायता पहुंचाई है।

इस शास्त्रने एक दूसरा कार्य और किया है। वह कार्य समाजकी धर्म कल्पनाको सुस्थिर करना है। चिन्ह पूजा, एक देवत्व, वेदके मतसे सृष्टिसेवा और पौर्वात्योंके मतसे परब्रह्म सिद्धि इनसब धार्मिक अवस्थाओंका रूपान्तर होनेमें मुख्य कारण भूत भौतिक शास्त्र ही है। इसकी सहायतासे ज्यों ज्यों सृष्टि चमत्कार दृश्य होने लगे त्यों त्यों देवत्वकी कल्पना बदलती गई और पत्थर, मिट्टी, सीप, सिंहकी टूटी हुई पूंछ, आदिको देव माननेकी स्थितिसे निकल कर इन सबके भीतर रहनेवाली अंतर्यामी कल्पनाके आधारको विचार मार्गमें लेकर अंतमें यह दिखनेवाला जगत् केवल भास मात्र है और ज्ञानके सिवाय सर्वस्व मिथ्या है यह प्रयोगपूर्वक माननेकी सर ओलिव्हर लाजकी स्थिति तक मनुष्य प्राणी आ पहुँचा है। इस दृष्टिसे धर्म कल्पना पर भी इस शास्त्रका बहुत कुछ परिणाम हुआ है।

इस प्रकारकी स्थिति होनेपर भी पौर्वात्योंके इस शास्त्रकी ओर दुर्लक्ष करनेसे आर्थिक, भौतिक आदि सब बाजुओंसे उनकी हीन अवस्था हो गई है। इन देशोंमें मनुष्यकी शरीर सामर्थ्यका उपयोग उल्लेख योग्य न होनेके कारण अपार श्रम मुफ्त चला गया है। यदि यह श्रम बचा होता तो श्रम करनेवालोंको उतना ही किंबहुना उससे भी अधिक द्रव्य लाभ हुआ होता और बुद्धि सामर्थ्य बढ़गया होता, परन्तु ऐसा करनेका मार्ग ही छोड़ दिया है। कच्चे मालका उपयोग यंत्र रचनाके अभावमें न कर सकनेके कारण संपत्ति होने पर भीख मांगनेकी नौबत आई और सांपत्तिक दुःस्थितिकी वृद्धि हुई। शिक्षाका प्रचार न हो सका। उद्योग धंदोंमें विचित्रता नहीं आई। नियमित धंदोंकी ओरही लोगोंका अधिक झुकाव होनेके कारण उन धंदोंके करनेवालोंकी संख्या बढ़जानेसे सभी की स्थिति खराब हो गई। परदेशोंसे बहुत कुछ व्यवहार न हो सकनेके कारण देशरीति, राजकार्य, समाजशास्त्र आदि का भी परिचय न हो पाया और सामान्य-तथा पौर्वात्योंको अज्ञानांधकारमें दिवान्धीत प्राणीके समान बैठे रहना पड़ा। परन्तु पाश्चात्योंकी सहायतासे अब यह परिस्थिति धीरे धीरे बदल रही है। और उनके सहवाससे अथवा उनकी देखरेखके नीचे प्राप्त हुए शिक्षणसे इस शास्त्रमें प्रवेश होकर प्रगति होने लगी है और आशा है कि इस दशासे बहुत शीघ्र उन्नति होगी।

सुधारणाके कार्यमें भौतिक शास्त्रके इतने परिणामोंका विचार करनेके बाद उसकी थोड़ीसी विरुद्ध बाजू भी देखना उचित है। केवल इन्हीं शास्त्रोंको सीमासे अधिक महत्त्व देनेसे ऐहिक वस्तुओंके लाभ की लालसा असीम हो जाती है और सुखके भौतिक साधनोंके बढ़ने पर उनकी और अधिक वृद्धिके लिये बहुत तृष्णा हो जाती है। भौतिक सुखोंकी लालसा अग्निके समान है इसमें साधनरूपी आज्य जितना अधिक डाला जाय उतनी ही अधिक वह बढ़ती है। सुखकी यह लालसा नीति तत्त्व और धार्मिक कल्पनाओंसे नियंत्रित की जा सकती है। यदि यह कल्पना धार्मिक कल्पना न होतो जिस प्रकार साधन संपत्तिका स्वत का सौख्य बढ़ानेमें उपयोग होता है उसी प्रकार दूसरोंका नाश करनेके कामसे भी उपयोग हो सकता है। इसलिये भौतिक शास्त्रोंको मर्यादित रख कर उनके महत्त्वका समाज पर अधिक प्रभाव न पड़ने देनेका ख्याल रखना चाहिए।

इसके सिवाय भौतिकशास्त्रोंमें एक दूसरा दोष और है। वह यह कि इसमे मनुष्यके अन्तःकरणमें रहनेवाली अथवा रहने योग्य अतृप्त आकांक्षाओंको तृप्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है। और इसीलिये सुधारणाके कार्यमें इसे कैवल्य नहीं दिया जा सकता। जो मन मनुष्यका एक महत्त्वका भाग है उस मनका थाह जब इस शास्त्रसे नहीं लगता तो उस मनकी गतिका अंत इन शास्त्रोंसे किस प्रकार जाना जा सकता है।

इसीलिये सुधारणाका तीसरा भेद धर्म माना गया है। किसी भी वस्तुका परिचय होनेपर उसका आद्य स्थान जाननेकी मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। छोटे छोटे बालक तक भी प्रत्येक बातकी जड़ पूछा करते हैं। और कितने ही बार चतुर कहानेवाले वयस्क मनुष्योंसे उन बालकोंके प्रश्नोंके उत्तर नहीं बन पड़ते। व्यवहारमें अनुभवमें आनेवाली यह नित्यकी घटना है। मनके धर्मके अनुसार ही सम्मुख दिखनेवाले व्यापक अंगमात्मक इस सृष्टिका आदि कारण जाननेकी सब विचारशील मनोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यह तृप्त करनेके लिये धर्मके सिवाय दूसरा साधन नहीं है। धर्म ही परमेश्वर रूपी आदि कारण दिखलाकर मनकी अशान्ति दूर कर देता है और धर्म, मनकी सुखवासनाकी शान्ति भी स्वर्गसुखकी कल्पनासे करता है। तथा मरनेके बाद आत्यंतिक नाश हो जानेकी भीतिका प्रतिकार भी आत्माके अमरत्वकी उपपत्तिके द्वारा धर्मही करता है। और अंतमें, दुःख, दुःस्थिति, शारीरिक व्याधि, मानसिक उपाधि, निर्धनताके त्रास, हीन कुलके अपमानसे दुखी लोगोंको इसी जन्ममें पुण्य कर्मोंके द्वारा सुख प्राप्त करा देनेका आश्वासन देकर उनके मनोंको शान्त करता है। अपार संकटों और प्रतिकूल परिस्थितियोंसे भरे हुए जगतमें अकेलेका निर्वाह होना कठिन है, इस भयसे डरे हुए लोगोंको ईश्वरका आधार दिखला कर उन्हें चिन्ता रहित करनेका काम भी धर्मही करता है। क्योंकि 'धर्मेण हन्यते व्याधि.' यह शास्त्रोपदेश है। इसी प्रकार आयुके अंत समय जब संपूर्ण मित्र बन्धुओंसे सम्बन्ध टूटनेका प्रसंग आता है तब—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे। भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने,
देहश्चितायां परलोकमार्गे। धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात् मृत्युके बाद संपत्ति जहां की तहां रह जाती है, पशु गुठानमें ही बंधे रह जाते हैं. भार्या घरके दरवाजे तक और इष्ट मित्र श्मशानही तक साथ जाते

हैं। और यह देह चितामें ही रह जाती है केवल एक धर्म है जो जीवके साथ जाता है।" इस कल्पनाके द्वारा धर्म केवल इस जन्मका ही नहीं किन्तु परलोकका साथी है और उसके आश्रयके बिना मनुष्य असहाय है, इस भावनाको भी धर्म ही दृढ़ करता है। इस प्रकार अपरिहार्य परिस्थितिकी भावनाका समीकरण भावी सुस्थितिकी कल्पनासे कर समीकरणके कार्यमें धर्म सहायभूत होता है।

सुधारणाका अंतिम भेद तत्त्वज्ञान है। भौतिक परिस्थितिकी विषमताका भौतिक उपायोंसे समीकरण करनेका काम जिस प्रकार आधिभौतिक शास्त्रसे होता है उसी प्रकार धर्मके द्वारा भौतिक परिस्थितिका समीकरण अतिभौतिक उपायोंसे होता है। परन्तु भौतिक परिस्थितिसे बिल्कुल पृथक् हो जाने पर तत्त्वज्ञानके साम्राज्यमें प्रवेश होता है। प्राणीमात्रको यह कल्पना असह्य होती है कि एक दिन आधिव्याधि युक्त देह और उसके साधनोंका सर्वस्व नाश हो जायगा। देहादिकोंका नाश प्रत्यक्ष दिखता है परंतु देहादिकोंके व्यतिरिक्त जो "अहं" कहनेवाला पदार्थ है वह नित्य होना चाहिये इस भावनासे मनुष्य जो विचार करता है वही तत्त्वज्ञान है। मनुष्यके इस अबाधित आत्माका विश्वके अंतर्यामी तत्त्वसे क्या संबंध है? इसका विचार तत्त्वज्ञानमें होता है। सम्पूर्ण पदार्थोंमें एकही तत्त्व है उस तत्त्वका और अपना सेव्य-सेवक संबंध है, धर्मके इस प्रमेयसे तत्त्व ज्ञानका प्रारंभ हुआ है। कुछ लोगोंने इस संबंधको भी दूरका समझा और उस आत्मतत्त्वके निरंतर समीप रहनेकी कल्पना की। यही कल्पना तत्त्वज्ञानका अंत मानी जाने लगी। समीप रहनेकी कल्पनासे मनुष्यकी बुद्धि धीठ हो गई और इसलिये उसने आत्माही परमात्माके समान है इस कल्पनाका प्रादुर्भाव किया और अंतमें यह जीवात्माही परमात्मा है इसके सिवाय सर्व मिथ्या है ऐसी दुहाई अद्वैतमतके द्वारा फिरवाकर वह बुद्धि कृतकार्य हुई। अर्थात् स्वतःकी आत्मस्थितिमें परब्रह्मकी कल्पनाकी तुलनासे मनुष्यको जो न्यूनता मालूम हुई उसका समीकरण इसप्रकार कर उसने अपनी आत्मिक उन्नति की।

भौतिक शास्त्रके विवेचनके समय पौर्वात्य देशोंकी भौतिक-शास्त्र सम्बन्धी उपेक्षाका वर्णन किया गया है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानका उल्लेख करते समय इस सम्बन्धमें पाश्चात्य विचारसरणीकी उपेक्षाका भी वर्णन करना आवश्यक है। क्योंकि उस देशमें तत्त्वज्ञानकी चिकित्सा जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं

हुई। केवल आजकल यहाँ इसका आरंभ हुआ है। अभी पौर्वात्य देशोंके समान उन्नता प्राप्त नहीं हुई है। दोनों समाजोंमे एक २ विषयमें उन्नति करनेके कारण यद्यपि श्रेष्ठता संपादन की है परन्तु सर्वांगीन सुधारणा नहीं हो सकी है। क्योंकि सर्वांगीन सुधारणा इन दोनोंके मधुर मिलनके सिवाय नहीं हो सकती, यह तर्कवितर्कके द्वारा निर्णय कर चुके हैं। विचार-विनिमय होनेसे परस्परकी कमियोंका ज्ञान होता है। उसी प्रकार गुणोंका भी ज्ञान होता है। और इस रीतिसे दोष दूर करके गुणोंको प्राप्त करनेमें सुभीता होता है। वर्तमानमें पूर्व पश्चिममें इसी प्रकारका विचार विनिमय होने लगा है। इसलिये यह आशा करनेमें कुछ हानि नहीं है कि दोनों ओर अपनी पूर्वपरपराका विशिष्टत्व रखनेवाली परन्तु दोषोंका त्याग करनेवाली संस्कृतिका उदय होगा।

प्रकरण तीसरा.

सुधारणाका चल स्वरूप.



सुधारणाकी क्रिया यांत्रिक क्रियाके समान है। जिस प्रकार कच्चा माल यांत्रिक क्रियाके द्वारा धीरे धीरे सुंदर रूप धारण करता हुआ जगतके सन्मुख आता है उसी प्रकार असंस्कृत समाज सुधारणारूपी यंत्रके द्वारा सुसंस्कृत अवस्थाको प्राप्त होता है। यह प्रक्रिया समझनेके लिये यांत्रिक ज्ञानकी आवश्यकता है। किसी मिलमें जानेपर सैकड़ों चाक, पट्टे वगैर दिखलाई पड़ते हैं परन्तु उनका स्वरूप और कार्य, उनके अस्तित्वका महत्व, उनका परस्पर संबंध आदिका सूक्ष्म ज्ञान हुये बिना यंत्रमें कच्चा माल डाल कर पक्का नहीं बनाया जा सकता। यंत्रका यह ज्ञान दो प्रकार प्राप्त करना पड़ता है। एक तो यह कि यंत्रके सब कल पुर्जें पृथक पृथक कर उनका परस्परमें क्या संबंध है और वे किस प्रकार आपसमें जोड़े जाते हैं इसका ज्ञान। दूसरे यह कि यह यंत्र चलता किस प्रकार है ?। उसके पुर्जे एक दूसरे पर क्या क्रिया प्रति क्रिया करते हैं ? और उन सबोंकी क्रियाका कच्चे माल पर क्या परिणाम होता है ?। इन दोनों प्रकारके ज्ञानकी अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि पहिले प्रकारका ज्ञान हुये बिना बिगड़ जानेपर यंत्र सुधारा नहीं जा सकता। और दूसरे प्रकारके ज्ञानके बिना यंत्र चलानेकी कला नहीं आ सकती।

इसी प्रकार सुधारणाके यंत्रकी स्थिति है। इस यंत्रके संबंधमें भी दोनों प्रकारके ज्ञानकी आवश्यकता है। अर्थात् एक तो सुधारणाके अवयवोंका पृथग् पृथग् ज्ञान होना चाहिये दूसरे सुधारणाकी प्रक्रियाके समय उन अवयवोंका समाज पर किस किस प्रकार परिणाम होता है इसका ज्ञान होना चाहिये। गत प्रकरणमें यह बतलाया जा चुका है कि भौतिक परिस्थिति, आधिभौतिक शास्त्र, धर्म और तत्वज्ञान ये चार सुधारणाके मुख्य अंग हैं और इनका मुख्य स्वरूप क्या है तथा एक दूसरेका परस्परमें कैसा परिणाम होता है। अर्थात् पहिले प्रकारका ज्ञान तो गत प्रकरणमें हो चुका है अब यह देखना है कि उन अवयवोंको गति मिलने पर उनकी क्रिया किस प्रकार होती है ?

सम्पूर्ण समाजोंमें उन्नति अथवा प्रगतिकी स्थितिकी पराकाष्ठा, सर्वोत्तम अवस्था अथवा महत्तम साध्यके आदर्शरूपसे किसी एक ध्येय (Ideal) की कल्पना की जाती है। इस संबंधमें आस्तिक नास्तिक, आधिभौतिक अधि-भौतिक, ईसाई अथवा कँट मतवादी, द्वैत अद्वैत आदि सर्व विवेचकोंका एक मत है। इसी प्रकार अखिल मानव समाजका भी एक ध्येय होता है। यद्यपि यह साध्य या यह महती अवस्था जगतमें कहीं व्यवहार परिणत नहीं हुई तो भी उसके अनुरोधसे समाजके सर्व प्रयत्न होते हैं। " घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् " अत्यन्त घने अंधकारमें दूरपरसे तेजस्तंभ दिखने के समान विषम परिस्थितिके प्रचुर अंधकारमें साध्य, समाजके लिये तेजोत्पादक होता है। परन्तु जिस प्रकार एकाध कलिकाको दशोंदिशायें सुगंधित करनेके लिये पुष्पस्वरूप होनेतक ठहरना पड़ता है, खानसे हालके निकले हुवे हीरेको अपने तेजसे देखनेवालोंकी आंखोंमें चकाचौंध पैदा करनेकी शक्तिके लिये शानपर चढ़ने तक ठहरना पड़ता है, समुद्रमें नाव खेनेवाले मल्लाहको घर जानेके लिये समुद्रतट आनेतक शांतिसे नाव खेना पड़ती है अथवा न्यायमंत्रीको कानून बनाते समय उस कानूनके विरुद्ध होनेवाले लोकमतका जोर—शिक्षणसे कम होकर उस कानूनका स्वरूप लोगोंको भले प्रकार न मालूम हो जाय तबतक शांतिसे धारण करना पड़ता है उसी प्रकार समाजको भी अपनी साध्य-स्थिति प्राप्त होनेके लिये भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक आदि अनेक प्रकारके कण्टकाकीर्ण मार्गोंमेंसे अपने पैर धीरे धीरे आगे बढ़ाना पड़ते हैं इस कारण साध्यस्थितिकी प्राप्तिका काल निकट न होकर दूर होता है। सत्य युगमें मनुष्यकी सुजनता, शांति, सत्य-निष्ठा, समत्वकी भावना, स्वात्मप्रेम इन सबोंका मिलनही समाजकी आदर्श स्थिति थी। परंतु आज. दो हजार ईसवी सवत व्यतीत हो जानेपर भी यह स्थिति अभीतक प्राप्त नहीं हुई। और हिंदू आर्य पद्धतिके हिसाबसे तो अभी कलियुगके पाँच लाख वर्ष और व्यतीत होना हैं तब कहीं यह स्थिति फिर प्राप्त होगी। इस प्रकार समाजको अपना साध्य प्राप्त करनेमें बहुत समय लगता है परंतु समाजकी आयु भी उसीके समान बहुत लंबी चौड़ी होनेके कारण साध्यकी प्राप्तिकी आशा करना हानिकारक नहीं है। व्यक्तिगत आयुष्य बहुत कम होता है। इसलिये व्यक्तियोंको अधीरता भी बहुत होती है। उसे यह उत्कट इच्छा रहती है कि अपने जीव-

करण द्वारा कल्पित साम्य-स्थिति बहुत शीघ्र कमसे कम अपने जन्ममें ही अवश्य प्राप्त हो। इसी इच्छाका समाधान करनेका कार्य सुधारणा-यंत्रका धर्मपक्ष करता है। मनुष्यकी आकांक्षा तृप्त करनेका आश्वासन धर्मही देता है और इस कारण जिस धर्मके तत्त्वज्ञानकी जिस मानसे मानवीय अंतःकरणमें तथा उसके बाद सर्व विश्वके अंतःकरणतक पहुँच हो सकती है उसी मानसे उस धर्मका स्वीकार करनेवाली व्यक्ति अधिक शीघ्र उन्नतिको प्राप्त होती है। मुसलमानी धर्ममें कुरानको केवल ईश्वरकी आज्ञा नहीं किंतु सम्पूर्ण उपलब्ध ज्ञानोंका संग्रह माना है और इस कारण यह धर्म स्वतंत्र शोधक बुद्धि अथवा स्वतंत्र ईश्वरीय प्रेरणाके लिये प्रतिबंधक हो गया है। यहूदी धर्ममें उसके अनुयायियोंके उपभेदों और उपवर्गोंकी संकुचित स्वार्थोंको बहुत महत्त्व देनेके कारण तथा उनके देव निग्रहेच्छाका स्वरूप अभिमानसत्तात्मक होनेके कारण यह धर्म स्वतंत्र विचार और सार्वत्रिक स्वतंत्रताके लिये पोषक न हो सका। इसी प्रकार किसी न किसी तरहकी विशेषता प्रत्येक धर्ममें हुआ करती है और उन्हींके अनुसार उनके अनुयायियोंकी प्रगति होती है। परंतु यह एक साधारण नियम है कि प्रत्येक धर्मको कर्मफलकी प्राप्तिकी आशा निकटके समयमें दिखलाकर मानवीय आतुरता तृप्त करना पड़ती है।

समाजकी श्रेष्ठ और उच्चाभिलाषी व्यक्तियोंकी व्यवस्था इस प्रकार धर्म और तत्त्वज्ञानके द्वारा हो जाने पर भी समाजके शेष भागका सुधारणाके इस धर्म द्वारा कुछ सुधार नहीं होता। जगत द्वंद्व मय है। प्रकाश और छाया, सुख और दुःख, उच्च और नीच, स्वतंत्र और परतंत्र, अभिमानी और खुशामदी, धनी और गरीब, स्वामी और सेवक, इस प्रकार अनेक द्वंद्वोंसे जगत भरा हुआ है। और जिस प्रकार द्वंद्वोंकी जोड़ीमें एक भाग बलवान होता है उसी प्रकार दूसरा भाग भी बलवान् होता है। प्रकाश जितना अधिक होता है अंधेरा उसके अभावमें उतनाही घोर होता है। जिस परिणामसे सुखका अनुभव अधिक होता है उतनाही उसके नष्ट हो जानेपर दुःखका अनुभव तीव्र होता है। समाजके एक भागमें जिस प्रकार संपत्तिका एकीकरण अधिक होता है उतनाही दूसरा भाग निर्धन और भिखारी होता है इत्यादि अनेक प्रकारके द्वैत जगत्में दिखलाई पड़ते हैं। समाजके इस द्वैत रूपके कारण यदि कुछ लोगोंको धनवस्तुओंके संबंधमें वैराग्य हो जाता है तो थोड़ीके लोगोंको उन उन वस्तुओंके प्रति प्रेम होता है। एक मनुष्य खाना

पीना भूलकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाता है तो दूसरा ' ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् 'के सिद्धान्तका पालन करता है एक " कान्ताके समान मधुर वचनोंसे चित्त हरण करनेवाली कविता-सुंदरी पर आसक्त होता है" तो दूसरा कहता है कि " पिपासितैः काव्यरसो न पीयते "। एक योग साधनसे " समलोष्टाश्मकाञ्चनः " बनता है तो दूसरा " सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंते " कहता है। एक संन्यासी होकर " न कुत्रापिवसेत्‌ऽहम् " कहकर कहीं तीन दिनोंसे अधिक नहीं ठहरता तो दूसरा सुखी मनुष्यका वर्णन ' अनृणीचाऽप्रवासीच' कहता है। अर्थात् इस दूसरे–दृश्य वस्तुओंपर प्रेम रखनेवाले, ऋणकरके भी घृत पीनेवाले, व्यसनरसका पान करनेवाले, द्रव्यको ही सब कुछ समझनेवाले, प्रवासको उपाधि माननेवाले-वर्गको धर्मके विचार-प्रधान और तत्त्वज्ञानात्मक मार्गकी अपेक्षा ऐहिक जीवन अधिक सुखमय करनेवाले साधनोंकी आवश्यकता ही अधिक भासित होती है। इसीलिये धर्म और तत्त्वज्ञानके साथ साथ आधिभौतिकशास्त्रका चक्र समाजके इस सर्व साधारण जनताके भागपर फिरने लगता है।

धर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थका है। मनुष्यमात्रकी कृतिपर देखरेख रखनेवाले और उसका नियमन करनेवाले श्रेय आत्मतत्त्वसंबंधी विचारोंमें अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका समावेश होता है। और इसीलिये धर्मसाधनके प्रकरणमें तथा अन्यत्र किये हुये विवेचनके अनुसार इस श्रेष्ठतत्त्वके स्थानपर निर्जीव क्षुद्र वस्तुसे लेकर उससे उच्च बुद्धिकी योजना क्रमक्रमसे होती रही है। धर्मकल्पनाका इस प्रकार परिवर्तन होनेमें आधिभौतिकशास्त्र कारणीभूत हुआ है। ज्यों ज्यों इसके कारण सृष्टिके पदार्थोंका चमत्कार-रहस्य स्पष्ट होता गया त्यो त्यो उन पदार्थोंका ईश्वरत्व नष्ट होता गया और अंतमें सर्वांतर्यामी एक ईश्वरकी कल्पना की गई। इस प्रकार सुधारणाके धर्मरूपी अवयवपर भौतिकशास्त्ररूपी अवयवकी क्रिया होती है।

इसके विरुद्ध स्थितिमें जब भौतिकशास्त्र अहमन्य होकर सम्पूर्ण सूत्र अपने हाथमें लेने लगते हैं तब उनके नियमनका काम धर्मको करना पड़ता है। समाजके जिन क्लेशोंका निवारण भौतिकशास्त्रोंके द्वारा—उनकी आकांक्षा होते हुये भी-नहीं होता उस समय धर्मको आगे आकर यह काम करना पड़ता है और इस प्रकार धर्मकी भौतिक शास्त्रोंपर प्रतिक्रिया होती है।

अंग यांकी बची वर्तमान परिस्थिति। कच्चे मालके गुणानुसार पक्के मालका स्वरूप हुआ करता है। बारीक और अच्छे कपड़े तैयार करनेमें इजिप्ट देशका लंबे तारवाला कपास जितना उपयोगी होगा उतना देशी कपास नहीं होता। उसी प्रकार यदि समाजकी मूलस्थिति अच्छी हुई तो सुधारणा यंत्रके द्वारा वह समाज शीघ्रही सुसंस्कृत हो सकेगी। शीत-वायु प्रधान देशोंमें जनसमाजको सतत उद्योग करना अधिक सुलभ होता है। पहाड़ी प्रदेशके लोग अधिक मजबूत होते हैं। समुद्र तट पर रहनेवाले अधिक साहसी होते हैं। चौरस प्रदेशपर रहनेवाले आलसी, उष्ण प्रदेशके निःसत्व, परदेश गमनको बुरा समझनेवाले लोग एकांगी, उपजाऊ भूमिके निवासी सुखप्रिय और पथरीली भूमिके निवासी कष्टप्रिय होते हैं। यह स्वभावभिन्नता जल वायु, भूमिप्रदेश आदि परिस्थितिके कारण उत्पन्न होती है। शूर पूर्वजोंकी समाजके वंशज प्रायः शूरही होते हैं और डरपोक समाजके डरपोक। उसी प्रकार कल्पना प्रिय (Idealist) लोगोंके वंशज भी, आर्य लोगोंके समान कल्पनाप्रिय निकलते हैं और व्यवहार प्रिय पाश्चात्य लोगोंके वंशज उद्योगशील होते हैं। इस आनुवंशिकताका भी परिस्थितिमेंही समावेश होता है। संपत्तिमान देशोंमें व्यापारका विस्तार होता है और कलह प्रियोंमें युद्ध कौशल्य वृद्धि पाता है। समाजके यह स्वभाव भी परिस्थितिमेंही सम्मिलित होते हैं। जिस समाजमें परस्परमें अनेक भेद होते हैं उन्हींमें भेद पद्धति और अधिक विस्तृत होती है और जिनमें भेद बुद्धि नहीं होती उनमें परस्परके भेद निकालकर अभ्यासानुसार समाजका ऐक्यतामय रूपही रखनेकी ओरही प्रवृत्ति होती है। परंपराका परिणाम भी परिस्थितिकाही एक अंग है। इसलिये परिस्थितिको सुधारणाकी प्रक्रियाके प्रथम विचारमें लेना पड़ता है।

परिस्थितिकी ओर दुर्लक्ष करनेसे सुधारणा की अपेक्षा बिगाड़ होनेके बहुतसे हास्यास्पद प्रयत्न अनुभवमें आते हैं। समाजका स्वभाव, उसकी स्थिति, उसकी परंपरा और रूपांतर ग्रहण-शक्तिका विचार किये बिना दूसरी परिस्थितिवाली समाजकी प्रगतिके नियम उस समाज पर लागू करनेसे बहुतसी बार दुरवस्था उत्पन्न हो जाती है। पोर्तुगीज लोगोंके हिंदुस्थानमें प्रवेश करनेके पश्चात् हिन्दुओंकी धर्मांधता, बहुदेवपूजा, भेद बुद्धि आदिके स्थानपर ईसाई धर्मकी सत्य निर्णय बुद्धि, एक देव पूजा और सत्य ग्रहणकी

योजना करनेके लिये गोवा प्रान्तके मूल निवासियोंको ईसाई धर्मकी दीक्षा दी गई। परन्तु परिणाम यह हुआ कि उनमें इन सद्गुणोंके उत्पन्न होनेकी अपेक्षा उन्होंने इन्हें भी अपनी परंपराके दुर्गुणोंमें मिला डाला। उनमें भेद बुद्धि बनी रहनेके कारण कोकणस्थ ईसाई, देशस्थ ईसाई आदि भेद पड़ गये। ईसाई धर्मके निराकार देवताके स्थानपर देवालयोंमें दूसरी देवमूर्तियोंके साथ साथ एक यीशुकी मूर्ति और अधिक बढ़ गई और नवीन रीति रिवाजोंके स्थानपर मूलके आचार विचार ही कायम रहे। परिस्थितिकी ओर दुर्लक्ष कर सुधारणा की कलम मूल झाड़में लगानेका यह परिणाम है। राजकीय अनुशासनमें अपनी वैध राज्यव्यवस्थाको सदा कायम रखनेवाली प्रजा पर इंग्लेण्डके राजा जॉनके शासन कालमें अथवा दूसरे जेम्सके शासनमें जो अत्याचार करनेके प्रयत्न किये गये और उनमें सफलता प्राप्त नहीं हुई इसका कारण उन राजाओंने परिस्थितिकी ओर ध्यान नहीं दिया। इस लिये संस्कृतिके कार्यमें परिस्थितिके पूर्ण अभ्यासकी अत्यंत आवश्यकता है।

व्यक्तिका शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, धार्मिक और तात्त्विक आदि सब दृष्टियोंसे उत्कर्ष होना, यह सुधारणाका साध्य है। व्यक्तिकी यह उन्नति व्यक्ति पर समाजकी नैतिक कल्पनाओंके समूहके दबाव पड़नेसे होती है, यह उस सुधारणाका मार्ग है। और समाज अथवा व्यक्तिकी वर्तमान प्रतिकूल परिस्थिति उस मार्गमें विघ्न है और समाजकी नैतिक व तात्त्विक कल्पनाओंसे परिस्थितिका समीकरण करना उस विघ्नको दूर करनेका उपाय है। इस सम्बन्धमें अब तक जो कुछ इस ग्रंथमें कहा गया है उस दिशासे सुधारणाका प्रयत्न किया जायगा तो आशा है कि शीघ्र ही अथवा कालांतरमें पूर्वकी ओर अथवा पश्चिमकी ओर वह फलद्रूप होकर मानवीय कल्पनाका सत्ययुग कभी न कभी अवश्य देखनेको प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं।

प्रकरण चौथा

सिंहावलोकन



अबतक संस्कृति शास्त्रका पूर्ण विचार किया गया, सर्व दृष्टियोंसे अवलोकन किया और सब प्रकारकी कसौटी लगाकर उसकी परीक्षा की। इस विस्तृत प्रयत्नका सार संक्षेपमें समझाने और अबतक गुंथी हुई विचारमालिकाकी सब मणियोंको सुसंगत रीतिसे एकके बाद एक लगानेके हेतुसे इस प्रकरणमें गत सब प्रकरणोंकी और हेतुओंकी परस्पर संगति बैठानेकी योजना करनेका प्रयत्न करेंगे।

पहिले प्रकरणमें सुधारणाकी " प्रमाण चिकित्सा " की गई है। सुधारणा 'शास्त्रका पूर्ण ज्ञान होनेके लिये प्रथमतः उस शास्त्रके तत्त्व जाननेके साधन मालूम होना आवश्यक है। प्रमाण शब्दका अर्थ भी " प्रमायाः करणं " अर्थात किसी भी वस्तुका अथवा विषयका सत्य ज्ञानका साधन ' यही होता है। यह प्रमाण क्या है? इसके संबंधमें भिन्न भिन्न मत हैं। इन मतोंके पुरस्कर्ताओंका कहना क्या है? इसका विचार कर अंतमें सुधारणाका सत्य प्रमाण कौनसा है? इसकी चिकित्सा पहिले परिच्छेदमें की गई है।

- पहिले परिच्छेदके प्रथम प्रकरणमें इतिहासको प्रमाणभूत माननेवालोंके मतका विवेचन किया गया है। इतिहास वादियोंका कहना है कि जगतके ऐतिहासिक प्रसंगोंमें से ही सुधारणाके तत्त्व निकलते हैं। क्योंकि सुधारणा भी एक प्रकारसे समाजके क्रमशः होनेवाले अवस्थांतरोंकी ही एक अवस्था है और वे अवस्थान्तर इतिहासमें दिखलाई पड़ते हैं। यह इतिहासका वर्णनात्मक भाग है। इस पूर्वपक्षका इस प्रकार उत्तर है कि एकके बाद एक बने हुए प्रसंगोंका नियमरूपसे बोध नहीं होता। व्यक्ति अथवा समाजको गत प्रसंगोंके वर्णनसे आगेके उन व्यवहारोंका जिनसे उन्नति हो सके ज्ञान नहीं होता। इसलिये यह इतिहास प्रमाणभूत नहीं हो सकता। इसपर इतिहासके विवेचनात्मक भागके पुरस्कर्ता कहते हैं कि इतिहासकी पहिली उपपत्ति सदोष होनेपर भी जिसके द्वारा भूतकालीन प्रसंगोंपरसे सिद्धान्तरूपमें कुछ नियम निकाले जाते हैं इतिहासकी वह विवेचनात्मक पद्धति, प्रमाण माननेके योग्य है। परंतु इस आक्षेपका भी निरसन किया गया है। बने हुए प्रसंगोंका विवेचन

करनेके लिये वर्तमानकालके ज्ञानकी आवश्यकता है। गतकालकी घटना-ओंका स्थूलरूप नष्ट हो जानेके कारण, उनके समान वर्तमानकालकी घटना-ओंको ध्यानमें लिये विना गत घटनाओंके विवेचनसे सिद्धान्त नहीं निकाले जा सकते। इस लिये वर्तमानकालके ज्ञानके अभावमें केवल इतिहास निरुप-योगी है। तत्कालीन परिस्थितिके ज्ञानसे मनुष्यको समाजकी गतिस्थि-तिके जो नियम मालूम होते हैं वे नियम ठीक हैं या नहीं, इसकी परीक्षाके लिये इतिहासके द्वारा केवल उदाहरण मिल सकते हैं। यही इतिहासका कार्य है।

इस प्रकार इतिहासका प्रमाणत्व असिद्ध होनेपर दूसरे प्रकरणमें आधि-भौतिकशास्त्रके प्रमाणत्वपर विचार किया गया है। आधि-भौतिकशास्त्रोंके उत्कर्षसे मनुष्यको प्राप्त होनेवाली सुस्थितिको ही सुधारणा समझकर इस शास्त्रके सिद्धान्तोंको सुधारणाका प्रमाण माननेवाले पक्षका उस प्रकरणमें उपन्यास किया गया है। बेकनकी विचारसरणीका इतिहास देकर फिर इस पक्षको उत्तर दिया गया है कि इस मतमें भी दो भूलें हैं। पहिली भूल यह है कि निर्जीव सृष्टिसे संबंध रखनेवाले आधि-भौतिक नियमही इस शास्त्रके द्वारा सजीव सृष्टिपर लगाये जाते हैं जो कि लग नहीं सकते सजीव सृष्टिमें सूक्ष्मकी चिकित्सा होनेकी आवश्यकता है। सूक्ष्म वस्तुओंमें प्रथम ही मनका विचार किया जाता है। जिस मन और बुद्धिकी सहायतासे मनुष्यको आधि-भौतिक ज्ञान होता है उस मन और बुद्धिका ज्ञान भौतिक शास्त्रोंके द्वारा नहीं हो सकता इसके सिवाय प्राणशक्तिके उद्भवका ज्ञान भी इसके लिये असम्भवही है अतएव आधि-भौतिकशास्त्र सुधारणाका प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रकार ठहराकर आर्यतत्त्वज्ञान पद्धतिमें यह तत्त्व प्राचीनकालसे जिस प्रकार माना गया है उसका उपनिषदादि ग्रंथोंसे विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् स्पेन्सरके उत्क्रान्तिवादसे मिलनेवाले आरंभवाद अथवा ब्युंटेके पूर्वीय मतोंसे समानता रखनेवाले परिणामवादको विशेष मान्यता न होकर भौतिक शास्त्रोंकी जिस तक पहुँच नहीं है उस जगत्के कारणकी चिकित्सा करनेवाले विवर्तवादको विशेष महत्त्व किस प्रकार प्राप्त हुआ यह बतलाकर भौतिक-शास्त्र वादियोंका कहना ठीक नहीं है यह निश्चय किया गया है।

तीसरे प्रकरणमें अतिभौतिक प्रमाणका विचार किया गया है। औ उसमें मानस शास्त्रको ही सुधारणाका प्रमाण समझनेवाले पक्षका उल्ले

किया गया है। उस पक्षका कहना है कि मानव प्राणी अंतःकरणकी भावनासे व्यावहारिक कार्य करता है इसलिये अंतःकरणके नियमोंका ज्ञान करा देनेवाला मानस शास्त्रही प्रमाणभूत है। कुछ दिनोंसे प्राणि शास्त्र (Biology) नामक नवीन शास्त्र परिणतिमें आ रहा है। इस शास्त्रके नियमोंके अनुसार यह सिद्ध हुआ है कि मन और मस्तिष्कका निकट संबंध है। यद्यपि वायुके समान चंचल होनेके कारण मनकी गतिकी दिशा ठहराना अनिश्चित है तो भी मज्जातंतुओंमें होनेवाले अंतरोंसे मनकी स्थिति साधारणतः जानी जा सकती है। मज्जातंतुओंके दो भाग होते हैं। एक संवेदनात्मक और दूसरा गतिप्रधान। इन पर होनेवाले परिणामोंका संबंध मनके हलनचलनसे होता है। और इस कारण वर्तमान मानस शास्त्रमें शरीर और मन दोनोंका वर्णन किया जाता है। अतएव मानस शास्त्र प्रमाणभूत है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इस शास्त्रके द्वारा मनकी गतिका विश्लेषण किया जा सकता है तो भी परिस्थितिके ज्ञानके बिना मनकी भावी गतिके संबंधमें इस शास्त्रके द्वारा कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय मन पर इन्द्रियोंका भी संस्कार होता है और उन इन्द्रियोंके विषयीभूत पदार्थ भौतिक शास्त्रके द्वारा जाने जा सकते हैं अतएव मानस शास्त्रको भौतिक शास्त्रकी सहायता लेना भी अपरिहार्य हो जाता है।

केवल मानसशास्त्रके प्रमाणभूत न माने जानेपर कार्डिनल न्यूमनने अपना अंतःप्रमाण नामक एक नवीन प्रमाण निकाला है। इसका कहना है कि संशयके समय ज्ञानी पुरुषोंको जो स्फूर्ति होती है वही सत्यासत्यके निर्णय करनेमें पूर्ण सहायता देती है। न्यूमनके इस मतका सार जाननेके लिये न्यूमनके समयके भौतिकशास्त्र और धर्मके झगड़ोंका वर्णन किया गया है। इन शास्त्रोंको क्रमशः बुद्धिवादी और धर्मश्रद्धावादीका कल्पित नाम देकर न्यूमनने धर्मपक्ष ग्रहण किया और यह सिद्धान्त ठहराया है कि धर्मका अनुसरण करनेवालोंमें अंतःस्फूर्ति होती है और उनका पवित्र-जीवन व्यवहार—ही सुधारणाके नियमोंका ज्ञान माना जा सकता है। इसका यह कहना था कि भौतिकशास्त्र सत्य अथवा सत्यतम माने जा सकते हैं निश्चयात्मक नहीं। उसके इस कहनेको ठीक न मानकर यह सिद्ध किया गया कि सुधारणाकी ज्ञान प्राप्तिमें भौतिकशास्त्रोंकी सहायता आवश्यक है और इस प्रकार उसकी पहिली भूलका निरसन किया गया है। इस विद्वान्‌की दूसरी भूल यह है कि यह

करना हास्यास्पद है। इस लिये सुधारणाका " नियामक तत्त्व " परिस्थिति ही है, यह सिद्ध किया गया है।

परिस्थितिके नियामक तत्त्व होनेके कारण विरोधी परिस्थितिको बदलने अथवा सुधारणाके मार्गसे पत्थर हटानेके उपायका विचार चौथे प्रकरणमें किया गया है। परिस्थितिको बदलनेका उपाय ' समीकरण ' है यह बतलाते हुए सिद्ध किया गया है कि जगत्में सर्वत्र समीकरणका तत्त्वही अनुभवमें आता है। हीनबली पक्षको किसी प्रकारकी सहायता देकर बलवान्पक्षकी समानतामें लादेना समीकरण कहलाता है। दुर्बल मनुष्य राजाके अधिकार और कानूनोंकी सहायतासे सबलके समान हो जाता है। समाजका निम्न श्रेणीका भाग उन्हें दिये हुए विशेष सुभीतोंके कारण उच्च भागके समान होता है। भौतिक परिस्थितिकी दृष्टिसे दुर्बल प्राणी भौतिकशास्त्रोंके उपकरणोंके द्वारा अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है और प्राप्त स्थितिका वैगुण्य धर्ममें मानी हुई पुण्य कल्पनाके द्वारा मनुष्य निकाल डालता है। इस प्रकार जगत्में परिस्थितिका समीकरण चालू रहता है। अतएव वर्तमान परिस्थितिका उच्च नैतिक कल्पनाओंसे समीकरण करनेसे परिस्थिति अनुकूल हो जाती है, जिसके कारण प्रगति व सुधारणा हो सकती है।

इस प्रकार तात्त्विक मीमांसा कर लेने पर तीसरे परिच्छेदमें उसके नियमोंके अनुसार समाजके भिन्न भिन्न व्यवसायोंका विवेचन किया गया है। परिच्छेदके पहिले प्रकरणमें समाज-रचनाका विचार किया है। अठारहवीं शताब्दितक समाजशास्त्रका शास्त्रीय रीतिसे किसीने अभ्यास नहीं किया था। इसका प्रारंभ ऑगस्ट कॉटने किया। और अपने मत 'Positive philosophy' नामक ग्रंथ द्वारा प्रकाशित किये। इस विद्वान्ने ' अखिल मानव समाजको एक सेन्द्रिय और चैतन्ययुक्त सजीव वस्तु मानकर उसके शरीरकी मीमांसा की। और यह ठहराया कि अखिल मानवरूपी चैतन्यके शरीरका पुरोहित वर्ग अथवा तत्त्वज्ञानी वर्ग आद्य भाग है। व्यापारी वर्ग दूसरा भाग है और मजदूर वर्ग तीसरा भाग है। यह भाग क्रमशः एक दूसरेसे नीची श्रेणीके हैं परन्तु इन सब भागोंके मिलनेसे ही समाजरूपी शरीरकी रचना होती है। इस मत पर दो आक्षेप किये जाते हैं। पहिला यह कि तत्त्वतः इस विचार सरणीमें सम्पूर्ण मनुष्य प्राणी समान नहीं माने जाते। क्षुद्र भेद और सामान्य अन्तरोंको छोड़ देनेपर सम्पूर्ण मानव समाज तत्त्वतः समान है और

इसलिये उसमें उपाधिकृत भेद करना अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। दूसरा आक्षेप यह है कि यदि मान लिया जाय इस प्रकारकी समाजरचना करलीगई तो यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि मानव समाज इस प्रकारकी रचना सदा मान्य करेगा क्योंकि मनुष्य प्राणी स्वभावसे ही परच्छंदानुवर्ती नहीं है। इस आक्षेपपर "काउंट दि गो बिनो" ने प्रत्याक्षेप किया है कि "जगतमें सर्वत्र विषमता ही दिखलाई पड़ती है। विषमता ही जगत्की कुंजी है। एक दिशासे विषमता निकालनेका प्रयत्न करने पर वह दूसरी दिशासे उत्पन्न होती है। मनुष्य प्राणियोंके श्यामवर्णी, पीतवर्णी और श्वेतवर्णी इस प्रकार तीन भेद हैं। इसी प्रकार विशिष्ट परिस्थिति और विशिष्ट आनुवंशिक संस्कारोंके योगसे समाजकी संस्कृतिका झुकाव एक विशिष्ट प्रकारका होता है और उसीसे उस समाजकी विशेषता होती है। यह विशेषता नष्ट करना शक्य भी नहीं है और इष्ट भी नहीं है। यह प्रयत्न करनेसे समाजही कालांतरमें नष्ट हो जाता है। भिन्न भिन्न समाजोंके समान प्रत्येक समाजोंमें भिन्न भिन्न उपभेद भी रहेंगे ही फिर समानत्वकी ऐंठ करनेसे लाभही क्या है?

इस प्रकार पाश्चात्य विचार परंपरा दिखलानेके बाद हिन्दुस्तानके चातुर्वर्ण्य प्रधान समाजरचनाका इतिहास दिया गया है। और पाश्चात्य भाषाके विद्वानोंके ग्रंथों द्वारा यह सिद्ध किया है कि इस रीतिकी जड़ वेदोंके समयमें भी थी। फिर यह बतलाया गया है कि उपनिषद् कालमें यह रीति गुणधर्मपर किस प्रकार अवलंबित थी। इस उपनिषद् कालमें भारतनिवासी अपने गुणधर्मानुसार वर्ण परिवर्तन कर सकते थे। उपनिषद्कालके बाद पुराणकालमें यह व्यवस्था दृढ़ हुई और वह आनुवंशिक मानी जाने लगी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्थाका वर्णन करने पर पाश्चात्य विद्वानोंके इसकी उत्पत्ति विषयमें जो मत हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया है। इस पद्धतिको ब्राह्मणोंका जुल्म माननेकी विकार युक्त कल्पना छोड़ देनेपर इस पद्धतिके संबंधमें नेसफील्डने यह मत दिया है कि "यह व्यवस्था केवल धंदोंके कारण ही अस्तित्वमें आई है"। परंतु यदि ऐसा होता तो प्रत्येक धंदेवालोंको अपने अपने धंदोंके अनुसार वर्णके होना चाहिये था, पर व्यवहारमें ऐसा नहीं देखा जाता। एक धंदेको भिन्न भिन्न वर्णके लोग करते हैं। इबेट्सनका कहना है कि धंदोंके भेद, फिर उनके कारण प्राप्त हुई जन्मसिद्धता और फिर उसे

स्थलांतरके कारण प्राप्त होनेवाली छूता आदिसे यह पद्धति भारतवर्षमें स्थायी बन गई है। इस उपपत्ति पर सेनार्ट नामक फ्रेंच पंडितने यह आक्षेप किया है कि यह उपपत्ति एक न हो कर अनेक उपपत्तियोंका मिश्रण है। इस विद्वान्के मतसे सुधारणा की ओर आनेवाली प्रत्येक समाजमें जातिभेद होना समाजकी प्रगतिका स्वाभाविक परिणाम है ' रिस्ले 'ने इस कथन पर शंका की है कि यदि यह स्वाभाविक परिणाम है तो पाश्चात्य देशोंमें जातिभेद क्यों नहीं दिखलाई पड़ता। अंतमें रिस्लेने अपना यह मत दिया है कि " सेनार्ट "के कहे अनुसार समाजको प्राप्त होनेवाले इस विभेदात्मक स्वरूपका हिन्दुस्तानमें स्थायी हो जानेका कारण भारतीय तत्त्वज्ञानात्मक कल्पना और देश परिस्थिति है।

पहिले प्रकरणमें इस प्रकार समाज रचना पर विचार करनेके बाद दूसरे प्रकरणमें धर्म विचारका आरंभ किया गया है और कोंटके इस मतका आविष्कार किया गया है कि जगत्में सर्व-श्रेष्ठ-वस्तु अखिल मानवजाति है अतएव इसकी सेवा—जनसेवा—ही सर्व-श्रेष्ठ-धर्म है। कोंटके समयमें धर्म-क्षेत्रके एक एक प्रदेश पर क्रमशः भौतिकशास्त्रका अधिकार जमनेके कारण कोंटके मन पर भी उसका परिणाम हुआ अतः उन शास्त्रों-भौतिकशास्त्रों-द्वारा अज्ञेय ईश्वरको अमान्य ठहराकर कोंटने उसके स्थान पर जनताकी स्थापना की। इसके मतसे धर्मकल्पनाकी उत्क्रान्तिकी चार अवस्थाएं होती हैं। पहिली अवस्थामें मनुष्य, सृष्टिके कुछ स्थूल पदार्थोंको ही स्थूल रूपसे ईश्वर मानता है। यह चिन्ह पूजाकी अवस्था कही जा सकती है। दूसरी अवस्थामें अनेक देव-पूजा आरंभ होती है जिसमें मनुष्य स्थूल पदार्थोंको देव मानना छोड़कर सृष्टिके प्रत्येक पदार्थके अंदर भिन्न भिन्न देव मानने लगता है। तीसरी अवस्थामें सम्पूर्ण वस्तुओंमें केवल मात्र एकही ईश्वर है, इस प्रकार एक-देव-पूजात्मक कल्पना दृढ होती है और चौथीमें अखिल सृष्टि मानवीय कर्तृत्वके आधीन होनेके कारण मानवसमाज अथवा जनताही अंतिम श्रेष्ठ कल्पना मानी जाती है। कोंटके इस विचारमें दो दोष हैं। पहिला दोष यह है कि कोंट भौतिकशास्त्रसे अगम्य बातोंको नहीं मानता। मनका अस्तित्व, सद्गुणोंकी कल्पना, परिमाण शक्तिकी कल्पना स्थूल पदार्थ न होते भी भौतिकशास्त्रवादी मानते ही हैं फिर केवल ईश्वरकी कल्पनाको ही मान्य न करनेमें कोई कारण प्रतीत नहीं होता। दूसरा दोष यह है कि कोंट यह मानता है

कि मनुष्यका यह स्वभाव है कि जिन बातोंके रहस्यका उद्घाटन वह नहीं कर सकता उसका कर्तृत्व वह अपनेही सरीखी विशेष व्यक्ति पर लाद देता है। इस कारण पहिले तो देवत्वकी कल्पना उद्भव होती है और फिर जब पदार्थका रहस्य प्रगट हो जाता है तब वह कालांतरमें नष्ट हो जाती है। परमेश्वरकी कल्पना भी इसी प्रकार की है और वह कालांतरमें नष्ट होनाही चाहिये। परंतु कैंटके नियमोंके द्वारा ही ईश्वरकी सिद्धि होती है। क्योंकि प्राणोत्पत्तिके समान सृष्टि चमत्कारोंके रहस्यका न तो स्फोट हुआही है और न भौतिकशास्त्रोंके द्वारा हो सकता ही है अतः ऐसे कार्योंमें परमेश्वरके समान श्रेष्ठ कर्तृत्व शक्तिकी कल्पना करना अपरिहार्य हो जाता है।

इस प्रकार कैंटके दोष दिखलानेके पश्चात् ईश्वर सिद्धिके पक्षमें कुछ प्रमाण दिये हैं। ये प्रमाण तीन प्रकारके हैं और परस्पर पूरक हैं। पहिला प्रमाण 'कारण वाद' है इसके द्वारा सिद्ध किया गया है कि जगत्का कोई न कोई कारण होना ही चाहिये। दूसरा प्रमाण कर्तृवाद है। इसके द्वारा यह सिद्ध किया है कि वह कारण जड़ नहीं हो सकता। किंतु कर्तृत्वशक्ति युक्त ही होना चाहिये। फिर तीसरे स्वरूपवादके द्वारा इस कर्तृत्व शक्तिके स्वरूपकी चिकित्सा की गई है और इस प्रकार इन तीनों प्रमाणोंसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध किया गया है।

परमेश्वरका अस्तित्व सिद्ध करनेके पश्चात् तीसरे प्रकरणमें धर्मसाधनका विचार किया गया है। धार्मिक कल्पनाकी जड़में रहनेवाले आदितत्वकी कल्पनासे संबंध रखने वाली उपपत्तियोंकी चिकित्सा की गई है। एक पक्ष कहता है कि धर्म, श्रद्धाका विषय है। श्रद्धाके बिना धर्मकल्पना साध्य नहीं। इस मतकी पुष्टिमें मेक्समूलरके वचन उद्धृत किये गये हैं। दूसरी उपपत्ति यह है कि धर्म बुद्धि विषयक है। बुद्धिसे अग्राह्य कल्पनाओंको जब हम व्यवहारमें असंस्कृत ठहराते हैं तो धर्मके संबंधमें वह तत्व असत्य कैसे माना जा सकता है? इस उपपत्तिके संबंधमें लाइबनिट्झका कथन उद्धृत किया गया है। तीसरी उपपत्ति यह है कि धर्म, मनोविकार अथवा भावनाका विषय है। इस मतका पुरस्कर्ता श्लिआक है। इस प्रकार भिन्न भिन्न विचारोंका दिग्दर्शन कराके यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्मको बुद्धि, श्रद्धा और भावना इन तीनोंका योग्य परिमाणमें आधार होता है। फिर धर्मेतिहासका परीक्षण कर प्रत्येक कालकी धर्म-कल्पना उस कालकी परिस्थि-

तिकी निदर्शक होती है यह सिद्ध किया है। परिस्थिति पर धर्म-कल्पनाके अवलंबित रहनेकी जड़में जो तत्त्व होता है उसे प्रतिबिंब कहते हैं। प्रत्येक समाजकी सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक कल्पनाएँ उस समाजके धर्मके स्वरूपमें प्रतिबिंबित होती हैं। इसेही प्रतिबिंब तत्त्व कहते हैं। देशप्रधान देवता, स्थलप्रधान देवता, जातिप्रधानदेवता, पूर्वजोंकी निदर्शक देवता, आदि अनेक प्रकारकी देवताओंकी कल्पना इस तत्त्वका उदाहरण है। धर्मकी जड़में रहा हुआ दूसरा तत्त्व समीकरण-तत्त्व है। इस तत्त्वका स्पष्टीकरण पहिले कर आये हैं।

धर्मका अंत तत्त्वज्ञानमें होता है। स्थूलका त्यागकर सूक्ष्मकी खोज करनेवाली बुद्धिको धर्मसे संतोष न होनेके कारण वह बुद्धि तत्त्वज्ञानमें प्रवेश करती है। इस संबंधमें यह मीमांसा की गई है कि सृष्टिके आदितत्त्वका और मनुष्यमें रहनेवाले अक्षय-तत्त्वका परस्परमें क्या संबंध है?। फिर यह वर्णन किया गया है कि मनुष्यकी स्वातंत्र्यप्रिय बुद्धि अपने पूर्ण समाधानार्थ, सलोकता, समीपता और सरूपताकी सीढ़ियों पर क्रमशः चढ़कर अंतमें दोनोंका पूर्ण तादात्म्य सिद्ध करनेवाली सायुज्यताकी कल्पनामें किस प्रकार विरामप्राप्त करती है।

इसप्रकार धर्मतत्त्वकी चिकित्सा करनेके बाद समाजों पर धर्मका परिणाम क्या होता है? इसका विचार किया गया है। मानसिक दृष्टिसे देखते धर्मके द्वारा चित्तको शांति प्राप्त होती है। यह धर्मका पहिला परिणाम है। दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यके अंतःकरणमें जो दया, परोपकार, प्रेम आदि भावनाएँ होती हैं वेभी धर्मकी कल्पनासे पुष्ट होजाती हैं। गीतामें स्त्री-प्रेमको "धर्माविरुद्धो कामोस्मि भूतेषु भरतर्षभ," कहकर धर्मका आधार दिया है। धर्मका तीसरा परिणाम यह है कि उसके कारण जगत्के अनेक प्रकारके व्यापारोंकी चंचलतामें भी एक प्रकारकी स्थिरता दिखलाई पड़ती है। चौथा परिणाम यह है कि धर्मके कारण मनुष्यको उद्योग, प्रवृत्ति और कर्म मार्गमें प्रोत्साहन मिलता है। क्योंकि 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं' यह धर्मका उपदेश है।

इस प्रकार धर्मके नैतिक और मानसिक परिणाम हैं। व्यवहारमें धर्मका बहुत कुछ उपयोग नहीं होता तोभी व्यवहार करनेवाले मनका नियमन करनेके

लिये इसकी आवश्यकता अवश्य है, यह इस प्रकरणके अंतमें निश्चित किया गया है।

इस परिच्छेदके चौथे प्रकरणमें राज-कारणका विचार किया गया है। अरिस्टाटलका कथन है कि मनुष्यप्राणी राजकारणप्रिय प्राणी है ऐसे मनुष्योंका कुछ विशिष्ट तत्वोंपर एकीकृत हुआ समाजही राष्ट्र कहलाता हैं। राष्ट्र बननेमें छहगुणोंकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पहिला गुण लोक-संख्याका विशिष्ट प्रमाणमें होना है। दूसरा गुण विशिष्ट-भूमिप्रदेश है। इस प्रकारके भूमिप्रदेशके रक्षणार्थ उत्पन्न होनेवाले अभिमानके कारण राष्ट्रीयभाव-नाका अत्यंत परिपोषण होता है। तीसरा गुण सामान्य-हितमूलक ऐक्यका होना है। प्रत्येकका व्यक्तिगत स्वार्थ तो होताही है परंतु उसके सिवाय सामान्य हितके एकीकरणकी राष्ट्रमें आवश्यकता होती है। चौथा गुण शासित और शास्ताका भेद होना है। शास्ताओंके भेदसे ही राज्य-शासन-पद्धतिमें भेद होता है। ये पद्धतियाँ राजसत्ता, अभिजनसत्ता, अल्पसंख्याक-राजपद्धति और लोकसत्ताक पद्धतियोंके नामसे उल्लिखित होती हैं। राष्ट्रका पाँचवाँ गुण राष्ट्रकी रचनाका सदेह अथवा सेन्द्रिय प्राणियोंके समान होना है। शरीरके अवयव कार्यभेदसे परस्परमें भिन्न होते हुए भी अवयवभावसे शरीर ही है उसी प्रकार राष्ट्रके भिन्न भिन्न विभाग राष्ट्रपुरुषके अवयव ही हैं। छठवाँ गुण राष्ट्रमें एक विशिष्ट कल्पनात्मक प्राणका होना है। यह प्राण भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न होता है। इस प्रकार वर्णन किया गया है।

इन छह गुणोंसे युक्त समाज ही राष्ट्र कहलाता है। इस प्रकार राष्ट्रकी मीमांसा करनेके बाद हिंदुस्थानके राजकीय अनुशासनकी पद्धतिके इतिहासका अवलोकन किया गया है। वैदिक कालमें केवल बल सामर्थ्य पर राजपद माना जाता था। वैदिक कालके पश्चात् स्मृतिकालमें राज्योंमें सुव्यवस्था हो जाने पर अनुशासनका प्रश्न उपस्थित हुआ। और जिस राजाके पदका प्रजा रक्षण करना ही श्रेष्ठ-धर्म प्राचीन कालसे माना जाता था उसके अधिकार राजसभा और मंत्रिमंडलके द्वारा नियंत्रित किये गये। इस भाँति इतिहासका अर्वाचीनकाल पर्यंत परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान कालका ध्येय सुराज्यका होना ही है। इस इतिहासके अवलोकनसे यह भी अनुमान निकाला गया है कि हिंदुस्थानमें ऐसी कोई राज्यपद्धति प्रचलित

होनेका उदाहरण इतिहासमें नहीं है जिसमें लोकसत्ताको स्थान मिला हो अथवा राजकीय अनुशासनके महत्त्वके प्रश्न लोकमत पर अवलंबित रहे हों।

पश्चात् पाश्चात्य देशके राजकारणकी कल्पनाके इतिहासका अवलोकन किया गया है। जिसमें राजाको ईश्वरका अंश माननेकी 'Divine Rights of Kings' उपपत्तिसे प्रारंभ कर राजाकी सत्ताका उगमस्थान प्रजा ही है परंतु प्रजाने यह अधिकार राजाको सदाके लिये दे डाला है, इस उपपत्ति तकका वर्णन किया गया है। फिर इस मतके बाद उत्पन्न होनेवाली इस कल्पनाका विवेचन किया गया है कि जब कि राजा, प्रजाका प्रतिनिधि है तो वह अपनी सत्ताके संबंधमें प्रजाको जवाबदार भी है। अंतमें पाश्चात्य देशकी इस कल्पनाका वर्णन कर कि राजा और प्रजामें जो संबंध है वह करारके तौर पर है और इस कारण अधिकारका अतिक्रमण होनेसे प्रजा अपने दिये हुए अधिकार राजासे पीछे ले सकती है, अब तक होनेवाली राजकीय कल्पनाकी उत्क्रान्तिका विवेचन किया गया है।

इसके बाद राजकीय अनुशासनकी दृष्टिसे अधिकारारूढ़ पक्षको दो भागोंमें विभाजित किया है। पहिला अभिजनसत्ताक विभाग, दूसरा लोकसत्ताक विभाग। और फिर इन दोनों विभागोंके गुणावगुणका विवेचन किया है। इसमें प्रथम अभिजन सत्ता पर विचार किया गया है। और यह बतलाया है कि इस सत्ताका आधार विषमता होनेके कारण, समताके तत्त्वपर प्रतिष्ठित लोकसत्तासे इसमें तत्त्वतः भेद है।

इसके पश्चात् सत्यान्वेषणकी दृष्टिसे अभिजन सत्ता पर कौन कौनसे आक्षेप होते हैं इसका विचार किया गया है। ऊपर बतलाये अनुसार पहिला आक्षेप इस पद्धति पर यह है कि यह सदा विषमताके तत्त्वको मान देती है। जिससे समाजका एक भाग हीनस्थितिमें रहता है। और दूसरा भाग प्रभावशाली बना रहता है। हीन स्थितिमें रहनेवाले पहिले भागमें स्वत्वके लयमें अविश्वास, खुशामद, अनीति आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि हो जाती है और दूसरे प्रभावशाली भागमें उद्धतता, अभिमान, दूसरोंके अधिकारोंका अतिक्रमण करनेकी दुर्वासना आदि दुर्गुण बढ़ जाते हैं। और इस कारणसे समाज उन्नतिकी ओर न जाकर अवनतिकी ओर जाने लगता है। दूसरा आक्षेप यह है इस राज्यपद्धतिके कारण समाजमें अज्ञानकी बढ़वारी होती है क्योंकि साधारण जनताको अज्ञानमें ही रखना

यह पद्धति उत्तम समझती है। ताकि उसे अपने अधिकारोंका ज्ञान न होने पावे । और अज्ञान सदा अवनतिका कारण होनेसे इस प्रकारकी राज-सत्ताके शासनमें समाजकी अवनति ही होती है । तीसरा आक्षेप यह है कि समाजका श्रेष्ठ भाग आलस्यमें रहता है। दूसरोंके श्रमसे उदरपोषण होनेकी उस भागको आदत होनेसे समाजमें उत्साहशून्यता, शौर्यहानि, बुद्धिमांद्य, कर्तव्यविस्मृति, दुर्गुणप्रवृत्ति आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे समाजमें घुन लग जाता है अतः उस समाजके नाश होनेका अवसर प्राप्त होता है । इस प्रकार अभिजनसत्ताक पद्धतिके दोष बतला कर लोक-सत्ताक पद्धतिके गुणोंका वर्णन किया है और दिखलाया है कि इस पद्धतिसे समाजमे समता, पारस्परिक प्रेम, स्वतःके अधिकारोंका ज्ञान, दूसरोंका अधिकार-हरण न करनेकी सावधानी, ज्ञानकी वृद्धि, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणोंकी वृद्धि होती है ।

इसके बाद लोकसत्ता पर होनेवाले आक्षेपोंकी परीक्षा की गई है। पहिला आक्षेप यह है कि इस पद्धतिके कारण एक व्यक्ति अथवा अल्पसंख्याक व्यक्ति-समूहका समाजकी साधारण जनता पर दबाव रहता है । जिन समाजोंमें भेदोपभेद अधिक हैं उनकी व्यक्ति पर अपने अपने वर्गोंकी उच्च व्यक्तियोंका ही दबाव रहता है परंतु भेदोपभेद नष्ट हो जाने पर उन श्रेष्ठ व्यक्तियोंका प्रभाव भी नष्ट हो जाता है और सम्पूर्ण समाजका प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। परंतु यह शंका केवल सन्दुच्छक है । क्योंकि लोकसत्तामें प्रत्येकको समाजमत बनानेके काममें कार्यभागी हो सकनेकी छूट होनेके कारण अपने ही द्वारा बनाये हुए लोकमतका दबाव अपने ऊपर पड़ता है, यह कहना अपने कंधों पर आप बैठनेके समान हास्यास्पद है । लोकसत्ता पर दूसरा आक्षेप यह है कि इस प्रकारके शासनमें सम्पूर्ण व्यक्ति समान मानी जानेके कारण आचार, विचार व कल्पना आदिमें भी समानता हो जाती है और ऐसी अवस्थामें यदि कोई व्यक्ति बुद्धि अथवा पराक्रमसे श्रेष्ठ हुई तो उसे रोकने-वाली कोई शक्ति न होनेसे उसके अनियन्त्रित हो जानेकी सम्भावना है। इसका उत्तर यह है कि जिस समय समाज अशिक्षित होता है उस समय अधिकारारूढ बुद्धिमान् पुरुषोंकी बन आती है। परंतु समाजके सुशिक्षित और निजाधिकार-रक्षणमें तत्पर होने पर व्यक्तिविशेषके श्रेष्ठता पर पहुँच जानेपर भी वह अपने अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं कर सकती । क्योंकि

यह जानती है कि जिसने मुझे श्रेष्ठ पद पर बिठलाया है वह मुझे उतार भी सकता है। इसके बादका आक्षेप ऊपरके सब आक्षेपोंसे विरुद्ध है। वह आक्षेप इस प्रकार है कि सब प्रकारसे समानता होने पर समाजको स्फूर्ति देनेका काम कौन करेगा? और वह न होनेसे समाज कभी आगे न बढ़ सकेगी। जिस देशमें बड़े पुरुष नहीं हैं उसका इतिहास भी महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि किसी भी राष्ट्रका इतिहास, उस राष्ट्रके महान् पुरुषोंकी चरित्रमालिका है। इस आक्षेपका निरसन इस प्रकार है कि लोकसत्तामें कोई महान् पुरुष उदयमें नहीं आवेगा, यह कल्पना ही झूँठी है। गत आक्षेपके उत्तरमें यह कहा गया है कि पराक्रमसे उदयको प्राप्त हुआ पुरुष लोकसत्ताके समयमें अत्याचार न कर सकेगा, इस कथनका यह प्रयोजन नहीं है कि कोई महान् व्यक्ति लोकसत्ताक-शासनमें उत्पन्न ही नहीं होगी। लोकसत्ता पर चौथा आक्षेप यह है कि इस शासनमें बदमाशोंको (Demagogue) बहुत अवसर मिलता है। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थ-पर लच्छेदार भाषणोंका पर्दा डाल कर सामान्य लोगोंको फँसा सकते और अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते हैं। परंतु आक्षेपक लोग यह भूल जाते हैं कि जिस राज्यपद्धतिका यह तत्त्व है कि लोगोंमें मत देनेकी बुद्धि हो उसमें मतदार ऐसे बदमाश लोगोंकी बातोंमें कभी नहीं फँस सकेगा।

इस प्रकार राजकीय दृष्टिसे होनेवाले लोकसत्ता परके आक्षेपोंका निरसन करनेके बाद दूसरी दृष्टियोंसे होनेवाले आक्षेपोंका दिग्दर्शन किया है। अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे इस पद्धति पर यह आक्षेप है कि इस पद्धतिके शासनमें पूँजीवाले लोग, यांत्रिक शोधकी प्रगतिके कारण अधिक संपत्तिवान अतएव बलवान बन जावेंगे और गरीब लोग अधिक गरीब होंगे। परंतु इसका उत्तर यह है कि लोकसत्तामें साधारण जनताके हाथमें कानून होनेके कारण संपत्तिकी बँटनी समानताके तत्त्वों पर करनेकी सामर्थ्य भी जनतामें होती है अतएव इस भयको स्थान नहीं मिल सकता।

नैतिक दृष्टिसे भी लोकसत्ता पर एक आक्षेप यह किया जाता है कि व्यक्तिकी नीतिमत्ता और शिष्टाचार ठहरानेका काम समाजके हाथमें होनेसे व्यक्ति-स्वातंत्र्य नष्ट हो जाता है। परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। क्योंकि लोक-सत्तामें समाजकी नीतिमत्ता, सद्गुण और सुशिक्षण पर अवलंबित होनेसे व्यक्ति पर अयोग्य दबाव पड़नेकी आपत्ति हो नहीं सकती। और

समाजका योग्य—उचित—दबाव रहनाही चाहिये, यह पहिले ठहराया जा चुका है। इसके बाद एक सामाजिक-आक्षेप यह है कि अभिजनसत्तामें ऐश्वर्य और सत्ताके प्रदर्शन करनेके जो विविध-प्रसंग प्राप्त होते हैं वे इस पद्धतिके कारण नष्ट हो जाते हैं जिससे समाजमें चहल पहल न रह कर उदासी और एकविधता प्राप्त होती है। इसका उत्तर यह है कि बुद्धिविषयक प्रसंग निर्माण कर उनमें आनंद प्राप्त करना ही सुशिक्षित समाजको प्रियकर होता है। और यह मान भी लिया जाय कि कदाचित् आनंद और विविधताके प्रसंग लोकसत्तामें कम आवेंगे तो भी अभिजनसत्तामें जिन प्रसंगोंमें लोग गुलामके समान समझे जाते हैं उन प्रसंगोंसे भला उन्हें आनन्द कैसे हो सकता है? पीठ पर शक्करकी बोरी लादे हुए गधेको शक्करका मजा ही क्या मिल सकता है?।

इस प्रकारके स्फुट आक्षेपोंका संपूर्ण निरसन कर यह सिद्ध किया है कि लोकसत्ता ही राजकीय दृष्टिसे नियमबद्ध व्यक्तिस्वातंत्र्यका अंतिम ध्येय होनेके कारण सुधारणाकी सर्वोत्तम अवस्था है।

इस प्रकार तृतीय परिच्छेदमें सुधारणाकी कसोटी पर कस कर मानवीय व्यवसायोंके सर्व अंगोंकी परीक्षा की गई है। फिर चतुर्थ परिच्छेदमें किये हुए विवेचनका उपसंहार किया है। इस परिच्छेदके पहिले प्रकरणमें सुधारणाकी उपपत्तिकी भिन्न भिन्न विवेचकोंने जो चिकित्सा की है उसका पूर्ववृत्त दिया गया है। और उसमें प्रथम ही कॅटकी उपपत्ति पर विचार किया है। इस उपपत्तिमें यद्यपि भौतिक शास्त्रका पूर्ण और मानसशास्त्रका बहुत कुछ अभ्यास किया गया है तो भी नैतिक परिस्थिति और तत्त्वज्ञानकी उपेक्षा करनेके कारण यह उपपत्ति अपूर्ण ही रह गई है। इस विषयका बहुत कुछ विवेचन गत प्रकरणोंमें किया जा चुका है। इसके बाद गिज़ोकी उपपत्तिका विचार किया है। इस विद्वानके विवेचनमें ऐतिहासिक प्रसंगोंकी छानबीन भिन्न भिन्न शास्त्रोंके नियमोंकी पद्धतिसे की गई है। परंतु अपने विवेचनसे निकलनेवाले सिद्धान्तोंका और तत्त्वोंका स्वतंत्र विचार इसने नहीं किया। अतएव निकषणके रूपसे इस विद्वान्के विवेचनका मूल्य बहुत कुछ कम हो गया है यह दिखलाया है। तीसरा विवेचक बकल है। इसने गिज़ोकी अपेक्षा अधिक शास्त्रशुद्ध रीतिसे विचार किया है। इसने यह निश्चित किया है कि सुधारणाका नियामक-तत्त्व आधिभौतिक

शास्त्र है। परन्तु भौतिक-शास्त्रकी दुर्बलता पीछे सिद्ध की जा चुकी है उसके अनुसार यह शास्त्र सुधारणाके मंदिरकी नींव कभी नहीं माना जा सकता। कार्लाइलने इसके विरुद्ध केवल आत्मिक उन्नतिको ही सुधारणाका नियामक-तत्त्व माना है और आत्मिक उन्नतिके आदर्श पुरुषोंके पश्चिममें संस्कृतिके तत्त्व मिलनेका सिद्धान्त निकाला है। परंतु हेतु और युक्तियोंसे यह सिद्ध किया गया है कि वर्तमान आधिभौतिक परिस्थितिही सुधारणाका नियामक-तत्त्व है। परन्तु कार्लाइलने इस तत्त्वपर ध्यान तक नहीं दिया है। इस कारणसे उसकी उपपत्तिको एक प्रकारसे स्वप्न-कल्पनाका रूप प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार नाटक देखनेसे किसीको उपदेश नहीं मिलता या उपदेश मिलनेपर भी तदनुसार व्यवहार करनेकी प्रेरणा नहीं होती उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितिमें कार्लाइलकी विभूतिकी लीलासे भी कुछ उपदेश प्राप्त नहीं होता अथवा स्फूर्ति नहीं आती। इसके बादकी बहुत कुछ व्यापक योजना हर्बर्ट-स्पेन्सरकी है। इस विद्वानने सरलको कठिन, विसंगतको सुसंगत और एकको अनेक करनेवाले उत्क्रान्तिवादसे ही सुधारणाका गोरख धंधा सुलझानेका प्रयत्न किया है। परंतु इसकी उपपत्तिमें दो दोष हैं। एक दोष तो यह है कि इसने इच्छाशक्ति-प्रेरित केवल मानवसमाजका विचार न कर सम्पूर्ण स्थूल सृष्टिका विचार किया है जिससे इसकी उपपत्ति मानवसुधारणाकी दृष्टिसे बिना प्रयोजनही व्यापक बन गई है। दूसरा दोष यह है कि इसकी उपपत्तिमें सूक्ष्म-सृष्टिको बिल्कुल अवकाश नहीं है। कुछ थोड़ेसे फरकसे ऐसा ही प्रयत्न जर्मन विद्वान् हेगेलने किया है। अंतर यही है कि स्पेन्सरने जिस उत्क्रान्तिवादके द्वारा स्थूल सृष्टिका विचार किया था उसी उत्क्रान्तिवादके द्वारा इसने केवल विचारसृष्टिका ही विचार किया। इससे एक तो इसकी उपपत्ति अधिक व्यापक हो गई, दूसरे उसमें केवल विचारसृष्टिका ही संबंध रहनेके कारण वह पूर्ण न हो सकी। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रसिद्ध ग्रंथकारोंकी उपपत्तियाँ सदोष होनेके कारण शास्त्रशुद्ध और सर्वांगीण उपपत्तिके लिये अभी स्थान है और उसे ढूंढनेका इस ग्रंथ द्वारा प्रयत्न किया गया है, यह सिद्ध किया है।

चौथे परिच्छेदके दूसरे प्रकरणमें सुधारणाके मुख्य मुख्य अंगोंका पृथक् पृथक् वर्णन कर सुधारणाका व्यापक स्वरूप दिखलाया गया है। इस प्रकरणमें वर्तमान परिस्थिति, आधिभौतिक शास्त्र, धर्म और तत्त्व ज्ञानरूप सुधा-

रणाके चार अंगोंका और उनके कार्योंका स्वतंत्र दिग्दर्शन कराया गया है। फिर तीसरे प्रकरणमें इन चारोंके परस्परमें एक दूसरे पर होनेवाले परिणामोंका वर्णन किया गया है। इस वर्णनमें यह दिखलाया गया है कि वर्तमान-परिस्थिति, सुधारणारूपी यंत्रमें पक्का माल बननेके लिये लाया हुआ समाजरूपी कच्चेमालका मूलस्वरूप है। जब यह समाजरूपी माल पहले पहले आधिभौतिक शास्त्र-रूपी चक्रकी गतिमें पहुँचता है तब इसका रूप बहुत कुछ बदल जाता है। इसी समय भौतिकशास्त्रोंपर धर्मचक्रका परिणाम होता है जिससे भौतिक-शास्त्रकी गतिका नियमन होता है और भौतिक शास्त्रका धर्मचक्र पर प्रभाव पड़ता है जिससे धार्मिक कल्पनाएं बदल जाती हैं। अन्तमें तत्त्वज्ञानके द्वारा समाजको वास्तविक रूप प्राप्त होता है परंतु इस दशाको सब नहीं पहुँच पाते। थोड़ीसी व्यक्तियोंके सिवाय बाँकीपर केवल तीनों चक्रोंका ही परिणाम होता है। इसका स्पष्ट भाषामें सार इतना ही है कि साधारण जनसमाज धर्मकल्पना तक ही पहुँच पाता है और तत्त्वज्ञान तक केवल विचारवान् और बुद्धिमान् लोगही आ सकते हैं।

इस प्रकार इस ग्रंथका स्वरूप है। अबतक किये हुए विवेचनका सारांश सूत्ररूपसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि "सुधारणाके तत्त्व जाननेका साधन कोई एक शास्त्र न होकर सर्व शास्त्रोंके नियमोंका एकीकृत प्रमाण ही है। और अवास्तविक सामाजिक बंधनोंको तोड़कर व्यक्तिको उत्कर्षकी ओर जानेके लिये स्वतंत्रता देना ही सुधारणाका साध्य है। परंतु व्यक्तिको स्वच्छंद नहीं होने देनेके लिये उस पर समाजकी संकलित सदसद्विवेक बुद्धिका अथवा नीतिनिर्बंधनोंका दबाव रखकर उसे प्रगतिकी ओर लेजाना सुधारणाका मार्ग है। इस मार्गकी गतिका नियमन करनेवाली वर्तमान भौतिक परिस्थिति होती है और उसका श्रेष्ठ कर्तव्यकी सहायतासे समीकरण करनेसे मार्गके विघ्न दूर हो जाते हैं। सुधारणाके परआवश्यक वर्तमान परिस्थिति, आधिभौतिक शास्त्र, धर्म और तत्त्वज्ञान ये चार हैं। इनके एक दूसरे पर होनेवाले परिणामोंसेही समाजको संस्कृतिकी साध्य स्थिति प्राप्त होती है।

पाश्चात्य और पौर्वात्य, स्थूल और सूक्ष्म, व्यावहारिक और तात्त्विक, आधिभौतिक और आधिभौतिक, कर्तव्यपूर्ण और कल्पनामय, ऐसी द्विविध संस्कृतियोंका एकत्र मिलन होकर उसमें दोनोंके गुणोंका मिश्रण और दोषोंका ह्रास होना असम्भव नहीं है। और ऐसा प्रयत्न करनेके लिये पूर्व और

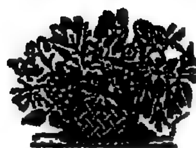
पश्चिमके संयोगके कारण सुलभता भी प्राप्त हो गई है। "Too far West is East" अर्थात् पश्चिमदिशाकी ओर अधिक अधिक जानेसे पृथ्वी गोल होनेके कारण मनुष्य पूर्वको पहुँच जाता है, यह तत्त्व जिस प्रकार स्थूल दृष्टिसे ठीक है उसी प्रकार तत्त्व दृष्टिसे भी ठीक है। इसपरसे दोनोंमें तात्त्विक भेद न होकर अवस्था भेद ही है, यह सिद्ध होता है। हमारी अंतःकरणसे भावना है कि यह प्राची प्रतीचीका संयोग एकको कर्तव्यदक्ष और दूसरेको आत्मदक्ष बनाते हुए दोनों समाजोंको संस्कृतिकी साम्य स्थितितक पहुँचावे।

समाप्त।



सूचीपत्र ।





शुद्धाशुद्धि पत्र

—:o:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५ वि. प.	१०	उसके	उसके लिए
७ "	३	व्यक्ति	व्यक्तिके
११	७	निश्चित	निश्चित नहीं
१६	२७	Hegels	Schlegel's
१६	२८	यह	•
३१	१६	स्पष्ट	स्पष्ट
३६	१७	में	है
५१	२५	शब्दके शुद्धाशुद्धके	शब्दकी शुद्धाऽशुद्धिके
"	२७	भलेबुरे	भले बुरेपन
५६	१२	आश्रय	आश्रय न
६०	८	ही तत्व	हीनत्व
६२	१५	भवभूति	कालिदास
७०	४	Indnction	Induction
७२	६	एक	उस
७३	१३	वे	वे एक
"	२५	(Great,	महान् (Great,
८०	१५	फिर चारे	—फिर चाहे
९६	१३	आकर्षण	अपकर्षण
१०३	१८	शब्दोंको	शब्दोंके लिए
१०५	१६	नियत कर	नियत कर देते हैं।
११०	२५	अतरग	अतद्
१२०	१०	जाति वर्ग	जाति व वर्गकी
१२८	१२	इनमें	इनमें आपसमें
१४६	१०	उरती	उतरती

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४८	२१	रुपं	रुपये
१४९	४	"	"
१५२	१६	उसकी	उनकी
१५३	१६	मानी जाती है	मानता है
१६०	२३	अपरिहार्यकी	अपरिहार्य
१६८	१९	हीनमान	हीनयान
१६९	४	आदर पूर्व	आदर पूर्वक
१७०	६	समानाधिकरणसे	समानाधिकरणसे शुरू
१७५	२०	प्रताप	प्रपात
१८७	१२	पीठकर	पीठपर
१९८	४	प्राणी सृष्टिके लिए	प्राणी सृष्टिकी विशेषताएं
२११	१	अगर	और
२२१	२८	थोड़पे	थोड़से
२२४	११	चंभार	चम्हार
२४२	२	पद्यपि	यद्यपि
२४६	१०	गर्व	वर्ग
२४७	४	यह	उसके



श्रीमान् झालावाड़ नरेश द्वारा संरक्षित

श्री राजपूताना हिन्दी-साहित्य सभाका

हिन्दी प्रेमियोंसे निवेदन !



जहाँ नहीं साहित्य नहीं आदर्श वहाँ है,
जहाँ नहीं आदर्श वहाँ उत्कर्ष कहाँ है।

वास्तवमें साहित्य देशका प्राण है, उसका जीवन है और उसके अस्तित्वको कायम रखनेका प्रधान स्तम्भ है। प्रत्येक देशकी उन्नति और अवनतिका सारा दारोमदार साहित्य पर है। आप देखते हैं कि जिस देशने तरक्की की है, जो जाति ऊपरको उठी है, वह सब साहित्यके बल पर हुआ है। प्रमाणस्वरूप पाश्चात्य देशोंको एक सिरेसे दूसरे सिरे तक देख जाइये। आप देखेंगे कि भारतकी अवनतिका प्रधान कारण साहित्यकी अवनति है। जो भारत सारी दुनियाँका साहित्य-शिरोमणि था, जिसमें अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रम, और भोज जैसे विद्या-रसिक भूपाल हुए; जो व्यास, वाल्मीकि, सूर, तुलसी, भूषण, चन्द, कपिल, कणाद, कालिदास, दण्डी, श्रीहर्ष, जिनसेन, उमास्वामी और शंकर जैसे महाऋषियोंका जनक रहा, अफसोस ! आज वही भारत अवनतिके गहरे गर्तमें गिरा जारहा है। मगर, सच पूछिये तो इसके उन्नत होनेका समय अभी आया है। स्वर्गीय महात्मा तिलकका कहना है कि यदि किसी राष्ट्रके मार्गमें कठिनाइयाँ नहीं आवें, तो वह कदापि उन्नत नहीं हो सकता। जब कोई देश नई हिलोरोंसे हिलने लगता है, जब कोई विजातीय सभ्यता उसकी प्राचीन सभ्यता और साहित्यसे टकराकर अपना अधिकार जमाना चाहती है, तभी देशमें प्रतिभाशाली आदर्श साहित्य-रथी जन्म लेकर अपने अपने राष्ट्रकर्मों और साहित्यकी रक्षा करते हैं। ठीक यही अवस्था

भारतकी राष्ट्रभाषा और ३० करोड़
हिन्दियोंकी मातृभाषा हिन्दी

की समझिये। अब तक माता पर बहुत प्रहार होते रहे.

पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थमालाओंका प्रकाशन, अनेक हिन्दी साहित्य प्रचारक संस्थाओंका स्थापन, और सुजान लेखकोंकी लेखनीका चमत्कार बतला रहा है कि हिन्दीका साहित्य शीघ्रही सर्वांग पूर्ण होगा। यह बड़े हर्षकी बात है। मगर फिर भी इसके प्रचार मार्गमें बड़े बड़े रोड़े अटकाये जा रहे हैं—साहित्यके नाम पर कूड़ा कर्कट इकट्ठा किया जा रहा है और वास्तव साहित्य-रुचि कुछ होती नहीं, यह कुछ अच्छा नहीं है। अस्तु इन्हीं सब बातोंको मद्दे नजर रखकर झालावाड़के हिन्दी-प्रेमी नरेश महाराजराणा सर श्री भवानीसिंहजी साहब बहादुर के सी एस. आई की सरक्षतामें—

श्री राजपूताना हिन्दी-साहित्य सभा

की स्थापना हुई है। राजपूतानेकी यह एक ही साहित्यिक संस्था है। इसके प्रधान उद्देश है—हिन्दी भाषाकी हर तरहसे उन्नति करना, और हिन्दी भाषामें व्यापार, वाणिज्य, समाजनीति, पुरातत्व, साहित्य, इतिहास, उपन्यास आदि विविध विषयों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित करना और सस्ते मूल्य पर बेचना। इसके लिये ॥) प्रवेश फी लेकर स्थाई ग्राहक बनाये जाते हैं, और उनको सभाकी प्रकाशित पुस्तकें पौने मूल्यमें दी जाती है। वी. पी खर्चा उन्हींके जिम्मे रहता है। इसके सिवा ५००) देनेवाले 'स्थाई सभ्य,' १००) देनेवाले ' जीवन सभ्य ' और ६) वार्षिक देनेवाले ' साधारणसभ्य ' समझे जाते हैं। इस समय हमें स्थाई ग्राहकोंकी विशेष जरूरत है। लेकिन अफसोस है कि सभामें इनकी सन्तोषजनक संख्या आज तक नहीं हुई है। जो सभा विराट आयोजनके साथ हिन्दीके साहित्यक्षेत्रमें उतरी है, जो सोते हुए राजपूताने हीको जगा देनेके लिये नहीं, बल्कि ३० करोड़ हिन्दुस्थानियोंमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न करने और उनमें नया जीवन फूंकनेके लिये कायम हुई है, उसके सिर्फ ३० स्थाई ग्राहक! और जिसमें भी राजपूतानेके सिर्फ तीन! बड़ी लज्जाकी बात है। अब आप खयाल कर सकते हैं कि जब स्थाई ग्राहकोंकी यह हालत है, तो बताइये सभा कैसे काम करके बतावे? प्रश्न तो यह उठाया जा रहा है और हमारी भी दिली ख्वाहिश है कि पढ़ाई का माध्यम हिन्दीमें हो, मगर जिन हिंदी भाइयोंमें हिंदी प्रचारकी बड़ी भारी आवश्यकता है और जिनमें यह सभा हिंदीका प्रचार करना चाहती है, उनकी तरफसे ऐसी उदासीनता हो तो किसके बलपर वह अपने उद्देशको पूरा करे? काम एकका नहीं

है—समस्त भारतीयोंका है। सभा आपकी है, किसी व्यक्ति विशेषकी नहीं। आइये मिलकर काम कीजिये-हमारा हाथ बँटाइये। सिर्फ—

आठ आने जमा करा कर

स्थाई ग्राहक बनना तो आपके लिये कोई बड़ी बात नहीं है। आप बन सकते हैं, और अपने इष्ट मित्रोंको भी बना सकते हैं। सभा भविष्यमें बड़े बड़े काम करके दिखाना चाहती है। यदि इसको १००० एक हजार भी स्थाई ग्राहक मिल गये, तो ऐसा काम—जो आज तक हिन्दीमें नहीं हुआ, यह करके बता देगी। पर आपकी सहायताके बिना कुछ नहीं होनेका। इसका भविष्य आपके हाथमें है। यदि आपको इसका जीवन सफल बनाना है, यदि आपको हिन्दी माताकी सेवा करके मातृऋणसे उऋण होना है, यदि आपको पाश्चात्य देशोंके सामने ऊँचा मस्तक रखना है, यदि आपको उचित स्वाधीनतापूर्वक जीवन व्यतीत करना है, यदि आपको अपने पूर्वजोंकी कीर्ति उज्ज्वल बनाना है, और यदि आप चाहते हैं कि हम, हमारी स्त्रियाँ, हमारी कन्याएँ, हमारे बालक, आदर्श रूप होकर संसारमें जीवन सफल कर सकें, तो उठ बैठिये और इस सभाके सभासद नहीं, तो स्थाई ग्राहक तो जरूर बन जानेकी कृपा कीजिये।

आपको उत्तमोत्तम साहित्य घर बैठे मिलेगा, आप उन्नत होंगे, फिर आपका गृह उन्नत होगा और यों प्रत्येक गृहस्थके उन्नत होनेसे भारत बातकी बातमें उन्नत हो जायगा। और फिर हम आप एक नयेही शान्तिदायी युगमें विचरण करेंगे। एवमस्तु।

सभाकी प्रकाशित पुस्तकें।



१ सरस्वतीचन्द्र।

यह वही गुजरातीके प्रसिद्ध उपन्यास-सम्राट्का अनुवाद है जिसकी जोड़का उपन्यास आजतक किसी भी देशभाषामें नहीं निकला है। इसे केवल घटना-वैचित्र्यका खजाना कहना भारी भूल होगी। बल्कि—आज कौनसी नीति है, कौनसा आदर्श है, कौनसा गुण है, कौनसी सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म भावना है, जो इसमें न आगई हो। कहना बस इतनाही है कि जिसने इस उपन्यासको नहीं पढ़ा, उसने मानों कुछ नहीं पढ़ा। मूल्य १॥।) सजिल्दका २।) पुस्तक अभी छपकर आई है।

२ राईका पर्वत।

मूल लेखक गुजरातीके साक्षर श्रीरमणभाई महीपतिराम नीलकंठ। भाषान्तर कर्ता 'काव्यालंकार' पं गिरिधर शर्मांजी नवरत्न। इस अपूर्व नाटकमें चरित्रकी उच्चता, स्वार्थ-त्यागका आदर्श और अनेक नीतियाँ इतनी खूबीसे ऐसी सूक्ष्म कल्पनाओं द्वारा दिखलाई है कि एकाएक दांतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है। प्रत्येक समाजके स्त्रीपुरुषोंको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए। पुस्तक हाल हीमें छपकर तैयार हुई है। मूल्य सादीका १॥।) सजिल्दका २।)

३ जयाजयन्त।

ले० गुजरातीके प्रसिद्ध नाटककार पं. नान्हालाल दलपतराम कवि। अनुवादक 'काव्यालंकार' पं. गिरिधरशर्मांजी नवरत्न। छपाई सफाई सुन्दर। मूल्य सादीका १।) सजिल्द १॥) स्वर्गीय भावोंका भंडार और भावुकोंका प्राण यह अपूर्व नाटक गुजरातमें इतना प्रसिद्ध है कि सारी गुजराती जनता इसकी स्वर्गीय भावनाओंपर जी—जानसे लट्टू है। कर्मनिष्ठा, आचारनिष्ठा, निःस्वार्थप्रेम, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और आत्मसंयमका इसमें ऐसा आदर्श और उच्च भावनाओंसे भरा-चित्र खींचा गया है कि कविकी अलौकिक काव्यप्रतिभा, समुज्वल भावपूर्ण कृति, वर्णनशैलीकी पटुता और कल्पना—कौशलके चमत्कारपर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। चरित्र—निर्माणके लिये यह बहुत ही आदर्श पुस्तक

है। जिस कविकी प्रतिभापर महात्मा गांधीजी तक मोहित है और जिनके वचनोंको नवजीवनमें स्वयम् प्रकाशित करते थे उसी डा रवीन्द्रनाथ टागोरकी उचसे उच कल्पनाओंसे भी उच विहार करनेवाले कवि नान्हालालकी यह अपूर्व कृति है। यदि आपको जीवनका आनन्द लेना है, सद्भावोंका विकास करना है और साहित्यकी उन्नतिमें हमारा हाथ बँटाना है, तो इस हिन्दी अनुवादको अवश्य पढ़िये।

"प्रताप," "कर्मवीर" आदि पत्रोंने इसकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। "विजय" की संक्षिप्त राय सुनिये।

. ... .. जयाजयन्तका चरित्र क्या है, हमारे प्राचीन आदर्शों, समाज-संगठन, चरित्रनिर्माण, सदाचार, ब्रह्मचर्य, पवित्रप्रेम, स्नेहलग्न, आत्मकर्म और उज्ज्वल चरित्रकी प्रति-मूर्ति है।—"विजय"

व्यावहारिक-विज्ञान।

(ले०—कृष्ण गोपाल माथुर)

आज कौनसा ऐसा काम है, जो विज्ञानके अज्ञानके बिना चल जाता हो। खाने, पीने, सोने, बैठने, चलने, फिरने, आदि प्रत्येक काममें विज्ञानकी जरूरत पड़ती है। फिलहाल हमारे लिये ऐसाही विज्ञान उपयोगी होगा, जो व्यावहारिक हो। ऐसे विज्ञानका ज्ञाताही भविष्यमें नवीन तत्वोंका आविष्कर्ता हो जाता है। इस पुस्तकके भिन्न भिन्न निबन्धोंमें व्यावहारिक और उपयोगी विज्ञानको ऐसी सरल, रोचक भाषामें समझाया है कि प्रत्येक बात आसानीसे समझमें आ जाती है। हिन्दीमें अपने ढंगकी यह एकही पुस्तक है। बड़े बड़े विज्ञान-विशारदोंके आविष्कारों, लेखों, ग्रन्थों और नोटोंसे इसके लिखनेमें सहायता ली गई है। छपाई, सफाई, सुन्दर, बढ़िया कागज, पृष्ठ संख्या २०३, मूल्य २० चित्रोंसे सुशोभित पक्की जिल्दका १) सादीका ११॥ कई पत्रोंने इसकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है। उनमेसे कुछ पत्रोंकी संक्षिप्त राय यहाँ दी जाती है।

......पुस्तकके कुछ अध्याय बड़े रोचक और उपयोगी है, "विज्ञान"

......यह विवेचन बहुत ही स्पष्ट, सरल और लाभप्रद है। हमने स्वयम् इन निबन्धोंको पढ़कर बहुतसी उपयोगी बातें जानी है। स्थान स्थान पर चित्र देकर विषय और भी स्पष्ट कर दिया है।......विज्ञानसे अनभिज्ञ व्यक्ति भी इस पुस्तककी बातोंको अच्छी तरह समझ सकता है। ..धर्माभ्युदय।"

......वैसे तो सभी विषयके लेख बढ़िया है, किन्तु ताडके रसकी खाड, जीवका जन्म और आकृतिके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध ज्योतिर्विज्ञानने फोटोग्राफी आदि लेख बड़े मार्केके हुए है ।.. ..." हिंदी चित्रमय जगत् "

There being very few works in Hindi for popularising scientific literature, this book though compiled from Bengali and Gujrati sources will be quite welcome to the general readers All the 19 topics are very well chosen and well written—"*The Modern Review*"

५ पार्लमेन्ट ।

ले०—बाबू सुपार्श्वदासजी गुप्त बी. ए. पृष्ठ सख्या २७५ छपाई सफाई—आला दर्जेकी, मूल्य सादीका ।।।=) सजिल्द १=) जिस पार्लमेंटके शासनमे हम रहते है, जिसके इशारेपर हमारे बनने और बिगड़नेका सारा दोरामदार है, वह ब्रिटिश पार्लमेंट है क्या चीज ? क्या आप इसको नहीं जानना चाहते ? हमारे खयालसे प्रत्येक स्वाभिमानी व्यक्ति इससे परिचित होनेकी इच्छा करेगा । इस पुस्तकमें ब्रिटिश पार्लमेंटका आदिसे अत तकका इतिहास, क्रमविकास, शासन पद्धति, उसके गुण दोष, और अन्य देशोंकी ऐसी ही सभाओंसे तुलना आदि कई उपयोगी बातोंका बड़ीही रोचकतासे खूब विस्तारके साथ निरूपण किया गया है । हिन्दी ससारमें इस निराली पुस्तकने हल चल मचादी है । थोड़ी प्रतियाँ रह गई है, मंगानेकी जल्दी कीजिये । भारतीय स्वराज्यके प्रेमी सज्जनोंको इसमे वे बाते मिलेंगी जिनका मूल्य ही नहीं हो सकता ।

कुछ सम्मतियाँः—

. ....हिन्दीमें यह पुस्तक बिल्कुल ही नई है, और बड़े महत्वकी है ।

—सरस्वती,

..........पार्लमेंटका ....यह क्रमविकासका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद है... ....इसको जानना भारतवासियोंका कर्तव्य है ।
" हिन्दी समाचार "

This book gives a constitutional history of Parliament and it will be certainly very useful to students of History readers and of newspapers as also to others —" *The modern ,Review* "

६ सर्वियाका इतिहास ।

लेखक—विविध भाषाओंके ज्ञाता महाराज राणा सर श्रीभवानीसिंहजी साहब बहादुर के० सी० एस्० आई० झालावाड़के प्रजाहितैषी नरेश । छपाई सफाई सुन्दर मू० ।~) इस ७५ सफेकी सचित्र पुस्तकमें महाराजने सर्वियाका ज्ञातव्य इतिहास इस खूबीसे लिखा है कि योरोपीय महायुद्धका रहस्यमय कारण और योरपकी ऐतिहासिक झलक आँखोंके सामने आ जाते हैं । जिस योरोपीय महायुद्धने सारे संसारको अशान्तिमें परिणत कर दिया और जिसका फल कमसे कम भारत तो वर्षोंतक भोगता रहेगा, क्या उसके आरंभका रोचक वृतान्त आप नहीं पढ़ेंगे ? अवश्य पढ़ेंगे । इस पुस्तककी कई पत्रोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है ।

...... इसके इतिहाससे बहुतसी बातें सीखी जा सकती हैं । उनमेंसे प्रधान बात यह है कि वीरजाति मौका मिलते ही अपनी खोई हुई मानमर्यादाको फिर अवश्य ही प्राप्त कर सकती है ।....... "सरस्वती"

७ स्त्री चरित्र–संगठन ।

ले०—बाबू दयाचन्दजी गोयलीय, बी ए । सुन्दर छपाई, रोचक भाषा । १११ पृष्ठ, मूल्य सादीका ॥) सजिल्दका ॥≈) जिन आदर्श नारियोंने सच्चे नर–रत्नोंको प्रसवकर भारतको सब देशोंका सिरताज बनाया था, उनकी आज यथा देखकर भारत दो दो आंसू बहा रहा है । स्त्रीशिक्षाकी आवश्यकता यद्यपि अधिकांश विचारशीलोंने समझ ली है, पर शिक्षा होनी कैसी चाहिये, उनको सीता, सावित्री जैसी आदर्श और चारित्र्यवान सतियाँ बनाई कैसे जानी चाहिये, और खास तौरपर गृहलक्ष्मीका पद उनको कैसे सार्थक करना चाहिये इन बातोंके जाननेकी बड़ी भारी जरूरत है । इस पुस्तकमें इन बातोंके मूल–चरित्र–निर्माणकी रीतियाँ बहुत ही अच्छे ढंगसे बताई हैं । कन्याओंसे लेकर वृद्धाओंतकके हाथोंमें यह पुस्तक जानी चाहिये । हिन्दीके नामी ९ पत्रोंने इसकी मुक्तकंठसे प्रशंसा की है ।

.... .इस पुस्तकमें वर्णित उपादानोंसे जिस भाग्यशालिनी स्त्रीका चरित्र संगठित होगा वह सचमुच आदर्श ही होगी.. ......" हिन्दी केसरी "

सभाकी अन्य पुस्तकें ।

(ले०—" काव्यालंकार " पं० गिरिधरशर्माजी ' नवरत्न ')

(जिनकी प्रशंसा प्रायः समस्त पत्रोंने मुक्तकंठसे की है)

१ शुश्रूषा ।

ले०—डा० गोपाल रामचन्द्र ताम्बे, M. A , B Sc , L M & S. भूतपूर्व स्टेट सर्जन इन्दोर । इसकी भूमिका प्रसिद्ध डा० सर राबर्ट महोदयने लिखी है । इसीसे अंदाजा लगाया जा सकता है कि रोगी-परिचर्याकी यह कितनी उत्तम पुस्तक होगी । मूल्य १)

२ अर्थशास्त्र ।

संसारमें मनुष्य कौड़ीके बिना " तीनकौड़ी " का है । यदि कौड़ीके अर्थसे परिचय करना है तो अर्थशास्त्र पढ़िये । मूल पुस्तक अजमेरके राजकुमार कालेजमें पढ़ाई जाती है । इसीसे इसकी उत्तमताका अनुमान हो सकता है । मूल्य सादी-का १।) सजिल्दका १॥)

३ कठिनाईमें विद्याभ्यास ।

अंग्रेजीमें इस पुस्तककी लाखों प्रतियाँ बिक चुकी हैं । बड़ी बड़ी कठिनाइयोंके रहते भी, जिनके हृदयमें विद्याके प्रति भक्ति होती है, वे किस तरह विद्वान बन जाते हैं, यह बात इस पुस्तकके ऐतिहासिक उदाहरणोंसे भलीभांति जानी जाती है । पुस्तकका दूसरा संस्करण प्रेसमें छप रहा है ।

४ पंच–स्तुति ।

हिन्दुओंके लिये पञ्चदेवोंकी बोल चालकी हिन्दीमें अपूर्व स्तुति । ऐसी स्तुति आजतक हिन्दीमें नहीं छपी है । मूल्य सादी ।) राज संस्करण ॥) ।

इनके सिवा 'नीति–प्रवेश' पुस्तक सभाके पास लिखी हुई तैयार है । यहभी मराठीमें सुप्रसिद्ध पुस्तक है । पुस्तक शीघ्र ही प्रेसमें जानेवाली है । नीति-विषयकी यह भी हिन्दीमें एकही पुस्तक होगी । अभीसे ग्राहकश्रेणीमें नाम